प्रकाशक :
कनकमल मुनोत
प. मुनि श्रीमल प्रकाशन
श्री वर्धमान श्वे. स्था. जैन श्रावक संघ
२५९/२ नाना पेठ,
जैन साधना सदन,
पूना २

मूल्य चार रुपए

वीर संवत् २४९४

मुद्रक :
ह. म. गाद्रे
साधना प्रेस
४३०-३१ शनवार पेठ, पूना २

इस पुस्तक में

जीवन

लोक वातायन

तवास्ति वृत्तं विदुषा वरेण्य !
समर्पितं ते हृदयाञ्जलिभ्याम् ।

मुनि समदर्शी
सम्पादक

विजय मुनि
लेखक

अपनी कलम : अपने विचार

पण्डित श्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व देश, काल, क्षेत्र एव परपरा की अपेक्षा से एक सीमा में, एक परिमित मर्यादा में रहा। उन के जीवन का उदय भारत के एक प्रान्त महाराष्ट्र में हुआ। उस में मी अहमदनगर जिले के तेल कुडगाँव में उन्हो ने अपनी जिन्दगी की पहली करवट ली, अपने जीवन की पहली साँस ली और वह भी एक समय विशेप में। आप के साधना जीवन का अरुणोदय भी एक सम्प्रदाय विशेष में हुआ। परन्तु आप का व्यक्तित्व एवं आप की साधना का स्रोत किसी राष्ट्र, प्रान्त, पन्थ, मत, सम्प्रदाय एवं परपरा के घेरे में आवद्ध नहीं था। उन का मन-मस्तिष्क एव विचार–चिन्तन साम्प्रदायिकता की छोटी-सी अंधेरी कारा में बन्द नहीं रहा और न उन्हो ने अपने विचारों पर किसी तरह के बन्धन को स्वीकार ही किया। विचार–चर्चा में एक बार उन्हो ने अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा– "विचार स्वातंत्र्य व्यक्ति का अधिकार है। प्रत्येक साधक को, चिन्तनशील विचारक को विचारो की, चिन्तन की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। उस का चिन्तन एकाङ्गी नहीं, सर्वाङ्गी और व्यापक होना चाहिए। किसी एक परपरा विशेष के खूंटे से बन्ध कर सोचना और उसी साम्प्रदायिक चश्मे से सब कुछ देखना, अपनी बुद्धि को कुण्ठित कर देना है। खूटे से पशु बान्धा जाता है, परन्तु चिन्तनशील मानव की बुद्धि, मानव का चिन्तन, मानव का विचार न कभी किसी भी परपरा के खूंटे से बन्ध कर रहा है और न कभी किसी साम्प्रदायिक संकीर्णता की चार दीवारी में सीमित रहा है, और न रहेगा।"

ज्ञान-साधना :

श्रद्धेय पण्डितजी न तो चिन्तन, विचार एवं अध्ययन पर प्रतिबन्ध पसन्द करते थे और न स्वयं किसी पर इस तरह का बन्धन लगाते थे। यही कारण है कि एक सम्प्रदाय विशेप में रहने पर भी उनके व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास हुआ। मैं ने देखा है-- उन का अध्ययन एवं चिन्तन केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों एवं आगमों तक ही सीमित नहीं था। जैन-आगम एवं जैन-दर्शन के अतिरिक्त आप ने बौद्ध-पिटकों, बौद्ध-दर्शन, बौद्ध-साहित्य और वैदिक दर्शन, सांख्य और योग-दर्शन, गीता आदि भारतीय-संस्कृति की तीनो धाराओ के अनेक ग्रन्थो का अनुशीलन-परिशीलन किया था। केवल प्राचीन विपयो का ही नहीं, अर्वाचीन विपयो का भी आपने गहन अध्ययन किया। राजनीति, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान साम्यवाद, गाधीवाद एवं सर्वोदयवाद के साहित्य का भी आपने मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया था। पण्डितजी महाराज का अध्ययन केवल पन्ने पलटने रूप नहीं होता था, वे उसकी गहराई में उतरने का प्रयत्न करते थे। उन के प्रवचनों, निबन्धो एव काव्यो का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन का ज्ञान एवं चिन्तन गंभीर, व्यापक और अपरिमित था।

श्रम-साधना :

वे चिन्तक, विचारक, प्रवक्ता तो थे ही, साथ में कर्मठ कार्यकर्ता एव सिद्धहस्त लेखक थे। उन के कार्य करने की क्षमता, कुशलता एव विवेकशीलता सादडी, सोजत एवं भीनासर के सम्मेलनो में तथा जोधपुर के सयुक्त वर्पावास में जन-जन के सामने उभर कर आ गई थी। जिस लगन, उत्साह एव कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित हो कर उन्हो ने सम्मेलनो में कार्य किया और स्थानकवासी समाज की बिखरी हुई कडियो को जोडने

में अपनी शक्ति का सदुपयोग किया, वह सब के सामने है और सम्मेलनों के इतिहास में सदा-सर्वदा जीवित रहेगा।

पण्डितजी महाराज कार्य करना जानते थे। उन्हें काम करने में आनन्द आता था। न उन्हें नाम की इच्छा थी, न यश प्रतिष्ठा की लालसा थी और न पद की भूख थी। वे जीवन की सुनहरी सन्ध्या तक श्रमण-सघ की एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कार्य करते रहे। उन्हो ने काम एवं सेवा को कभी किसी कामना से नहीं किया। वे सचमुच में निष्काम योगी थे।

वाणी की तरह उन का लेखनी पर भी अधिकार था। उन के लेख यदा-कदा समाचार पत्रो में प्रकाशित होते रहे हैं, और बहुत से लेख अभी अप्रकाशित ही हैं।

साहित्य-स्मारक :

उन के साहित्य को पूना संघ ने प्रकाशित करने की एक योजना बनाई है और पण्डितजी के व्यापक एव सर्वाङ्गीण चिन्तन एवं विचारो को जन-जन की स्मृति में ताजा बनाए रखने के लिए महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कार्यकर्ता, विचारक, एवं लेखक कनकमलजी मुनोत प्रयत्नशील हैं। वे ईंट-पत्थर एव चूने के स्मारको में विश्वास नहीं रखते। सचमुच में पण्डितजी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देने वाला कोई स्मारक हो सकता है, तो वह 'साहित्य-स्मारक' ही हो सकता है। कनकमलजी एव पूना संघ की यह योजना बेजोड, सुन्दर एवं स्तुत्य है। अतः मैं शुभ कामना करता हूँ कि यह शीघ्र ही सफल हो और परपरावाद एव रूढियों के घेरे में आबद्ध जन-जन में चिन्तन की, ज्ञान की, विवेक की ज्योति प्रज्वलित करे।

पुस्तक के लेखक :

'पण्डित मुनि श्रीमल प्रकाशन' से हिन्दी में सर्वप्रथम पण्डितजी महाराज का व्यक्तित्व, कृतित्व, जीवन निकल रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक है– स्थानकवासी समाज के मूर्धन्य सन्त, गभीर विचारक, महान् दार्शनिक उपाध्याय अमर मुनिजी महाराज के सुशिष्य, प्रकाण्ड-पण्डित, विश्रुत लेखक, मधुर व्याख्याता श्री विजय मुनिजी, साहित्यरत्न, शास्त्री। परम स्नेही साथी विजय मुनिजी– जो पण्डित जी महाराज के अभिन्न साथी और परम मित्र रहे हैं, की लेखनी में जादू है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्याङ्कन करने में उन की पैनी दृष्टि कभी भूल नहीं करती। व्यक्तित्व के चित्रण की कला में वे प्रवीण हैं। पण्डितजी महाराज के अन्तरग साथी होने के कारण वे उन के जीवन के चप्पे-चप्पे से परिचित रहे हैं। इस लिए विजय मुनिजी की कलामय लेखनी का संस्पर्श पा कर पण्डितजी का सर्वतोमुखी विराट् व्यक्तित्व निखर आया है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने जीवन का, व्यक्तित्व का, कृतित्व का मूल्याङ्कन किया है। इस में जीवन का लेख है, परन्तु जीवन का इतिहास नहीं है। इस के सम्बन्ध में लेखक का यह विचार रहा है– इतिहास से केवल सन्–सम्वत् का पता चलता है, परन्तु उस से जन-जन के जीवन को प्रेरणा नहीं मिलती। इस लिए लेखक ने उन के व्यक्तित्व को निखारा है, खूब निखारा है। उन के व्यक्तित्व का कोई भी अग ऐसा नहीं रहा, जो उन की पैनी दृष्टि से ओझल रहा हो और उन की ललित लेखनी से अछूता रहा हो।

विचारक और निर्भय प्रवक्ता :

उन के व्यक्तित्व का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है– उन के जीवन में विचारो का गाभीर्य था और थी आचार की ऊंचाई।

उन का आचार विचारों से अनुप्राणित था और विचार आचार की गतिशीलता से सयुक्त थे। विचार में आचार था और आचार में विचार की ज्योति प्रज्वलित थी।

वे एक सुलझे हुए विचारक थे, स्पष्ट एव निडर प्रवक्ता थे, लेखक थे और स्वभाव से सरल, मधुर, हंसमुख एवं सेवा-निष्ठ सन्त थे। इस से भी आगे– वे एक युग-पुरुप थे, क्रान्तिकारी थे और सिद्धान्तवादी थे। उन के जीवन रूपी इस गुलदस्ते के लेखक ने रग-विरंगे सब तरह के सुमनों से सजा कर उसे प्रस्तुत कर दिया है। मैं फिर से उन सब बातों का चर्वित-चर्वण कर के व्यर्थ में पन्ने रगना नहीं चाहता।

अपनी बात :

अन्त में, मैं अपनी बात भी कह दूँ। मैं ने इस पुस्तक में सम्पादन जैसा कोई कार्य नहीं किया है। परम स्नेही साथी श्रद्धेय विजय मुनिजी महाराज का आग्रह रहा कि सम्पादन में तुम्हारा नाम देना ही होगा। साथी के कार्य में साथी का कुछ हिस्सा तो रहता ही है, इस लिए मैं उनके स्नेह भरे आग्रह को टाल नहीं सका। इतने स्वल्प समय में इतनी सुन्दर शैली में पुस्तक लिख कर तैयार करने का सम्पूर्ण श्रेय विजयमुनिजी को है। अपने अभिन्न मित्र के प्रति अभिव्यक्त की गई यह श्रद्धा युग-युग तक जन-जन की स्मृति में अंकित रहेगी।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का आग्रह मैं ने एव कनकमलजी मुनोत ने वर्तमान युग के महान् दार्शनिक, गंभीर विचारक और प्रज्ञा-स्कध श्रद्धेय उपाध्याय अमर मुनिजी महाराज से किया। उन की शारीरिक अस्वस्थता एव अन्य कार्यों में व्यस्तता देख कर हमारे मन में विचार अवश्य आया कि हमारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे या नहीं ? किन्तु अपने स्वास्थ्य की परवाह न कर के श्रद्धेय उपाध्यायश्री ने प्रस्तुत पुस्तक की

प्रस्तावना लिखी, इस के लिए मैं उन का आभार सहित वार-बार अनुस्मरण करता हूँ।

मैं महाराष्ट्र के कर्मठ कार्यकर्ता कनकमलजी मुनोत का स्मरण किए विना नहीं रह सकता, जिन्हो ने अपने व्यस्त जीवन में से समय निकाल करे प्रस्तुत पुस्तक को सवारने, सजाने और सर्वाङ्ग–सुन्दर बनाने का तन–मन से प्रयत्न किया। और साथ में पद्मा जैन साहित्यरत्न को जिस ने पुस्तक के लेखन कार्य में स्नेह, और श्रद्धा से लिपिक का कार्य किया।

प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्तित्व, कृतित्व एव जीवन-झॉकी के साथ लोक-वातायन भी जोडा गया है। लेखक के अतिरिक्त अन्य विचारको ने पण्डितजी महाराज को किस रूप में समझा–परखा यह लोक–वातायन में प्रस्तुत है। मैं ने सस्मरणो की माँग करते समय लेखको को बहुत थोडा समय दिया–क्यो कि पुस्तक प्रेस में जा चुकी थी, इस लिए मुझे समय देने में कजूस वनना पडा। फिर भी श्रमण-संघ के वरिष्ठ सन्तो ने, विदुपी साध्वियो ने एव मेरे स्नेही साथी सन्तों एवं श्रावको ने समय पर मेरी भावना का जो आदर किया, उस के लिए मै संस्मरण प्रेषित करने वाले सभी विचारकों का आभारी हूँ।

—मुनि समदर्शी, प्रभाकर

मैं भी कुछ कह दूँ।

Cowards die many times before their deaths,
Valiants never taste of death, but once.

अपनी कुदरती मृत्यु के पहले ही डरपोक व्यक्ति अनेक बार मरते रहते हैं। किन्तु शूरवीर तो अपने जीवन में एक ही बार मृत्यु का सामना करते हैं। हमारे अभिन्न साथी, सुविद्य विचारक, प्रखर वक्ता, कर्मठ कार्यकर्ता, विनम्र सेवक पण्डित मुनि श्रीमलजी महाराज का जीवन आंग्ल कवि की उपरोक्त काव्य-पंक्ति का द्वितीयार्ध सार्थक करता है। दीन दुखियो, आपद्ग्रस्तों के प्रति पण्डितजी का सदा ही सहानुभूतियुक्त सहयोग रहा। इन लोगों के लिए पण्डितजी सदा जागृत रह कर उन की सहायता के मार्ग की खोज तत्परता से करते रहते थे।

हमारा समाज बहुत कुछ पिछ्डा हुआ है, दुनिया की रफ्तार से चलना उसकी विचार शक्ति से बाहर की बात है। समाज का अधिक-तर हिस्सा 'लकीर का फकीर' ही बना हुआ है। जिन के हाथ में समाज की बागडोर है, उन की तो कहनी ही क्या? सुधार पूर्ण विचारो का समाज में प्रचार करना याने उन की प्रतिष्ठा पर धब्बा लगाना है। ऐसे समाज में मत-परिवर्तन करना, उस को प्रगतिपथ पर ले जाने की कोशिश करना, आग से खेलना है। पर पण्डितजी महाराज ने यह काम हाथ में लिया। इस के लिए उन का अपमान होता, उन को ओलाहने मिलते, उन पर गन्दे आक्षेप लगाए जाते, किन्तु महेश्वर की तरह इस कालकूट को पण्डितजी हँसते-हँसते पचाते थे।

पूना श्री संघ पर पण्डितजी के बडे उपकार थे। पूना की विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियों के पीछे उन का प्रेरणा-स्रोत रहा है। महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में उन की पदयात्रा हुई है। वे जहाँ भी गए, वहाँ के जन-मानस मे उन्हो ने कायम के लिए स्थान पा लिया था। पण्डितजी की यही लोकप्रियता उन पर कार्यों का बोझ डालती रही, उन्हे अधिकाधिक विचार प्रवण करती रही। परिणामतः वे बिमार रहने लगे। उन का देह-त्याग समूचे महाराष्ट्र के लिए ही नहीं, भारत भर मे एक बिजली के धक्के-सा रहा। चारों ओर से संवेदनाओ, श्रद्धाञ्जलियों के पत्रों में उन के योग्य स्मारक की माँग आने लगी।

पण्डितजी ने अपने जीवन में सब से अधिक प्राधान्य साहित्य-सेवा, साहित्य रचना को दिया था। अध्ययन, मनन, चिन्तन में ही अधिकतर वे अपना समय देते थे। उन्हों ने निबन्ध लिखे, कहानियाँ लिखीं, गीत रचे, काव्य-पक्तियाँ तैयार कीं। हिन्दी में, मराठी में, गुजराती मे। यह सभी साहित्य अप्रकाशित है। उसे प्रकाश दिखलाना— यही पण्डितजी का सच्चा स्मारक होगा, यही पूना संघ की भावना रही और एक सभा में निर्णय ले कर 'पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन' का निर्माण कर दिया।

पण्डितजी महाराज की फोटू की माँग चारो ओर से हो रही थी। हर समय फोटू की प्रतियाँ फोटूग्राफर से लेना भारी पडने लगा। घोडनदी में महाराष्ट्र जैन कार्यकर्ता सम्मेलन होने जा रहा था। हमने सोचा यही समय योग्य है, जब कि पण्डितजी महाराज की फोटू का ब्लॉक बनवा कर छापें और सस्ते दामो में कार्यकर्ताओ को उन का छायाचित्र दें। हमारे प्रकाशन का वही पहला सुमन था।

पण्डितजी महाराज का अपनी पदयात्रा में यह अनुभव रहा कि महाराष्ट्र भर में जैन धर्म के बारे में अज्ञान तो है ही, साथ ही गलत-

फहमी भी। फिर भी उन्हों ने देखा कि यदि ठीक तौर पर प्रचार किया जाए, तो जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा भावना-निर्माण हो सकती है। मराठी में जैन-साहित्य का अभाव है। उन की यह तीव्र भावना थी कि मराठी में साहित्य निर्मिति की जाए और उसे प्रकाशित कर गाँवों में प्रसारित किया जाए। अतः 'जैनत्व की झाँकी' का मराठी रूपान्तर कर 'जैनत्व' के नाम से वह प्रस्तुत किया है।

स्व. पण्डितजी का जीवन एक क्रान्तिकारी का जीवन था। सुप्त समाज में चेतना लाने का उन का आजीवन प्रयास रहा है। उन का जीवन-दर्पण मानव समाज के लिए मार्गदर्शक एवं कार्यकर्ताओ के लिए प्रेरक हो सकता है। हमारे अभिन्न साथी प. विजयमुनिजी पण्डितजी महाराज के निकटस्थ ही नहीं, अन्तरग साथी रहे हैं। पण्डितजी के जीवन का एक भी पहलू ऐसा नहीं है, जो विजयमुनिजी को ज्ञात न हो। हमारी आग्रहभरी प्रार्थना को स्वीकार कर पण्डितजी महाराज का जीवन-दर्शन समाज को करवाने की जिम्मेवारी आप ने उठा ली। और पण्डितजी महाराज का 'व्यक्तित्व, कृतित्व, और जीवन' आज आप के सामने प्रस्तुत है। आदर्श जीवन-चरित्र क्या होना चाहिए, इस का प्रस्तुत पुस्तक एक उदाहरण है। इस के लेखन में मुनिजी ने अपनी शक्ति, बुद्धि तो क्या अपने प्राण तक उडेले हैं।

'साधना प्रेस' के मॅनेजर श्री सिद्ध तथा कंपोजिंग कॉन्ट्रॅक्टर श्री दत्तोबा टिवे ने पच्चीस दिनो के अन्दर इतने अच्छे स्वरूप में पुस्तक हम को दी है। आर्टिस्ट श्री सालकर, ब्लॉक मेकर श्री रत्नाकर जोशी (मे. के. जोशी ॲन्ड को.) आदि का सहयोग भी बहुमूल्य रहा है। सम्पादन का कार्य हमारे और एक अभिन्न साथी मुनिश्री समदर्शी 'प्रभाकर' ने किया है। पुस्तक की भूमिका उपाध्याय श्री अमर मुनिजी ने भेज कर हमारा हठ पूरा किया।

इन सब के श्रम अल्पावकाश में यह पुस्तक तैयार करने में लगे हुए हैं। 'पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन' इन सब को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते हुए भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा रखता है।

— **कनकमल मुनोत**

भूमिका

दीप्तिमान निर्मल गौर वर्ण, दार्शनिक मुखमण्डल पर खेलती निश्छल स्मित-रेखा, उत्फुल्ल नील कमल-सी विहसती स्नेह-स्निग्ध आँखें, स्वर्ण-फलक-सा दमकता सर्वतोभद्र भालपट्ट, कर्मयोग की प्रतिमूर्ति-सी सुगठित एव संतुलित देह-यष्टि, यह है-- पण्डित मुनिश्री श्रीमलजी के सर्वाङ्ग-सुन्दर सुदर्शन व्यक्तित्व का बाहरी परिचय।

बाहर में जितने नयनाभिराम, अन्दर में उस से भी अधिक मनो-मिराम। मंजुल मुखाकृति पर झलकती निष्कपट विचारकता की दिव्य आभा, बालक जैसी सरल, उदार आँखो के भीतर से छलकती सहज स्नेह-सुधा, जब देखो तब बातचीत में सरस शालीनता, संयमी जीवन की जीवत विज्ञापन-सी विवेक-बिम्बित क्रियाशीलता, जागृत हृदय की उच्छल संवेदनशीलता एवं उदात्त उदारता, यह सब कुछ ऐसा अन्त-र्दर्शन था, जो दर्शक के मन-मस्तिष्क को एक साथ प्रभावित कर देता, और क्षणभर में ही जीवन की अनन्त दूरी को समाप्त कर निकटता के सूत्र में बान्ध लेता, यह मेरे अनुभव की बात है।

मेरा उन का प्रथम परिचय आज से सोलह वर्ष पूर्व जयपुर में हुआ, जब कि श्रमण-संघ के सगठन की योजनाएँ बन रही थी। अत्यधिक-श्रम-जनित अस्वस्थता के कारण हार्ट का दर्दी मैं विनयमूर्ति श्री विनयचद भाई एव खेलशंकर भाई जौहरी के बगले पर विश्रान्ति-लाभ कर रहा था। दैहिक विश्राम लेते हुए भी मन योजनाओ के चक्र मे व्यस्त था। साधु-सम्मेलन के प्रश्न को ले कर इधर-उधर काफी उथल-पुथल थी, अनेक

तर्क-वितर्क थे, विभिन्न चर्चा-विचर्चाएँ थी। एक तूफान, एक झंझावात। इस सब के बीच मुनि-सम्मेलन की नैय्या को किनारे लगाने मे श्रम-रत जैसे पूर्व-पश्चिम के दो हाथ सहसा एक ही डांड पर आ टिके हो। यह था मेरा उन से प्रथम साक्षात्, जो मधुर से मधुर, अधिकाधिक मधुर ही होता गया।

प्रथम परिचय प्रायः जल्दी ही एकाकार नहीं होता, वह धीरे-धीरे खुलता है, मिलता है, और बडी देर में एक धारा हो कर प्रवाहित होता है। किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगा कि मेरा उन से यह प्रथम परिचय है, जो पारस्परिक अज्ञातता के कारण झिझक रहा है, या ठिठक रहा है। जैसे दो चिर-परिचित, समान विचाराचार वाले साथी सुप्रभात की स्वर्णिम किरणों के सुखद प्रकाश में यात्रा के किसी मोड पर सहसा मिल गए हों। कुछ ही क्षणों में अतीत की अमाप्य दूरी समाप्त हो गई, मन-वाणी ऐसे घुल-मिल गए, जैसे दूध में मिश्री घुल गई हो। मुझे अनुभव हुआ कि उन की प्रबुद्ध विचार-चेतना एवं संघीय एकता की दृढ-निष्ठा से अन्तर्मन को अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्त हो रही है, और टकराते हुए विश्वास किनारे पर स्थिर हो रहे हैं।

मुनि श्रीमलजी सिर्फ विचारक विद्वान् ही नहीं, सेवाभावी सन्त भी थे। उदात्त निर्मल सेवाव्रत उन के जीवन की पुनीत साधना थी। उन के सेवाव्रत में छोटे-वडे का, अपने-पराये का भेद नहीं था। जिस प्रसन्न भाव से वे अपने गुरुजनों की सेवा करते थे, उसी प्रसन्नता से उन्हे लघु मुनियो की भी सेवा करते पाया गया। स्वयं मेरी अस्वस्थता में उन्हो ने जिस आत्मीय एव प्रसन्न भाव से सेवा की, वह मेरे जीवन की अविस्मरणीय अनुभूति है। ऐसा लगता था कि उन के सेवा-प्रवण हृदय में सहज स्नेह एव वात्सल्य की अजस्र धारा उमड पडी है।

मुनि श्रीमलजी के निर्मल व्यक्तित्व में श्रद्धेय गुरुदेव .की ज्ञानात्मा प्रतिबिम्बित थी। वे अपने युग के महान् ज्योतिर्धर, क्रान्त-द्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के प्रिय शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ के प्रकाण्ड अभ्यासी, जैनागम एव भारतीय दर्शनो के गंभीर अध्येता, प्रविवेचेता थे। उनके ज्ञान की प्रौढता, प्रज्ञा की सूक्ष्मता, एवं विचारो की उदारता को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि आचार्य जवाहरलालजी महाराज की चिन्तन-ज्योति ही उनके माध्यम से प्रस्फुरित हो रही है। वे योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे, यह निष्कर्ष सन्देह एवं शका से परे है। पण्डितजी, जैसा कि हम सब उन्हे इस नाम से संबोधित करते थे, वस्तुतः पण्डितजी ही थे– यथा नाम तथा गुण।

उन की जिज्ञासा प्राणवान थी। अध्ययन की पिपासा और बुभुत्सा के समक्ष अवस्था, अस्वस्थता एवं व्यस्तता पराजित हो गई थी। कुचेरा (मारवाड) चातुर्मास (सन् १९५६) में हम साथ रहे थे। श्री अखिलेश जी, विजयजी और समदर्शीजी यह मुनित्रयी तो हमारे चिन्तन मण्डल में थी ही, साथ ही श्री प्रेमराजजी बोहरा, श्री जबरचदजी गेलडा आदि कुछ विचारक श्रावक भी चिन्तन मण्डल के सदस्य थे। एक बार चिन्तन-धारा में भाष्यो की चर्चा चली, तो पण्डितजी के मन में मुझ से बृहत्कल्प भाष्य तथा व्यवहार भाष्य जैसे महान् आचार ग्रन्थो का परिशीलन करने की जिज्ञासा जगी। बस जिज्ञासा जगने की देर थी कि बडी निष्ठा एव लगन के साथ अध्ययन करने में जुट गए और अल्प समय में ही उन विशालकाय ग्रन्थों का पारायण कर गए। पचाध्यायी जैसे गुरु गभीर दर्शन ग्रन्थों का भी वे धाराप्रवाह से वाचन करते चले जाते थे। वस्तु-बोध में उनकी मेधा बहुत कुशल थी। वाचन करते-करते यदि कहीं कोई ग्रन्थी उलझती, तो वे कुछ क्षण रुकते, मुझ से विचार-चर्चा

करते, और शीघ्र ही विपय वस्तु को हृदयंगम कर के वाचन की धारा को तीव्र गति से आगे वढा ले जाते।

मुनि श्रीमलजी की जीवित जिज्ञासा एवं अध्ययन शीलता में विनम्र विनय एवं माधुर्य का सहज संगम हुआ था। विनय उन की ज्ञानाराधना का अलकार वना और माधुर्य उन के जीवन को जन-जीवन के साथ एक-रस करता गया।

सादडी सम्मेलन (सन् १९५२) के अवसर पर उन्हों ने जिस अद्भुत कुशलता, विचार चातुरी एव समय को परखने की कला का अद्भुत परिचय दिया, वह हमारे इतिहास का अविस्मरणीय अध्याय होगा। विभिन्न संप्रदायों की विखरी हुई कडियो को जोडने में पण्डितजी मेरे और तत्कालीन मेरे अन्य साथियो के अभिन्न सहयोगी रहे। उनके कर्तृत्व की इस उपलब्धि को स्थानकवासी समाज का इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा। भविष्य का कोई भी ईमानदार इतिहासकार उन्हे वगल में छोड कर आगे नहीं वढ सकेगा।

सक्षेप में उनका व्यक्तित्व जितना मधुर, आकर्षक एव गम्भीर था, कृतित्व भी उतना ही तेजस्वी, वहुमुखी एव गौरवपूर्ण था।

काल पुरुष ने मुनि श्रीमलजी के भौतिक देह को असमय में ही हम से विलग कर दिया है। यह अवश्यंभावी घटना थी, इस लिए इस पर खेद या अफसोस करने की कोई सार्थकता नहीं है। किन्तु उन्हो ने अपने पीछे जो विचार-ज्योति छोडी है और वे सेवा एव सद्भाव की जो कीर्तिमान परम्परा स्थापित करके गए है, उन के प्रति श्रद्धा रखने वाले महानुभाव उस ज्योति को प्रज्वलित करते रहेगें, यही उन की सव से वडी महान् स्मृति होगी। उनका व्यक्तित्व सुदूर, दूरातिदूर, चिर-भविष्य तक उज्ज्वल कृतित्व से मडित होता रहेगा।

श्री विजय मुनिजी ने पण्डित श्रीमलजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अपनी चिर-प्रसिद्ध भव्य लेखनी से जो संतुलित संदर्शन प्रस्तुत किया है, वह निस्सदेह उनके प्रति एक सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। श्री विजय मुनिजी विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं। उनकी पैनी दृष्टि हर किसी व्यक्तित्व का सूक्ष्म निरीक्षण करने की कला में सुदक्ष है। कलम के माध्यम से भावाभिव्यक्ति, उन की अपनी एक बौद्धिक विशिष्टता है। अतः उन्हो ने पण्डितजी के निकट सपर्क में रह कर आत्मीय भाव के साथ उन के व्यक्तित्व का जो अन्तर्-दर्शन किया है, वह प्रस्तुत पुस्तक का मौलिक उपादान है। मैं समझता हूँ, विजय मुनिजी के अतिरिक्त पण्डितजी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के चित्रण में अन्य कोई इतना सफल भी नहीं हो पाता। अस्तु, व्यक्तित्व के वाह्याङ्कन के साथ-साथ अन्तर्-दर्शन के मधुर चित्र जिस भाव भीनी भाषा में सफलता के साथ अकित किए हैं, उस से मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। इन सस्मरणो में एक खूवी पाठक को यह मिलेगी कि सस्मरण के हर पुष्प से एक अद्भुत मोहक सौरभ फूट रही है, जो सहृदय पाठक के मन-मस्तिष्क को सहसा रसाप्लावित कर जाती है। इतना ही नहीं, पाठक पुस्तक के द्वारा मानव जीवन के भव्य-निर्माण की तीव्र प्रेरणा भी प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप श्रद्धाभिभूत होकर पण्डितजी के प्रति विनयावनत हो जाता है।

मैं आशा करता हूँ कि मुनि श्रीमलजी के व्यक्तित्व एव कृतित्व के परिदर्शन के लिए, यह पुस्तक, श्रद्धालु पाठकों के हाथो में एक अनूठी कृति सिद्ध होगी।

आगरा, २६–७–६८ उपाध्याय अमर मुनि

जग कहता है– तुम रहे नहीं
मन कहता है– तुम हटे नहीं
जग भी सच्चा, मन भी सच्चा
तुम गए सही, पर मिटे नहीं

कुछ भी न वियोग की बात करो
प्रिय लगता है, संयोग मुझे
मुझ से न स्वर्ग की बात करो
प्रिय लगता है, संसार मुझे

ज्ञान–कर्म के योगी हो, तुम
आधार बने जन–जीवन के
प्रेम भाव से अर्पित हैं, ये
श्रद्धा–कण मेरे मन के

ध्यान-योगी

व्यक्तित्व

और

कृतित्व

१

मैंने देखा था . गुलाब का फूल अपनी डाली पर बैठा मुस्कुरा रहा था। आने और जानेवाले पान्थजनो को अपनी भीनी-भीनी महक से आकर्षित कर रहा था और अपने माधुर्य एव। सौन्दर्य का उन्मुक्त भाव से वितरण कर रहा था। हवा के तेज झोंके से मेरे देखते ही देखते वह अपनी डाली पर से भूमि पर गिर चुका था। डाली से नीचे गिरने के वाद भी उस ने अपनी महक को मिट्टी के कणो में मिला दिया था। गुलाब का फूल अपने जीवन के क्षणो में भी महक प्रदान करता रहा और अपनी मृत्यु के वाद भी वह अपनी महक को अपनी जन्म देनेवाली धरती की मिट्टी के कणों में विखेर कर चला गया।

मैं सोचता हूँ, समाज में जन्म लेनेवाले, समाज की डालीपर बैठ कर मुस्कुराने वाले कुछ व्यक्ति इसी प्रकार के होते है। वे अपनी जीवित अवस्था में भी समाज को उन्मुक्त भाव से अपने ज्ञान की सुरभि और अपने चरित्र की सुंदरता को निरन्तर प्रदान करते रहे हैं। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी मृत्यु के वाद भी वे समाज के जन-जन के मन-मन में अपनी ज्ञान-संपत्ति और अपने आचार के, वैभव के सुन्दर संस्कारों को

छोड कर चले गए। मै इस प्रकार के व्यक्तियों को समाज का निचोड (Cream), समाज का सारभूत कहता हूँ।

पण्डित श्रीमलजी महाराज, जिनका मधुर और सुन्दर व्यक्तित्व अभी कुछ समय पूर्व तक आप के, हमारे नेत्रों के सामने एक जीता-जागता आदर्श था। न जाने क्यो, उन के दिवंगत हो जाने के बाद भी उनकी भौतिक सत्ता को भले ही हम स्वीकार न करें, किन्तु उनकी आध्यात्मिक सत्ता से आज भी इन्कार नही किया जा सकता। और अनन्त भविष्य में भी इन्कार नहीं किया जा सकेगा। उनका व्यक्तित्व अनोखा और अनुपम था। उन के तेजस्वी, किन्तु अत्यन्त मधुर व्यक्तित्व में चुंवक जैसा एक असाधारण व्यक्तित्व मैंने देखा था। अपने परिचित व्यक्तियो के लिए मधुर होना कोई असाधारण बात नहीं, किन्तु सर्वथा अपरिचित व्यक्ति के लिए मधुर रहना एक असाधारण बात है।

मैं अपने पूज्य गुरुदेव कवि श्री अमरचन्दजी महाराज की सेवा में था। सन् १९५१ का अजमेर का वर्षावास पूरा कर के पूज्य गुरुदेव जयपुर पधारे थे। उस समय समाज मे अखिल भारतीय साधु सम्मेलन की संयोजना का आयोजन बडी तीव्र गति से चल रहा था। उस संयोजना के प्रचार और प्रसार में पूज्य गुरुदेव ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। उसी प्रसंग पर अनेक पूजनीय एवं लब्ध-प्रतिष्ठ मुनिवरो से पूज्य गुरुदेव मिल-भेट के कार्यक्रम में व्यस्त थे।

जयपुर में उनका स्वास्थ्य कुछ गडबडा गया था। विशेष रूप से खूनचाप (Blood-pressure) और हृदय-दर्द (Heart-trouble) की शिकायत थी। डाक्टर के परामर्श से वे कुछ दिनों के लिए जन सपर्क से दूर हट कर स्थानकवासी जैन महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष और जयपुर के व्यापारियों में प्रतिष्ठा प्राप्त चतुर व्यापारी श्री वनेचन्दभाई दुर्लभजी

के बँगले पर विराजित थे। उस समय मैं भी गुरुदेव की सेवा में वहीं पर उपस्थित था।

मेरा प्रथम परिचय :

पण्डित श्रीमलजी महाराज अपने साथी तपस्वी मगनमुनिजी के साथ महाराष्ट्र से राजस्थान पधार रहे थे। जब वे जयपुर पधारे, तब उन्हें नगर के बाहर ही पता चला कि उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज नगर मे नहीं, किन्तु नगर के बाहर वनेचन्दभाई की कोठी पर विराजित हैं। उस समय पण्डितजी ने नगर में प्रवेश न कर, सीधे वनेचन्दभाई की कोठी पर आनेका निश्चय किया और वे काफी सख्या में श्रावको के साथ गुरुदेव के पास आए और कुछ दिनो तक वहीं पर ठहर गए।

मैंने पण्डित श्रीमलजी महाराज के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था, किन्तु उन्हें कभी देखने का अवसर मुझे उपलब्ध नहीं हुआ था। स्थानकवासी समाज के महामहिम आचार्य जवाहरलालजी महाराज के आप प्रियतम शिष्य और उनकी विचार सपदा के एक मात्र उत्तराधिकारी हैं, यह मैंने राजस्थान के श्रावको के मुख से एक वार नहीं, अनेक बार सुना था। पूज्य जवाहरलालजी महाराज के दर्शन का सौभाग्य नहीं पा सका, पर मन में आकाक्षा थी कि समाज के योग्यतम गुरुके दर्शन भले ही न मिल सके हो, फिर भी उनके सुयोग्य शिष्य के दर्शन भी मैं उन्हीं के दर्शन मानता हूँ। और ये दर्शन मुझे उपलब्ध हो सके, इसके लिए अपने आपको मैं भाग्यशाली मानता हूँ।

मुझे प्राचीन साहित्य में से एक मधुर सस्मरण याद आ रहा है और वह इस प्रकार है — एक वार काश्मीर का एक पण्डित मालव सम्राट् राजा भोज की दानवीरता एव काव्यप्रेम से आकर्षित हो कर उनके दर्शनो के लिए काश्मीर से चल कर मालव देश की राजधानी उज्जैन में आया।

राजा भोज की सभा में प्रवेश करते ही उन्हे लक्ष्य करके काश्मीर के पण्डित ने यह श्लोक पढा—

दूरेऽपि श्रुत्वा भवदीयकीर्ति,
कर्णौ च तृप्तौ न च चक्षुषी मे।
तयोर्विवादं परिहर्तुकामः,
समागतोऽहं तव दर्शनाय ॥

राजन्, मैंने अपने कानोसे आपकी यशोगाथा अवश्य सुनी थी। आप दानवीर हैं, विद्या-व्यसनी है और काव्य-प्रेमी भी हैं। साहित्य-संगीत-कला का आपके जीवन में सुन्दर समन्वय हुआ है। आप की इस यशोगाथा पर, कीर्ति पर तथा प्रतिष्ठा पर मेरे कानों ने तो विश्वास कर लिया था, किन्तु नेत्रो ने एक विवाद खडा कर दिया कि जो कुछ सुना है, उसे तब तक सत्य नहीं माना जाता, जब तक कि हम उसे देख न ले। अपने श्रोत्र और नेत्रोके विवाद को शान्त करने के लिए और मेरे मन की आप के दर्शन की पिपासा को तृप्त करने के लिए मैं आप के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। आज मेरे नेत्रो ने उस सत्य को स्वीकार कर लिया है, जिसे वे विवादास्पद मानते थे। जो कुछ सुना था, उससे भी अधिक आज मै देख पा रहा हूँ। यह मेरे मन का परम सन्तोष है।

पण्डित श्रीमलजी महाराज के सम्बन्ध में मेरे कानो ने उन की जो यशोगाथा, कीर्नि और प्रतिष्ठा सुनी थी, किन्तु नेत्रो ने परितृप्ति का अनुभव नहीं किया था। इस अवसर पर उस परम तृप्ति की गहरी अनुभूनि ही नहीं की, किन्तु हम दोनो की जीवन धरती पर जिस स्नेहांकुर का बीजारोपण वीर राजस्थान की राजधानी जयपुर मे हुआ था, वह दिन-अनुदिन पल्लवित और पुष्पिन होता रहा, और निरन्तर गहन एवं वृद्धिशील भी बनता रहा। भले ही आज पण्डितजी महाराज हम लोगो की इस धरती

को छोड कर चले गए हों, पर उन के मधुर जीवन की मधुर स्मृति हमें उन के स्नेहजल में आप्लावित कर रही है और भविष्य में करती रहेगी। मैं समझता हूँ, पण्डितजी महाराज का जीवन भूलने की वस्तु नहीं, सदा स्मरणीय है।

व्यक्ति मरता है; व्यक्तित्व नहीं :

समाज के धरातल पर जब कोई भी व्यक्ति आता है, तब वह अपने जन्म के साथ ही अपने व्यक्तित्व के संस्कार लेकर आता है। व्यक्ति और उस के व्यक्तित्व में मै कुछ अन्तर डालता हूँ। जो कुछ व्यक्तित्व है, वही व्यक्ति होता है, किन्तु जो कुछ व्यक्ति है, वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व हो भी सकता है और नहीं भी। महान् भारत के अध्यात्मवादी दार्शनिको ने व्यक्ति को 'क्षर' माना है, किन्तु उस के व्यक्तित्व को 'अक्षर'। व्यक्ति वह है, जो आ कर लौट जाता है। व्यक्ति वह है, जो बनकर बिगड जाता है। किन्तु, व्यक्तित्व उसे कहा जाता है, जो आकर भी लौटता नहीं है और बनकर कभी बिगडता नहीं है। इतिहास और परपरा की दीर्घ यात्रा में कुछ व्यक्ति आए, पर वे आज नहीं रहे। किन्तु निश्चयही उनका व्यक्तित्व कोटि-कोटि जन-मानस पर अकित है और अकित रहेगा। हमारे जीवन का निर्माण करनेवाला तत्त्व यदि कोई है, तो वह हमारा व्यक्तित्व ही हो सकता है। मेरे विचार में प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ अपना व्यक्तित्व भी लेकर आता है, किन्तु इस यात्रा की समाप्ति पर वह अपने व्यक्तिरूप को अपने साथ समेट कर ले जाता है और अपनी स्मृति के रूप में अपना व्यक्तित्व प्रिय जनों के मानस में छोडकर उनसे विदा हो जाता है।

व्यक्तित्व, जो भुलाया नहीं जा सकता :

पण्डित श्रीमलजी महाराज व्यक्ति रूप में हम से अलग हो गए हैं।

जीवन के इस कटु सत्य को न मानें, तो भी मानना ही पडता है। पर व्यक्तित्व रूप में वे आज भी अपने प्रिय जनों के है और इस मानव की धरती पर उनका एक भी प्रेमी रहेगा, तब तक उन का व्यक्तित्व कभी मिट नहीं सकेगा। यह हो सकता है कि काल की एक बहुत लंबी परिक्रमा करने के बाद उन्हें भूलने की भूल कर सकें, पर मैं समझता हूँ और मेरा ऐसा अटल विश्वास है कि उनके व्यक्तित्व में उन का जो एक तेजस्वी कृतित्व है, वह उन्हें विस्मृति के गहन गह्वर में कभी नही पहुँचने देगा। व्यक्तित्व और कृतित्व में भी मैं कुछ थोडा अन्तर समझता हूँ। मेरे विचार में व्यक्तित्व जीवन का आन्तरिक पक्ष है और कृतित्व उसका बाह्य पक्ष। व्यक्तित्व को मै उसकी आन्तरिक शक्ति कहता हूँ, तो कृतित्व को उसकी बाह्य शक्ति। किसी भी व्यक्ति के जीवन की प्राणशक्ति उसका व्यक्तित्व व कृतित्व ही होता है। जीवन की धरती पर जब व्यक्तित्व के सुन्दर बीजों का वपन किया जाता है, तब कृतित्व के रूपमें सुंदर सुमनों का और मधुर फलो का आविर्भाव हुआ करता है। उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व रूप पुष्पों की सुगन्ध आज भी है।

पण्डित श्रीमलजी महाराज के सम्बन्ध में जो कुछ मुझे लिखना है अथवा कहना है, वह उनके जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में ही होगा। जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व ये तीनों समाज के लिए वरदान और अभिशाप दोनों ही प्रमाणित हो सकते हैं। किन्तु दिव्य आत्माओ का जीवन, उनका व्यक्तित्व और उनका कृतित्व परिवार, राष्ट्र और समाज के लिए सदा वरदान ही सिद्ध होता है, अभिशाप कभी भी नहीं। विमल जीवन, तेजस्वी व्यक्तित्व और बहुमुखी कृतित्व समाज की वह एक थाती है, जिसे पाकर समाज समृद्ध, वैभवशाली, गौरवमय और प्रगतिशील बनता रहता है।

◎ ◎

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज के सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व एक बात पर विचार करना परम आवश्यक हो जाता है—पण्डितजी महाराज का जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध मे कुछ भी कह सकना मेरे लिए सरल कार्य नहीं होगा, परन्तु उन के साथ में जीवन के कुछ वर्ष मैं ने अवश्य व्यतीत किए हैं। इन वर्षों में उनके सहयोग एवं सान्निध्य से मेरे मन पर जो एक प्रभाव पडा था, वह यह है कि वे अपने जीवन में सर्वाधिक महत्त्व सत्य की उपासना को ही देते थे। उन्होने अपने जीवन में केवल सत्य का आदर ही नहीं किया, किन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में सत्य की उपासना भी की थी। उनके विचार में सत्य एक अखंड वस्तु थी, जिसका खड करना उन्हें किसी भी प्रकार अभीष्ट नहीं था। सत्य के अनुसन्धान के सम्बन्ध में उनके मौलिक विचार उनके द्वारा लिखित निबन्धों में विखरे पडे है। उनके द्वारा लिखित कहानियाँ, जीवन चरित्र और गीतो में उनके विचारों के वास्तविक दर्शन हमे हो सकते है। आवश्यकता है कि तुरन्त ही और शीघ्र ही उनके साहित्यका सकलन किया जाए। और उस दिशा में उनके निकटस्थ साथी श्री कनकमलजी मुनोत ने इस दिशा मे कार्य प्रारम्भ भी

कर दिया है। परन्तु इस प्रसग पर हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके जीवन का वह अश अधिक अवशेष रह जाता है, जो अभी तक दुर्भाग्यवश लिपिबद्ध नहीं हो सका। साहित्य सर्जन के क्षेत्र में भले ही पण्डितजी महाराज ने अपनी कोई मौलिक कृति प्रस्तुत न की हो, किन्तु उनके प्रवचन और उनकी प्रति-दिन की डायरी मे उनके विचार हमें भिन्न-भिन्न विषयों पर उपलब्ध होते है। उनका, उन सबका अनुसन्धान करके एक व्यवस्था और क्रम देना होगा। यदि इस कार्य को सिद्ध किया जा सका, तो निश्चय ही उनके विचारो की सम्पत्ति पर्याप्त मात्रा मे आजकी नई चेतना के पाठक वर्ग को उपलब्ध हो सकेगी।

सम्मेलनों में योगदान :

इसके अतिरिक्त उनके अन्य बहुत से विचार, जो समाज और सघ के सम्बन्ध में हैं, जिन्हे अभी तक लिपिबद्ध नहीं किया गया है, उनको उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो से किसी न किसी रूप में प्राप्त करना होगा। सादडी, सोजत सम्मेलन, जोधपुर का संयुक्त वर्षावास, और भीनासर सम्मेलन— इन प्रसंगो पर उन्होंने अपने अनुभव और बुद्धि के आधार पर समाज की विषमता को मिटाने के लिए समय-समय पर जो सुझाव प्रस्तुत किए थे, वस्तुतः वे बडे ही महत्त्वपूर्ण हैं। सादडी सम्मेलन के प्रसग पर उन्होने जो मानसिक और बौद्धिक श्रम किया था, उस को मै स्वय जानता हूँ। समाज के एकीकरण में उनकी अतुल आस्था थी। उनका यह अडिग विश्वास था कि यदि समाज का एकीकरण न हो सका, तो समाज का भविष्य अन्धकारमय बन जाएगा। इसी भावना के आधार पर उन्हों ने सादडी सम्मेलन के आरम्भ से पूर्व ही अजमेर में और ब्यावर में परमश्रद्धेय पूज्य गणेशीलालजी महाराज और प्रसिद्ध वक्ता, जैन धर्म दिवाकर चौथमलजी महाराज के उत्तराधिकारी पण्डित प्रवर एवं

श्रमण संघ के उपाध्याय प्यारचन्दजी महाराज के बीच में समन्वय साधने का सफल प्रयत्न किया था। यदि उक्त दो महान् व्यक्ति सम्मेलन से पूर्व ही एक विचार पर नहीं आ जाते, तो सम्मेलन के समग्र प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध होते। सादडी में जब सम्मेलन प्रारम्भ हो गया, तब उसे सफल बनाने के लिए और एकता के मार्ग में उपस्थित होने वाले विघ्नो को दूर करने के लिए पण्डितजी महाराज ने मेरे गुरुदेव को पूरा-पूरा सहयोग ही नहीं दिया, पर कभी-कभी महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दिए। इसके बाद सोजत सम्मेलन में भी उन्होने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। सोजत सम्मेलन में भिन्न-भिन्न विपयो पर चर्चा ही अधिक होती रही थी। सभी प्रकार के प्रश्नो एवं प्रति-प्रश्नों के उत्तर एव समाधान की जबाबदारी पूज्य गुरुदेव पर ही थी। इस लम्बी चर्चा में पण्डितजी महाराज ने स्वय भी भाग लिया था और पूज्य गुरुदेव के सहायक के रूप में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। जोधपुर में सयुक्त वर्पावास में जो स्थानकवासी समाज के इतिहास में महत्त्वपूर्ण वर्पावास था, चार मास लगातार होने वाली चर्चा में प्रत्यक्ष रूप से पण्डितजी ने भले ही भाग न लिया हो, पर समय-समय पर व्यक्तिगत या सार्वजनिक रूप में जब उनका परामर्श मागा गया, तब उदारता के साथ उन्हो ने सुझाव प्रस्तुत किए थे। भीनासर सम्मेलन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ही पण्डितजी महाराज को मिलना चाहिए था और मिला भी। भीनासर सम्मेलन का आरम्भ, मध्य और समाप्ति सब उन्हीं के हाथो हुई थी। भीनासर सम्मेलन के पूर्व ही कुछ इस प्रकार की विपम परिस्थितियॉ उत्पन्न हुई थी कि सम्मेलन होने की अपेक्षा, न होने के अवसर ही अधिक उपस्थित थे। परन्तु इन सब विपम परिस्थितियो पर पण्डितजी महाराज ने गभीरता, धीरता, और सुझबूझ से काम लिया, जिसका परिणाम था—भीनासर सम्मेलन की सफलता।

परेशानी में भी मुस्कान :

मैंने देखा था कि कभी-कभी विषम परिस्थिति आ जाने के कारण, वे बड़े परेशान हो जाया करते थे। श्री चम्पालालजी बांठिया, जो पण्डितजी महाराज के निकटस्थ परिचित व्यक्तियों में से एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, का सहयोग पण्डित जी को पूरा-पूरा मिला था। भीनासर सम्मेलन की सफलता में बांठियाजी का योगदान भी पण्डितजी को पूरा-पूरा मिला था। मुझे यहाँ सम्मेलनों की सफलता या विफलता की समीक्षा नहीं करनी है। मेरा उद्देश्य तो यही बतलाना है कि सादडी से भीनासर तक समाज के एकीकरण के लिए जो भी कुछ प्रयत्न हुए, उन मे परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में पण्डितजी महाराज का योगदान ही रहा है। उन की कल्पना थी कि हमारा समग्र समाज एक सूत्र में व्यवस्थित हो सके, तो आज के इस युग मे हम अपनी सगठन शक्ति से बहुत कुछ कार्य कर सकते हैं। अनुशासन पर वे अत्यन्त बल प्रदान किया करते थे। समाज के विकास में और समाज के उत्थान में उन्हो ने सदा से तीन तत्त्वों को महत्त्व दिया था—स्नेह, सहानुभूति और अनुशासन। भले ही हमारे समाज में स्नेह व सहानुभूति रही हो और आज भी है, पर कुछ कमी है, तो वह अनुशासन की। इसलिए पण्डितजी महाराज सब से अधिक भार अनुशासन पर ही दिया करते थे। उनका विचार था कि अनुशासन के अभाव में हमारा स्नेह और सद्भाव भी अर्थ-शून्य हो जाता है। दुःख है, गहरा दुःख है कि इस समाज में अनुशासन लाने के जितने प्रयत्न किए जाते रहे हैं, वे सफल होने की अपेक्षा विफल ही अधिक होते हैं।

चिन्तन की धारा :

समाज, संस्कृति, धर्म और दर्शन के सम्बन्ध मे पण्डितजी महाराज का अपना कुछ मौलिक चिन्तन और मौलिक विचार थे। समाज और

संस्कृति के सम्बन्ध में उन्हो ने अपने निबन्धों में स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं । धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में उनके द्वारा रचित गीत व निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं कि वे धर्म और दर्शन को अपनी बुद्धि की तुला पर किस प्रकार तोला करते थे। किसी भी विषय पर लिखने के पूर्व वे गहनता के साथ मन्थन करते थे और जब विचार स्थिर हो जाते, तब वे लिखने बैठ जाते । लेखन के समय उन के चित्त मे इतनी एकाग्रता आ जाती थी कि भोजन और अन्य आवश्यक क्रियाओं का उन्हे ध्यान तक नहीं रहता था। लेखन भी एक प्रकार की समाधि है । जो उस समाधि मे समाविस्थ न हो सके, वह व्यक्ति अच्छा लेखक नहीं हो सकता । लेखक में जितनी अधिक एकाग्रता और विचारों का एकीकरण हो जाता है, जनता को वह उतने ही अधिक विचार दे पाता है । मैंने स्वय देखा है, कविता बनाते समय वे किस प्रकार एकाग्रता और समाधिभाव का अनुभव करते थे । वे बुद्धि से तर्कशील और हृदय से कवि थे ।

बहुमुखी अध्ययन :

उन के लेखन, उनके प्रवचन और उनके कार्य-कलापोसे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि पण्डितजी महाराज का अध्ययन कितना विशाल और कितना विस्तृत था। जैन दर्शन और जैन धर्म का उनका सर्वांगीण अध्ययन तो था ही, इसके साथ में वैदिक और बौद्ध धर्म का अध्ययन भी गम्भीर और तलस्पर्शी था। भीनासर सम्मेलन के बाद कुचेरा वर्षावास में उन्हो ने पूज्य गुरुदेव उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज से विशेषावश्यक भाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य जैसे विशाल-काय ग्रन्थों का अध्ययन किया था। अध्ययन के साथ-साथ वे आवश्यक विषयो की नोंध भी लेते जाते थे। सास्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से इन भाष्यो का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। निशीथ भाष्य

और निशीथ चूर्णि के प्रकाशन के वाद उन्हों ने इनका भी संपूर्ण अध्ययन किया था। उनका आगमिक परिज्ञान रटे हुए थोकडो के आधार पर नहीं, किन्तु उस-उस विपय के मूल ग्रन्थों के आधार पर ही था। भेद-प्रभेद रट लेना एक अलग वात है, और उस तत्त्व के मर्म को समझ लेना एक अलग वात है। कुचेरा वर्पावास में उन्हों ने पंचाध्यायी जैसे आध्यात्मिक और निश्चय नय प्रधान ग्रन्थो का अध्ययन भी पूज्य गुरुदेव से किया था। इस प्रकार पण्डितजी महाराज ने आगम, दर्शन, अध्यात्म, योग, समाज, सस्कृति, आदि समस्त विपयों का परिश्रम पूर्वक दोहन किया था। मैं ने देखा है कि उन की डायरियो मे उन के विचार उन्हीं के हस्ताक्षरो मे उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार उन्हों ने विस्तृत विचारो को संक्षेप मे अपनी स्मृति के लिए अकित कर लिए थे। कुछ विचार तो इतने सक्षिप्त रूप मे उल्लिखित हैं कि उन्हे समझना भी कुछ कठिन-सा हो गया है। उनके इस चिंतन को एवं अनुभव को व्यवस्थित रूप से प्रकाशित करने पर ही यह स्पष्ट होगा कि वे प्रत्येक विपय पर किस प्रकार विचार किया करते थे तथा उस विपय को समझाने की उन की क्या पद्धति थी। उन के उपलब्ध लिखित साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि उन्हों ने मात्र प्राचीन विचारधारा को ही आत्मसात् नहीं किया, पर नवीन वहुमुखी विचारधारा को भी आत्मसात् किया था। उनके अध्ययन की परिधि में आज का संपूर्ण गांधी साहित्य, संपूर्ण विनोवा साहित्य समाहित हो जाता है। गाधी साहित्य के अध्ययन में उन्हें पर्याप्त अभिरुचि थी। आचार्य विनोवा की कई पुस्तको को वे एक से अधिक वार पढ चुके थे। समाजवाद और साम्यवाद पर गांधीवाद के साथ तुलना करते हुए उन्हो ने कई पुस्तको का अध्ययन किया था। कविता के क्षेत्र मे दिनकर का साहित्य उन्हें अत्यन्त प्रिय था। दिनकर का साहित्य और साथ मे मैथिली-शरण गुप्त का साहित्य उनके द्वारा संचित साहित्य में मुझे आज भी

उपलब्ध हो रहा है। साकेत, यशोधरा, जो मैथिलीशरण गुप्त की काव्यमयी विशेष कृति है, उन का पण्डितजी ने अध्ययन ही नहीं किया, पर समय-समय पर दूसरो को उनका अध्यापन भी कराया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नवीन युग की एक भी विचारधारा उनके चिन्तनमय बौद्धिक क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकी। कथा साहित्य में भी उन्हे विशेष अभिरुचि थी और अपनी रुचि के अनुसार वे अपनी कल्पना-शक्ति से नयी कथा करके उसे काव्यका रूप दे डालते थे।

प्राचीन शास्त्रों का अनुशीलन :

श्रद्धेय पण्डितजी महाराज ने जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य का गम्भीर एव तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वैदिक साहित्य मे उपनिषद् और गीता का उन्हो ने व्यापक दृष्टिकोण से परिशीलन किया था। बौद्ध साहित्य में से विशुद्धि मार्ग और अभिधर्म उन्हे विशेष रूप से प्रिय थे। जातकों की कथाओ को वे बडी अभिरुचि से पढते थे, और उन कथाओ का प्रयोग अपने प्रवचनों में करते थे। जैन साहित्य में से उन्हो ने आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ का मर्मस्पर्शी एव तलस्पर्शी अनुशीलन किया था। आगमोत्तर साहित्य में से भी तत्त्वार्थ भाष्य, जैन तर्क भाषा, स्याद्वादमञ्जरी आदि का अध्ययन किया था। दिगम्बर साहित्य में द्रव्यसग्रह, समयसार, प्रवचनसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थोका परिशीलन भी वे समय-समय पर करते ही रहते थे।

बहुभाषाविद् :

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी उनका परिज्ञान बहुविध और बहुव्यापी था। सस्कृत और प्राकृत जैसी प्राचीन तथा कठिन भाषाओ पर उन का अधिकार था। हिन्दी, गुजराती और मराठी भाषाओ में वे धारा प्रवाह से

बोल सकते थे, और लिख भी सकते थे। मराठी तो उनकी मातृभाषा ही थी। मराठी भाषा मे उनके कुछ प्रवचनो के सुनने का मुझे सौभाग्य मिला था। मराठी सन्तों के भक्ति गीतो को और विशेषतः सन्त तुकाराम के अभंगो को बडी मधुरता के साथ मस्त होकर वे गाया करते थे।

◎ ◎

व्यक्ति और आलोचना

जिस व्यक्ति के विचारों में मौलिकता होती है, उस व्यक्ति के विचारों की आलोचना न हो ऐसा कभी संभव नहीं। जो व्यक्ति जितनी अधिक निर्भीकता के साथ अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है, वह व्यक्ति समाज के कुछ लोगों की दृष्टि में उतना ही अधिक विद्रोही तथा क्रान्तिकारी प्रतीत होता है। जिस व्यक्ति में अपने विचार मौलिक रूप में स्पष्ट करने की योग्यता एवं क्षमता न हो, तो वह व्यक्ति समाज को न कुछ दे सकता है, न समाज को प्रगति के पथ पर आगे बढा सकता हे। समाज और राष्ट्र को जिन व्यक्तियो ने कुछ दिया है, उन लोगों में साहस और स्पष्टवादिता अवश्य ही रही है।

आलोचकों पर प्रेम :

मुझे लेबनान के एक महान् दार्शनिक, कवि, चित्रकार और विचारक खलील जिब्रान के जीवन की एक घटना का स्मरण हो आता है— खलील जिब्रान ने अनेक पुस्तको की रचना की है। उन की पुस्तको का अध्ययन करने वाले पाठक उन की प्रशसा भी करते थे और आलोचना भी।

किन्तु प्रशंसकों की अपेक्षा उन के आलोचको की ही संख्या अधिक थी। एक वार एक मित्र ने खलील जिब्रान से कहा – 'तुम जो कुछ लिखते हो, उसे पहले सोच लिया करो, और जो कुछ लिखना है, उसे इतना अधिक स्पष्ट मत किया करो। क्यों कि जब इधर-उधर तुम्हारी आलोचना सुनता हूँ, तब मुझे बड़ा दुःख होता है।' खलील जिब्रान ने कुछ गंभीर होकर एक मद मुस्कान के साथ उत्तर दिया–'You understand me not, but I offer my sympathy to you.' 'मेरे मित्रो, तुम लोगों ने अभीतक मुझे समझा नहीं। मुझे मेरी आलोचना का इतना दुःख नहीं होता, जितना यह देखकर कि आप लोग मेरे मित्र होते हुए भी मुझे समझ नहीं पा रहे हैं। फिर भी भले ही आप मुझे न समझे। मैं अपने उन समस्त आलोचकों को जीवनभर स्नेह और सहानुभूति देता रहूँगा।'

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज के सम्वन्ध मे भी इसी प्रकार का सत्य है। उन के जीवन काल में उन के आलोचकों की और उन के प्रशंसको की सख्या कम नहीं थी। मैंने देखा है और सुना है, लोग उन की प्रशंसा भी अत्यधिक रूप में करते थे और आलोचना एवं निन्दा भी अत्यधिक रूप में करते थे। उन के जीवन-पात्र मे प्यार का अमृत डालने वाले की भी कमी नहीं थी। और उन के जीवन-पात्र को घृणा के जहर से भर देने वाले भी दुनिया मे बहुत थे, और बहुत हैं। अधिक क्या, उन की अपनी ही परिधि के लोग कभी-कभी उन की खुलकर आलोचना करते थे और आज भी करते हैं। परन्तु पण्डितजी महाराज के विमल मानस पर इस आलोचना और प्रशसा का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता था। अपने प्रशसकों के शब्दों को सुन कर वे यही कहा करते थे कि इन लोगो के मन में मेरे प्रति जो प्रेमभाव है, उसी को वे व्यक्त कर रहे हैं। अपने आलोचको की निन्दा को सुन कर वे कहा करते थे कि इन लोगों ने मुझे समझा ही नहीं है। मुझे समझे विना कोई व्यक्ति मेरे विचारो

की आलोचना करता है, तो उस आलोचना को मैं अपना विरोध नहीं, विनोद समझता हूँ।

एक बार की बात है, पण्डितजी और हम सब राजस्थान के एक नगर में थे। वहाँ पर नासमझी के कारण और कुछ ईर्ष्या बुद्धि के कारण पण्डित श्रीमलजी महाराज की कुछ आलोचना की गई। आलोचना का आधार यह था कि उन्हो ने अपने व्याख्यान में काले बाजार (ब्लॅक मार्केट) का विरोध किया था और साथ में यह भी कहा था–'मानव की प्रतिष्ठा का आधार धन नहीं, उनका चारित्र्य ही होना चाहिए।' उन्हों ने अपनी पुष्टि के लिए संस्कृत साहित्य में से एक श्लोक उद्धृत किया था जिस का भाव था "जो व्यक्ति पडौसियों के भूखे रहते हुए स्वय भोजन करता है, अपने समाज और राष्ट्र के लोगो का ध्यान नहीं रखता, वह व्यक्ति दंडनीय है।" इस बात को ले कर उन की व्याख्यान सभा में एक तूफान आ गया था और इस बात की शिकायत लोगो ने गद्दीधरों तक पहुँचा दी थी। पण्डितजी महाराज से जब पूछा गया कि आपने अपने व्याख्यान में यह सब कहा था? तब पण्डितजी महाराज ने उस सत्य को स्वीकार किया। तब गद्दीधरो ने कहा, भविष्य में आप अपने व्याख्यानों में जन-मानस को भडकाने वाली इस प्रकार की बातें न कहा करें। पण्डितजी महाराज ने स्पष्ट शब्दो में कहा, 'मैंने जो कुछ कहा है, वह सब न्यायसंगत व धर्मसगत है। मैं अपने विचारो के प्रति वफादार हूँ और जो कुछ अपने विचार हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने का मेरा अधिकार है।' परिणामस्वरूप कुछ लोगों की शिकायत के आधार पर गद्दीधरो ने पण्डितजी महाराज का व्याख्यान बन्द कर दिया। इस घटना का पण्डितजी के मानस पर कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडा। मैं ने उन से इस घटना के सम्बन्ध मे कहा–'यह अच्छा नहीं हुआ। इस प्रकार होना नहीं चाहिए था।'

पण्डितजी महाराज ने हँसते हुए उत्तर दिया, 'इस में बुरा क्या था ! यह होना ही चाहिए था।' उन्हों ने अपनी बात को पुष्ट करते हुए कहा, 'तुम नहीं समझते। प्रभात के आलोक में पहुँचने के लिए रात के अन्धकार में से होकर ही रास्ता जाता है। आलोक और प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमें अन्धकार से क्यो डरना चाहिए। सत्य यह है कि आलोक और प्रकाश का आनन्द उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अन्धकार से परिचित हो चुके हैं।'

कितना सुन्दर था उन का उत्तर। और कितना सन्तुलित था उन का मानस। अनुकूल परिस्थिति पर मुस्करानेवाले इस दुनिया मे कदम-कदम पर मिलते हैं, किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी डाली के काँटो में रहनेवाले गुलाब की तरह मुस्कराना हर किसी को नहीं आ सकता। पण्डितजी महाराज कभी-कभी अपनी मस्ती में आ कर उर्दू का एक शेर कहा करते थे–

"मंजिले हस्ती में दुश्मन को भी,
अपना दोस्त कर।
रात हो जाए तो दिखलावे,
तुझे दुश्मन चिराग।"

कितना सुन्दर, कितना मधुर और कितना सन्तुलित था उन का यह विचार! अपने आलोचको के प्रति उन के मन में उतना ही अधिक प्यार था, जितना अपने प्रेमी जनो के प्रति हो सकता है। इस प्रकार के प्रसंग उन के जीवन में हजारो आए हैं। किन्तु आलोचको की आलोचना और प्रेमी जनो की प्रशंसा उन्हे अपने पथ से कभी विचलित नहीं कर सकी। कभी-कभी अपने मन की मस्ती में आ कर विचार चर्चा के प्रसंग पर वे कहा करते थे, 'जीवन के प्याले को कटुता से मत भरो।

यदि भरना है और उन्हें खाली रखना तुम्हे अभीष्ट नहीं है, तो उसे मधुरता और प्रेम से ही भरो। भय और निराशा हमारे जीवन के विनाश करनेवाले तत्त्व हैं। इन्हें कभी भी अपनी मनोभूमि में अकुरित मत होने दो। जिस व्यक्ति के क्षितिज में निराशा का अन्धकार छा जाता है, वह प्रगति नहीं कर सकता और विना प्रगति वह अन्धकार को कैसे पार कर सकेगा? 'भय' यही हमारे मन का सब से बडा भूत है। जिस व्यक्ति के मानस को 'भय' के भूत ने पकड लिया है, वह व्यक्ति समाज की अन्ध परम्परा और रूढिवाद की कारागार से कभी भी मुक्त नहीं बन सकता। अतः सब से पहले अपने भय से लढो। अपने मन के भूत को विना पराजित किए तुम अपने जीवन में प्रगति और विकास नहीं कर सकते। हम बोलते बहुत अधिक हैं, पर करते कुछ भी नहीं।

कभी-कभी बातचीत के प्रसग पर उन के हृदय के उद्गार निकलते थे, जो वास्तव में उनके अपने मौलिक विचार थे। समाज की किसी भी स्थिति पर जब तक वे पर्याप्त चिन्तन नहीं कर लेते थे, तब तक कुछ बोलते नहीं थे। मैं ने देखा है कि कभी-कभी जब श्रमण संघ की विकट समस्या उपस्थित हो जाती थी, तब उसके सम्बन्ध में कोई व्यक्ति उन से पूछा करता, तो वे गभीर होकर मौन हो जाते थे। उत्तर पानेवाला व्यक्ति अगर अधीर हो कर अपना प्रश्न दोहराता, तब पण्डितजी महाराज कहा करते थे, 'अभी मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। कुछ सोचूँगा और सोचने पर जो विचार होगा आप को कह सकूँगा।' कभी-कभी समाज के तूफानो से, उपद्रवो से और कटुतामय वातावरण से ऊब कर कुछ परेशानी के स्वर में वे कहा करते थे, 'मुर्दे की लाश के सामने नाचना और गाना, ऊँचे दर्जे का पागलपन ही तो है।' इस प्रकार के वाक्य जो मानव जीवन के लिए कभी-कभी आदर्श प्रमाणित हो जाते है, उन के मुख से सहज रूप में निकल जाते थे। आप ने देखा,

इस छोटे से वाक्य में समाज के कटुतामय वातावरण का किस प्रकार वर्णन किया है।

प्रश्न और उत्तर :

कभी-कभी विचार-चर्चा के प्रसग पर यदि कोई व्यक्ति उन से पूछता कि मनुष्य को अपने जीवन का आदर्श क्या बनाना चाहिए और वह आदर्श कैसा होना चाहिए। प्रश्न के उत्तर में वे कहा करते थे, 'आदर्श बाहर में नहीं, अपने अदर में रहता है। बाहर तो उस अव्यक्त की अभिव्यक्ति मात्र की जा सकती है।' उन के इस वाक्य से एव कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना आदर्श स्वय ही सोचना चाहिए और स्वयं ही बनाना चाहिए। एक व्यक्ति का आदर्श सब के लिए न संभव ही है और न उपयुक्त ही। क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति भिन्न प्रकार की होती है। विभिन्न परिस्थितियों में रहनेवाले विभिन्न मानव यदि एक ही आदर्श पर चलते हैं, तो कहना चाहिए या तो वे बडे समझदार है अथवा बिल्कुल ना समझ है। किसी भी व्यक्ति के आदर्श का आधार उसकी अभिरुचि है। अपनी अभिरुचि के अनुकूल बनाया गया आदर्श ही वस्तुतः एक महान् आदर्श है।

एक बार जब कि हम जयपुर से सादडी सम्मेलन की ओर जा रहे थे, तब अजमेर में स्टेशन के पास 'लोढा धर्मशाला' में ठहरे हुए थे। कुछ युवक आए और पण्डितजी महाराज के साथ विचार-चर्चा होने लगी। एक युवक ने पूछा कि गरीब गरीब क्यो रहता है और अमीर अमीर क्यो होता जाता है? प्रश्न विचित्र अवश्य था। पर समाज की परिधि के बाहर का नहीं था। समाज में रहनेवाले व्यक्ति अमीरी और गरीबी के सम्बन्ध मे यदि कुछ सोचते-विचारते हैं, तो यह उन का हक है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में पण्डितजी महाराज ने महान् विचारक खलील जिब्रान का यह वाक्य सुनाया—' नरम-नरम मखमल की गद्दी पर सोनेवालों के स्वप्न कठोर धरती पर सोनेवालों के स्वप्नों से अधिक मधुर नहीं होते।'

इस वाक्य को सुनकर युवक बोले, ' आपने हमारे प्रश्न का अलंकारिक ढग से उत्तर तो दे दिया, परन्तु हम उसका अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं।' पण्डितजी महाराज ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा, ' मैं धन के आधार पर मानव–मानव में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करता। फिर भी सोचता हूँ कि समाज की स्थिति बडी विचित्र है धनवाले उन के धन के अहकार में जल रहे हैं, तो गरीब लोग अपनी दीनता की आग मे उलझते चले जा रहे हैं। समस्या एक समस्या है। इस का समाधान अगर आज नहीं खोजा गया, तो भविष्य में अवश्य ही खोजा जाना चाहिए।

' मानव की प्रतिष्ठा और पूजा का आधार धन न हो कर उस का विवेक और उस का आचरण ही होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने धन के आधार पर अपने को बडा मानने का अधिकार रखता है, वह भी गलत ह और जो व्यक्ति अपनी धन-हीनता के कारण अपने को दीन और हीन समझता है, वह भी गलत है। इस सम्बन्ध में मुझे दो रूपक याद आते हैं।

' एक बार जब कि सूर्य अस्ताचल पर जा पहुँचा था, और अपने प्रकाश को समेट ही रहा था कि एक जुगनू उधर उडता हुआ आया। उसे सूर्य बोला— क्यों मेरी बराबरी करने चला है? सूर्य के इस कथन में घृणा थी। सूर्य की बात सुनकर जुगनू सलज्ज हो कर मौन हो गया। सूर्य मे अपने तीव्र प्रकाश का अहंकार था। और जुगनू में भी अपने मन्द प्रकाश की हीनता।

'दूसरा रूपक इस प्रकार है– एक था पण्डित। अनेक शास्त्र उसने पढे थे। दूसरा भी एक पण्डित था। उसका ज्ञान उस की अपेक्षा कम था। एक वार दोनों एक स्थान पर आ कर मिल गए। वडे पण्डित ने छोटे पण्डित के अल्प ज्ञान का गर्व से हंस कर अपमान किया। छोटा पण्डित कुछ वोल नहीं सका। दोनों ही अपनी-अपनी आग में जल रहे थे। एक अपने अहंकार की आग में, तो दूसरा अपनी हीनता की आग में।'

आप ने देखा कि संपूर्ण संसार का यही स्वरूप है। प्रत्येक व्यक्ति आग में जल रहा है। कोई धन के अहकार की आग में, तो कोई विद्या के अहंकार की आग में, तो कोई क्रिया-काण्ड के अहंकार की आग में। मनुष्य को इस अहंकार और आत्महीनता से ऊपर उठना ही होगा। जव तक इन वुराइयो से ऊपर उठने का यत्न नहीं होगा, तव तक उस के जीवन का कुछ भी समाधान नहीं हो सकेगा। मनुष्य को अपने जीवन में आशावादी दृष्टिकोण रखना होगा। निराशावादी दृष्टिकोण रखने से समस्या सुलझती नहीं है, वल्कि अधिक से अधिक उलझती चली जाती है। इस सम्वन्ध में पण्डित श्रीमलजी महाराज कभी-कभी वातचीत के प्रसंग में एक वडा सुदर वाक्य वोला करते थे– 'वीज डालो, यह धरती तुम्हारे लिए फूल पैदा करेगी।' एक ही वाक्य में कितना सुदर और कितना मधुर आशावाद अभिव्यक्त गिया गया है। आज का मनुष्य अपने जीवन की धरती में वीज तो डालता नहीं, परन्तु प्रेम के और सम्मान के फूल प्राप्त करना चाहता है। वह शून्य मे से सव-कुछ प्राप्त करना चाहता है। पर सत्य यह है कि शून्य में से शून्य ही उपलव्ध हो सकता है। जो व्यक्ति कुछ भी प्रयत्न न करके सव-कुछ प्राप्त करना चाहता है, उस के भाग्य में कभी सफलता नहीं हो सकती।

प्रेम की परिभाषा :

मानव जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए प्रेम की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रेमहीन जीवन, जीवन नहीं हो सकता। मित्रता का आधार भी प्रेम ही तो है। और हमारी पारिवारिकता एव सामाजिकता का आधार भी प्रेम ही है। प्रेम एक ऐसा तत्त्व है, जो प्राणी-प्राणी मे और इस सृष्टि के कण-कण मे परिव्याप्त है। प्रेम और मित्रता के सम्बन्ध में भी पण्डितजी महाराज़ के अपने कुछ मौलिक विचार थे और कुछ मौलिक चिन्तन था। मित्रता के संबन्ध में एक बार उन्हो ने कहा था, 'मित्रता सदा एक मधुर उत्तरदायित्व है, न कि अपनी स्वार्थपूर्ति का अवसर।' इस वाक्य मे वह सब कुछ आ जाता है, जो आज तक मित्रता के नाम पर कहा गया है अथवा भविष्य में कहा जा सकेगा। याद रखो, मित्रता विना प्रेम के जीवित नहीं रह सकती। पण्डितजी महाराज सकाम प्रेम की अपेक्षा, निष्काम प्रेम को ही अधिक महत्त्व देते थे। उन का अपना विचार था कि प्रेम एक त्रिकोण तत्त्व है। उसका पहला कोण तो यह होना चाहिए कि उस मे दे कर के लेने की भावना नहीं होनी चाहिए। प्रेम का दूसरा कोण यह होना चाहिए, कि उस मे कहीं पर भी किसी भी प्रकार का भय न हो। तीसरा कोण जो सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि प्रेम की सीमा केवल परिवार या समाज तक नहीं, वल्कि संपूर्ण राष्ट्र और समग्र विश्वतक परिव्याप्त हो जानी चाहिए। प्रेम की परिभापा करते हुए खलील जिब्रान ने लिखा था, 'प्रेम एक दिव्य शब्द है, जिसे प्रकाशमय हाथ ने ज्योतिर्मय पृष्टपर लिखा है।' मैं समझता हूँ, प्रेम की परिभापा इस से अधिक सुदर और व्यापक दूसरी नहीं हो सकती। पण्डितजी महाराज जो प्रेम की परिभापा करते थे, उसका बहुत कुछ आधार और मेल उक्त परिभापा ही थी।

पूज्य-जनों पर आस्था :

पण्डित श्रीमलजी महाराज में एक विशिष्ट गुण यह था कि अपने प्रिय जन और विशेषतः अपने पूजनीय के प्रति उनके कोमल मानस में सीमाहीन आस्था और अगाध प्रेम रहता था। एक वार श्रमण संघ के भूतपूर्व उपाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के स्वर्गवास के कुछ दिनो के वाद मुझे लिखा था, 'याद रखना भी मिलन का एक रूप है। प्रिय जन को भूलने का जितना भी प्रयत्न होता है, वह उतना ही स्मृति मे आ जाता है। व्यक्ति के गुण युगान्तर के बाद भी उस की स्मृति को जगा देते हैं।' इस वाक्य में अपने पूजनीय व्यक्ति के प्रति उन के मन में कितनी गहरी आस्था और कितनी उज्ज्वल श्रद्धा थी। मैं जानता हूँ, पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के साथ वहुत-सी वातो मे उन के गहरे मतभेद थे। पूज्य श्री के विचारों मे और पण्डितजी महाराज के विचारो मे समानता कम थी और असमानता ही अधिक थी, यह कह दूँ, तो भी किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी। यह सव कुछ होने पर भी पण्डितजी महाराज उनका कितना आदर और सम्मान रखते थे, यह किसी के कहने से नहीं, मैंने स्वय प्रत्यक्ष देखा है। और एक वार नहीं, अनेक वार देखा है। कभी-कभी पण्डितजी महाराज को किसी कार्य को करने की इच्छा न होते हुए भी उन की इच्छा का आदर रखने के लिए उस कार्य को किया करते थे। अपने गुरुजनो के प्रति इतना समर्पण का भाव होते हुए भी पण्डितजी महाराज के अपने कुछ मौलिक सिद्धान्त और विचार भी थे। उदाहरण के लिए मै कह सकता हूँ— उपाचार्य श्री ने जव श्रमण संघ का परित्याग कर दिया, तव पण्डितजी महाराज के सामने एक समस्या थी। वे स्वय भी श्रमण संघ का परित्याग कर के उपाचार्यजी के अनुयायी वनें या श्रमण सघ मे ही वने रहें। यह एक विकट समस्या थी। उस समय उन के मन मे कितना आलोडन और विचारों का कितना मंथन चला

होगा। इस सत्य को एवं तथ्य को भले ही दूसरे लोग न समझ सकें, पर मैं स्वय अवश्य समझता हूँ। एक बार इसी प्रसंग पर उन्हों ने मुझे पत्र लिखा था और उस पत्र में अपनी इस दुविधा के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप में लिखा था। उस संपूर्ण पत्र की चर्चा करने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। परन्तु उस पत्र में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखा था, जो उन के मानसिक व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्रण करके रख देता है। 'जब हम सूर्य की ओर पीठ फेर लेते हैं, तब हम अपनी परछांई के सिवा और क्या देख सकते है?'

मैं समझता हूँ, इस एक ही वाक्य में उन्होने अपने समग्र मनोमन्थन को स्पष्ट कर दिया है। पूर्व की ओर चलनेवाला व्यक्ति यदि पश्चिम की ओर चल पडे, तो क्या वह अपनी परछाई को अपने आगे नहीं पा सकेगा? इस दिशा मोड में पण्डितजी महाराज का स्वयं का विश्वास नहीं था। अतः उन्हों ने श्रमण संघ मे ही बने रहने का उचित, युक्तायुक्त एव तर्कसंगत निर्णय लिया। भला, जिस श्रमण सघ के निर्माण मे उनका अथक परिश्रम रहा हो, उस श्रमण संघ के परित्याग की वे कल्पना भी कैसे कर सकते थे। वे' श्रमण संघ मे रहे और समय-समय पर श्रमण संघ की उलझनों को सुलझाने के लिए अपने जीवन की सुनहरी सन्ध्या तक योगदान देते रहे थे। श्रमण सघ से उन्हे कितना प्रेम था, इस सम्बन्ध में फिर कभी लिखूँगा। यहाँ पर तो केवल इतना ही बतलाना अभीष्ट है, कि श्रमण संघ के लिए उन्हों ने अपने प्रियजनों को भी छोड दिया था। इस सम्बन्ध में पण्डितजी महाराज के अपने व्यक्तिगत विचार ये थे, 'भले ही आप उपाचार्य पद पर न रहें, किन्तु श्रमण संघ का परित्याग करने का विचार न रखें।' परन्तु, पण्डितजी महाराज के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया। अपने प्रस्ताव का, सुझाव का स्वीकार न होने से उन के कोमल मानस को चोट तो अवश्य लगी, फिर भी उन्हों ने पूज्य

श्री गणेशीलालजी महाराज के प्रति अपनी आस्था और पूज्य भाव को किसी भी प्रकार कम नहीं होने दिया।

श्रमण-संघ पर निष्ठा :

जो व्यक्ति कभी प्रसंगवश अथवा विना प्रसंग के भी श्रमण संघ की निन्दा या आलोचना करता उसे वे कहते– 'आलोचना करना आसान है, किन्तु कुछ कर के दिखलाना उतना सरल और आसान नहीं होता। काम करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस कार्य के कभी अच्छे परिणाम भी हो सकते हैं, कभी कुछ थोडा-सा बुरा परिणाम भी आ सकता है। किन्तु हमें क्या इतने मात्र से ही अपने कार्य को बन्द करके निष्क्रिय वन कर रह जाना चाहिए? मनुष्य को शक्ति भर प्रयत्न करके अपने कार्य को संपन्न और सफल बनाने का अधिकार है। अव रहा आलोचना का प्रश्न। मैं समझता हूँ, प्रत्येक युग में आलोचक रहे हैं और भविष्य मे भी रहेंगे। यह जगत् कभी भी आलोचको से शून्य नहीं हो सकता।'

खलील जिब्रान, जो एक महान् दार्शनिक और कोमल मानस का कवि था, उस के युग में उस की आलोचना करनेवालो की कभी कमी नहीं थी। एक बार उस ने अपने आलोचको को उत्तर दिया था वह वडा ही शानदार था, और मानव जाति के इतिहास में वह उत्तर आज भी जीवित है —

> "We build palaces for you,
> And you dig graves for us."

अपनी मर्मभरी वेदना के साथ कितना शान्त और संतुलित उत्तर था। यह युग, युग-निर्माताओ को सदा से गाली देना चला आया है। किन्तु युग-निर्माता कभी भी इस प्रकार की वाल चेष्टाओं पर ध्यान नहीं देते। क्यो कि उन के मन में यह विश्वास होता है, हम जो कुछ कर रहे हैं,

वह जन-जीवन के विकास के और उत्थान के लिए है। युगांतरकारी पुरुषों ने सदा से जनता के लिए महल बनाए हैं। किन्तु जिस जनता के लिए उन्होंने राजमहलो का निर्माण किया, उस युग के कुछ लोग उन कल्याणकारी पुरुषों को दफनाने के लिए कब्र खोदने का कुप्रयत्न ही करते रहे हैं। संसार का इतिहास उस सत्य का साक्षी है। महल बनानेवाले आज-तक जन मानस की स्मृति में जीवित हैं। और कब्र खोदनेवालो का जन-मानस की स्मृति पटल पर कहीं पर भी नामोनिशान नहीं मिलता। जनकल्याण के लिए कुछ कार्य करनेवाले इतिहास मे सदा अजर अमर रहे हैं। और आलोचक इतिहासकारो की दृष्टि में सदा उपेक्षित रहे हैं। पण्डितजी महाराज इसी दृष्टिकोण को लेकर सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे निरन्तर कार्य करते रहे। जीवन की अन्तिम सन्ध्या तक उन का जीवन सक्रिय कर्मयोगी वना रहा। उस उज्ज्वल जीवन की स्मृति उन के भौतिक रूप मे न रहने पर भी जनमानस में व्याप्त है। यहाँ पर मै ने पण्डितजी महाराज के जीवन के कुछ संस्मरणो को अकित करने का प्रयत्न किया है। उनके जीवन के संस्मरण इतने अधिक व्यापक व फैले हुए हैं कि उन को एक ही निवन्ध मे बान्ध सकना कथमपि सम्भव नहीं है। क्या अपनी मस्ती में वहनेवाली सरिता की धारा को वान्ध सकना शक्य है? कदापि नहीं। पण्डितजी महाराज का जीवन एक शीतल, मधुर सरिता के तुल्य था, जिस मे पावनता ही पावनता थी। कहीं पर अपावनता या अपवित्रता नहीं थी। इस जीवन को मधुर और सुन्दर जीवन कहा जा सकता है।

◎ ◎

व्यक्ति और समाज

४

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य ने अपने जीवन में आज तक जितनी भी और जो कुछ भी प्रगति की है, वह सब समाज में रहकर ही। समाज से विछुडा हुआ मनुष्य किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं कर सकता। सस्कृति, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और विज्ञान में सब कुछ समाज के लिए ही है। और समाज में रहकर ही मनुष्य ने इन सब का चिन्तन, मनन और मन्थन किया है। अच्छा सामाजिक जीवन कौन-सा होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे एक दार्शनिक ने कहा था, 'ज्ञान और भावना का जो समन्वय है, उसी को हम एक सच्चा सामाजिक जीवन कह सकते हैं। समाज में रहनेवाले व्यक्ति को विवेकशील भी होना चाहिए और भावनाशील भी रहना चाहिए। ज्ञान और भावना का सुन्दर समन्वय ही हमारी सामाजिकता का मुख्य आधार है।' प्रश्न हो सकता है कि समाज क्या है और व्यक्ति क्या है? व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध हो सकता है और समाज का भी व्यक्तिसे क्या सम्बन्ध होता है? मेरे विचार में इस तथ्य को समझने के लिए सिन्धु और विन्दु का रूपक ठीक रहेगा। विन्दु-विन्दु से मिलकर सिन्धु बन जाता है। जब विन्दु अपने आप को सिन्धु मे

विलीन कर देता है, तब वह बिन्दु न रहकर सिन्धु बन जाता है। सिन्धु का अस्तित्व इन बिन्दुओ के सम्मीलन के आधार पर ही है। जिस प्रकार सिन्धु और बिन्दु में समन्वय आवश्यक है, इसी प्रकार व्यक्ति और समाज मे भी समन्वय आवश्यक है। समाजरूपी सिन्धु में प्रत्येक व्यक्ति एक बिन्दुरूप है। जब एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विलिनीकरण करके अपने आप को समाज मे समर्पित करता है, तब वह व्यक्ति न रहकर समाज बन जाता है। अणु न रहकर विराट बन जाता है। व्यक्ति समाज मे रहकर भी अपना कुछ यदि अस्तित्व रखता है, तब उस का आधार उस के मनका स्वार्थ ही होता है। स्वार्थमय व्यक्ति परिवार, समाज को नहीं अपने को ही सब कुछ मान बैठता है। जब व्यक्ति के जीवन की इस प्रकार की स्थिति हो जाती है, तब उस के जीवन मे से राम का नहीं, रावण का जन्म होता है। कृष्ण का नहीं, कस का जन्म होता है। व्यक्ति के मन की यह स्वार्थमयी वृत्ती तभी मिट सकती है, जब उस का जीवन सामाजिकता से ओतप्रोत हो जाए।

पडौसी से भी प्रेम :

मेरे विचार में वही समाज सुखी रह सकता है, जिस ने नैतिक गुणो को अपने में आत्मसात् कर लिया हो। अच्छा समाज एक स्वस्थ शरीर जैसा होता है। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अवयव का दर्द समस्त शरीर का दर्द माना जाता है, उसी प्रकार जब एक व्यक्ति का दुख-दर्द सपूर्ण समाज का दुख-दर्द माना जाएगा, उस सुस्थिति को मैं समाज का समाजवाद कहता हूँ। समाज और व्यक्ति में आत्मीयता का सम्बन्ध होना चाहिए। सब से अधिक सुखी समाज वह है, जिस में प्रत्येक व्यक्ति परस्पर हार्दिक सम्मान की भावना रखता है। समाज के सम्बन्ध मे पण्डित श्रीमलजी महाराज का अपना जो मौलिक विचार और मौलिक चिन्तन था, उस के

सम्वन्ध मे मैं यहाँ कुछ लिखना चाहता हूँ। समाज के सम्वन्ध में उन का अपना एक स्वतंत्र चिन्तन था। समाज के सम्वन्ध में एक वार विचार प्रसग मे उन्हो ने कहा था, 'तुम समाज के साथ ही ऊपर उठ सकते हो और समाज के साथ ही तुम्हें नीचे गिरना होगा। समाज की पूर्णता व्यक्ति की परिपूर्णता है और व्यक्ति की परिपूर्णता समाज की पूर्णता है। क्या हमारे शरीर का एक भाग—हमारा अपना हाथ अपने आप को शेष सपूर्ण शरीर से अलग रख कर वलसपन्न अथवा शक्तिसपन्न वना सकता है? कदापि नही।' हम देखते हैं कि इस में पण्डित श्रीमलजी महाराजने समाज और व्यक्ति के सम्वन्ध में अपने मूल विचारों को अभिव्यक्त कर दिया है। कभी-कभी वे कहा करते थे कि व्यक्ति-समुदाय परिवार है, परिवार-समुदाय समाज है, समाज-समुदाय राष्ट्र है और राष्ट्र-समुदाय ही सपूर्ण विश्व है। व्यक्ति पहले अपने में सीमित रहता है, फिर अपने से निकल कर परिवार मे फैलता है। परिवार से निकल कर समाज में फैलता है। समाज से निकल कर राष्ट्र मे फैलता है। अन्त मे अपने जीवन के विकास की चरम सीमा मे पहुँच कर वह विश्वव्यापी वन जाता है। परिवार और समाज इन दोनों का आधार व्यक्ति ही है। जब व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेम सम्वन्ध स्थापित हो जाता है, जिस को हम मित्रता कहते हैं, तव व्यक्ति एक से अनेक हो जाता है। एकत्व से अनेकत्व लाने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति में मित्रता का सम्वन्ध आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मित्रता के सम्वन्ध मे पण्डितजी महाराज के कुछ अपने निजी विचार थे। उन्हे यहाँ पर प्रस्तुत करना मै आवश्यक समझता हूँ। मित्रता क्या है और मित्र कैसा होना चाहिए? उनका उत्तर था, 'मैं उन्हीं को मित्र वनाना पसन्द करता हूँ, जो अपने जीवन मे चरित्र और व्यवहार के धनी हैं, जिन के जीवन में किसी भी क्षेत्र के प्रति निराशा की भावना नहीं होती है और जो समय का महत्त्व समझते हैं।

मित्रता को बनाए रखने के लिए मैं कुछ बातों का ख्याल रखता हूँ। जब किसी विषय पर मित्रो के साथ मतभेद हो जाता है, तब मैं उस मतभेद को इतना उग्र रूप नहीं देता कि परस्पर मे झगडा हो जाए। मेरा प्रयास गुरुजनों की सहायता से उग्र मतभेदो को दूर करने का रहता है। इस लिए मतभेद के समय भी मन को शान्त रखना और विवेक से काम लेना मित्रता कायम रखने का पहला उपाय माना जा सकता है।'

'जिस दूसरी बात का मै ख्याल रखता हूँ, वह है बराबरी का सिद्धान्त। मित्रों के साथ व्यवहार करते समय मैं इस बात का ख्याल रखता हूँ कि उन के मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न न हो कि मैं उन्हें निकृष्ट और अपने को उच्च मानता हूँ। मित्रो के मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होने से आपस में कटुता आती है और मित्रता टूट जाती है।'

'तीसरी बात है, मित्रों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करना और सहनशीलता बनाये रखना। हो सकता है, कभी किसी मित्र की मनः-स्थिति (Mood) ठीक न हो, और वह क्रोध मे अनुचित बात कह बैठे। यदि कभी ऐसा प्रसग उत्पन्न हो, तो हमें कभी उस का बुरा नही मानना चाहिए।'

'मेरा अपना विचार है कि मित्रो की सख्या बढाने की अपेक्षा मित्रता को ही और अधिक गहन और मधुर बनाना चाहिए।'

'मित्रता सस्कार का वह पवित्र सम्बन्ध है, जो भेद-भाव, जाति-पाँति और ऊँच-नीच का विचार किए विना जुड जाता है। मनुष्यों की मित्रता के बारे में कहा जा सकता है कि जब पशु-पक्षी तक आपस में मित्रता बनाए रखना चाहते हैं, तो मनुष्य एक बुद्धिमान व विवेकशील प्राणी है, वह क्यो न चाहेगा।'

विश्वव्यापी मैत्री :

'पर देखा जाता है कि सच्ची मित्रता निभाना वहुत कम लोग जानते हैं। और मित्रता का सम्बन्ध कुछ ही समय तक वना रहता है। उस की गॉठें ढीली पड जाती हैं और टूट कर विखर जाती हैं। प्रश्न हो सकता है कि मित्रता क्यो टूट जाती है? इस का कारण यह होता है कि लोग मित्रता निभाने के सही तरीके नहीं जानते और कुछ समय वाद ही मित्रता जैसी वहुमूल्य चीज से हाथ धो वैठते हैं। मित्रता वनाए रखने का पहला नियम है—अपने मन की अहंकार की कल्पना को विल्कुल निकाल देना। जिस मनुष्य में अहकार रहेगा, वह अपने आगे किसी को कुछ नहीं गिनेगा, और इस प्रकार की स्थिति मे मित्रता नहीं स्थापित हो सकती। साथ ही मेरा अपना विचार यह भी है कि किसी भी व्यक्ति से मित्रता प्रारभ करने से पहले अपने मन को निर्मल वना लेना चाहिए।'

'मित्रता वनाए रखने के लिए स्वार्थ-त्याग की भी आवश्यकता होती है। स्वार्थ-त्याग की भावना से मित्रता सुदृढ होती है। स्वार्थ मित्रता की भावना को कभी भी न तो उद्‌वुद्ध होने देता है और न पनपने देता है।'

'मैं प्रत्येक परिचित से मित्रता का व्यवहार करता हूँ, किन्तु कुछ लोगों को छोड कर उन से मित्रता का व्यवहार सीमित ही रहता है।'

'भावना के प्रवाह में वहकर किसी को अचानक मित्र वना लेना एक महा-मूर्खता है। क्यों कि मित्रता एक ऐसी कसौटी है, जिस से कर्तव्य और गुणो की परख होती है। अचानक मित्र वना लेने से कई लोग ऐसे भी मिलते हैं। जो मित्रता की आड मे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ही मित्रता गाँठते हैं। अतः मित्र के गुण और दोष दोनो को परख कर ही मित्रता जोडनी चाहिए।'

हमारी सामाजिकता :

'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उस के जीवन में मित्र और मित्रता का महत्त्व असाधारण होता है। परन्तु केवल परिचय कर लेना ही मित्रता नहीं है। मैं मित्रता और परिचय में कुछ अन्तर समझता हूँ। जब हम पहले-पहल किसी से मिलते हैं, तब उस से हमारा परिचय मात्र होता है। यही परिचय जब स्वार्थ शून्य हो जाता है, तथा अधिक बढ जाता है, तब वह मित्रता के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मित्रता को सच्ची मित्रता बनाने का उत्तरदायित्व दोनो पर समान भाव से रहता है।'

'एक सच्चा मित्र शताधिक और सहस्राधिक वरदानो से भी अधिक होता है। क्यो कि जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियो में मित्र के काम में मित्र ही आ सकता है, अन्य कोई नहीं।'

मनुष्य की सामाजिकता के आधार का एक दृष्टि बिन्दु है– विवाह। भारतीय-समाज और भारतीय-संस्कृति मे विवाह के सम्बन्ध मे हमारे प्राचीन ग्रन्थो में बहुत कुछ उपलब्ध होता है। उस सब को यहाँ पर उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतनी बात अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए कि विवाह भी एक मित्रता का ही रूप है। विवाह से पूर्व पति बननेवाला लडका और पत्नी बननेवाली लडकी, एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित ही रहते हैं। प्राचीन भारतीय परपरा के अनुसार उन का परिचित होना भी आवश्यक नहीं है। दोनो ओर के माता-पिता की इच्छा के आधार पर ही उन दोनो का जीवनव्यापी सम्बन्ध जोड दिया जाता है। हम समाज में देखते हैं कि उस के अच्छे परिणाम भी हो सकते हैं, तो बुरे परिणाम भी देखने में आते हैं। स्त्री और पुरुष में अथवा नर और नारी में एक दूसरे के प्रति जो समर्पण की स्वार्थ शून्य

भावना रहती है, उस भावना की अभिव्यक्ति ही यह विवाह है। विवाह एक प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध ही है। विवाह के सम्बन्ध मे पण्डित श्रीमलजी महाराज के जो कुछ थोडे बहुत विचार उनकी लिखित डायरी मे उपलब्ध होते हैं, उन मे से कुछ उद्धरण मै यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। 'विवाह नर और नारी का एक प्रेम सम्बन्ध है। मेरे विचार में नर और नारी के वैवाहिक जीवन में सामंजस्य का होना सब से अधिक महत्त्व की बात है। उन दोनो के सामंजस्य से स्नेह, एकात्मता और आत्मीयता का विकास होता है। असामंजस्य से घृणा, उद्धतता और वैमनस्य का आविर्भाव होता है। इस लिए विवाह से पूर्व सामंजस्य के सभी पक्षों पर गभीरता-पूर्वक विचार कर के नारी और पुरुष को जीवन के इस पवित्र बन्धन मे आबद्ध होने का प्रयास करना चाहिए।'

समाज का मनोविज्ञान :

'इस सामंजस्य के विकास में जीवन की अनेक ऐसी समस्याएँ रहती हैं, जिन का मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक अध्ययन आवश्यक है। क्यो कि आज के इस भौतिकवादी, अर्थप्रधान और राजनैतिक युग मे विवाह का आधार धर्म या कर्तव्य के बजाय अज्ञानता के कारण केवल एक अर्थहीन परम्परा और वासना बनता जा रहा है। इस स्थिति में इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक अध्ययन और भी आवश्यक हो जाता है।'

'आज का मनोविज्ञान मन की वृत्तियो का अध्ययन करके उस को दूर करने का प्रयत्न करता है। इन मानसिक ग्रन्थियो के अध्ययन से उन उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है, जिन के आधार पर पति और पत्नी का जीवन विपमतामय, कटुतामय और उलझनपूर्ण बनकर खण्ड-खण्ड हो जाता है। विवाह का मूल आधार खण्डता में अखण्डता लाने का था, किन्तु जब उस अखण्डता में खण्डता

आ जाती है, उस स्थिति मे पवित्र विवाह सम्बन्ध भी अपवित्र और कलुपित वन जाता है। अतः समस्या का समाधान मौलिक होना चाहिए।'

जीवन और विवाह :

विवाह के सम्बन्ध मे एक पाश्चात्य विद्वान ने एक वडा ही सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। वह कहता है– 'अच्छे स्वभाव की स्त्री के साथ विवाह जीवन के तूफान में बन्दरगाह है, और बुरे स्वभाव की स्त्री के साथ विवाह बन्दरगाह में ही तूफान है।' एक दूसरे विद्वान् ने भी विवाह के सम्बन्ध में एक बडी ही महत्त्वपूर्ण वात कही है। वह कहता है, 'प्रथम बार विवाह कर्तव्य है, द्वितीय बार मूर्खता और तृतीय बार पागलपन।' इस विद्वान् का यह कथन भारतीय सस्कृति से बहुत कुछ अशों मे मेल खा जाता है। क्यों कि भारत में अनेक महापुरुप और कुछ विशिष्ट व्यक्ति इस प्रकार के हुए जिन्हो ने एक पत्नी-व्रत का पालन किया था। राम, महावीर और बुद्ध इसी प्रकार के महापुरुप थे। उन्हो ने अपने जीवन का आदर्श उस युग की जनता के समक्ष रखा था। इस के विपरीत बहु विवाह प्रथा भी भारत में प्रचलित थी। भले ही वह कितने भी लम्बे समय तक प्रचलित रही हो, फिर भी वह भारत का उज्ज्वल आदर्श नहीं वन सकी। भारतीय सस्कृति का मूल आदर्श इसी में है कि दोनो एक दूसरे के जीवन में ओत-प्रोत हो कर, एक दूसरे के जीवन के अभाव मे एक दूसरे के पूरक हो कर, सुख और शान्ति के साथ रह सकें।

महाराष्ट्र के प्रख्यात लेखक साने गुरुजी अपनी पुस्तक 'भारतीय सस्कृति' में लिखते हैं, 'वैवाहिक जीवन एक तपोभूमि है। सहनशीलता और सयम खो कर कोई उस में सुखी नहीं रह सकता। पति-पत्नी को

एक दूसरे के साथ निष्ठा-पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। विवाह का मतलब केवल बाध्यता एव विवशता नहीं है। विवाह हृदय की वस्तु है, मन की वस्तु है, भावना की वस्तु है। विवाह का अर्थ दो शरीरो का सम्बन्ध मात्र नहीं होता। दो हृदयो का एक दूसरे में ओत-प्रोत हो जाना ही विवाह पद्धति का मूल आधार हैं। विवाह के अवसर पर वर और वधू का एक दूसरे के गले में माला डालने का अर्थ है, एक दूसरे का हृदय कुसुम एक दूसरे को अर्पित करना।'

साने गुरुजी ने विवाह के सम्बन्ध में जो कुछ अपने विचार रखे हैं, पण्डित श्रीमलजी महाराज ने भी विवाह के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार स्पष्ट रूप मे रखे हैं। पण्डितजी महाराज ने समाज के विभिन्न अगों पर कितनी गभीरता के साथ चिन्तन किया था, यह तथ्य उन के प्रवचनो से, लेखों से और कविताओं से भली-भाँति सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर प्रस्तुत प्रसंग विवाह का है। अतः विवाह के सम्बन्ध में उन के विचारों को स्पष्ट करना है। उन्हो ने विवाह के सम्बन्ध मे एक सप्त-सूत्री योजना अथवा नियमावली, या विवाह पद्धति अथवा विवाह के प्रसग पर एक-दूसरे से संबद्ध होनेवाले वर-वधू की सप्त-प्रतिज्ञाएँ तैयार की हैं, जो इस प्रकार हैं—

सात प्रतिज्ञाएँ :

"१. हम दोनों विवाह-ग्रन्थी मे बद्ध होने का शुद्ध चित्त से संकल्प करते हैं।

२. हम दोनो ने यह पवित्र संकल्प करने से पहले परस्पर एक-दूसरे को भली-भाँति समझ लिया है।

३. इस दापत्य-जीवन में हम दोनों धर्म-भाव से, त्याग-भाव से और सेवा-भाव से प्रवेश करने का संकल्प करते हैं।

४. विवाह के बाद हम दोनों पर पति-पत्नी के जीवन विकास की दृष्टि से तथा समाज व राष्ट्र के प्रति कर्तव्य की दृष्टि से जो उत्तरदायित्व आनेवाला है, उसका हमें पूरा-पूरा भान है। उस का भली-भाँति निर्वाह करने में हम सतत जागरूक रहेंगे।

५. हम दोनों मानते हैं कि मूलतः विवाह का उद्देश्य सह-जीवन विकास है। अतः हम दोनों धृति और प्रीति पूर्वक एक-दूसरे को निभाने के लिए वचन-बद्ध होते हैं।

६. हम दोनों पति-व्रत और पत्नी-व्रत की पवित्र भावना से एक-दूसरे के प्रति मन, वचन और कर्म से हमेशा सच्चे रहेंगे। और एक-दूसरे के विचार और कार्य मे सहायक होंगे।

७. हम दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख में, संपत्ति-विपत्ति में, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे सहायक रहने का सकल्प करते हैं।"

पण्डितजी महाराज की डायरी में यह सप्त-सूत्री मुझे उपलब्ध हुई है। इन सात प्रतिज्ञाओं से यह सिद्ध होता है कि पण्डितजी महाराज ने सामाजिक जीवन को और विशेषतः पारिवारिक जीवन को शान्त, सुखी और मधुर बनाने के लिए किस प्रकार का चिन्तन और मनन समय-समय पर किया था। पण्डितजी महाराज का यह भी विश्वास था कि परिवार-प्रेम का आधार अर्थ न हो कर, मानवता और एक-दूसरे के प्रति विशुद्ध प्रेम ही होना चाहिए। भारतीय-संस्कृति मे और विशेषतः वैदिक साहित्य में विवाह के सम्बन्ध में उस के नियम व उपनियमो की जो रचना की गई, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। जैन-धर्म और जैन-सस्कृति अत्यन्त निवृत्तिवादी होने से उस में इस प्रकार का विचार कुछ भी नहीं किया गया था। परन्तु उत्तरकालीन ग्रन्थो में इस विषय में कुछ लिखा अवश्य गया है, पर वह भी व्यवस्थित नहीं है।

और उस का प्रचार और प्रसार भी नहीं हो सका। बौद्ध साहित्
में भी विवाह के सम्बन्ध में कुछ विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इस क
अर्थ है कि जैन परपरा मे और बौद्ध परपरा में विवाह की प्रथा एव
पद्धति वैदिक परपरा के अनुसार ही चलती रही होगी। आज भी सपूर्ण
भारत में परिव्याप्त, जैन समाज में अधिकांश स्थानों पर विवाह की पद्धति
के सम्बन्ध में कुछ भी सुधार उपलब्ध नहीं होता। कुछ जैन विद्वानों ने
अवश्य ही जैन परपरा के अनुसार विवाह पद्धतियो की रचना की है
पर दुर्भाग्य से उस का प्रचार क्षेत्र अत्यन्त सीमित ही है। और जो कुछ
विवाह पद्धति महाराष्ट्र मे रह कर मेरे सुनने में आई है, उस में इतना ही है
कि सारी प्रथा वैदिक परपरा के अनुसार होती है, किन्तु अन्त मे दो-चार
संस्कृत श्लोक जैन परपरा के बोल दिए जाते है। जिन श्लोकों का उस
समय उच्चारण किया जाता है, वे वास्तव में विवाह की मूल भावना से मेल
ही नहीं खाते। इस की अपेक्षा तो मैं यह अच्छा समझता हूँ कि पण्डित
जी महाराज ने अपनी डायरी में वर और वधू की जो सप्त-प्रतिज्ञाएँ दी
हैं, उन्हे चालू करने का प्रयत्न किया जाए। पण्डितजी महाराज द्वारा
रचित सप्त-प्रतिज्ञाओं में पारिवारिकता, धार्मिकता व सामाजिकता इन
तीनो का समावेश हो जाता है।

विवाह के सम्बन्ध मे प्रसंगवश यहाँ पर कुछ लिखा गया है। परन्तु
हमें इस बात को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि भारतीय-संस्कृति
मूल में अध्यात्मवादी है। अध्यात्मवादी सस्कृति के अनुसार इन सब
प्रथाओ एव परपराओ का समन्वय करने का भी कुछ प्रयत्न किया गया
है। विवाह का आध्यात्मिक अर्थ है, शरीर पर ही प्रेम करने से सच्चा
प्रेम नहीं होता। देह के अन्दर स्थित आत्मा को पहचान कर, उस से
भेट करनी चाहिए। देह में रह कर भी देह से अतीत हो कर रहो।
पति जब अपनी पत्नी को केवल भोग की वस्तु न समझ कर, देवी

समझेगा और पत्नी जब पति को भोग की वस्तु न समझ कर, देवता समझेगी, तभी दोनो मे दिव्यता प्रगट होगी। भोग और विलास से विरक्त हो कर, देह में रहते हुए भी आत्मा को आत्मा से जोडना, यही विवाह का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ है। वैदिक परपरा के अनुसार विवाह के अवसर पर वर और वधू दोनों को जो अग्नि के चारो ओर परिक्रमा के रूप में घुमाया जाता है, उस परपरा का मूल अर्थ कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु उस का एक आध्यात्मिक अर्थ लिया गया है। उस प्रथा का आध्यात्मिक अर्थ है कि अग्नि के आसपास कदम से कदम मिला कर घूमने का अर्थ है—जीवन भर साथ-साथ चलना, एक दूसरे के साथ सहयोग करना। पति और पत्नी सुख तथा दुख में एक साथ रहेंगे। उन दोनो का जीवन परस्पर इतना सम्बद्ध है कि उन का उत्थान भी और पतन भी साथ ही साथ होगा। हमारी दीर्घकालीन इतिहास-परपरा में अनेको उदाहरण इस प्रकार के उपलब्ध होते है कि जब पतियों ने पत्नियो के जीवन को सम्भाला है और पत्नियों ने पतियो के गिरते हुए जीवन का उत्थान और विकास किया है।

आत्म कल्याण के साथ-साथ जगत् कल्याण की भावना रखना यह भारतीय समाज का और मुख्यतः जैन समाज एवं सघ का लक्ष्य रहा है। यदि व्यक्ति सुखी है और समाज दुखी है, तो दुखी समाज के प्रागण में जीवन-यापन करनेवाला सुखी व्यक्ति अपने सुख को स्थायी नहीं बना सकता। धर्म की आराधना और संस्कृति की साधना करने के लिए व्यक्ति में, परिवार में, परिजन में और संपूर्ण समाज में शान्ति, सुख और आनन्दमय वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। क्यो कि जब हमारे चारों तरफ अनीति, अशान्ति और अधर्म फैला हो, तब हमारी नीति, शान्ति और धर्म सफल नहीं हो सकते। मुझे जो कुछ आध्यात्मिक अनुभूति का सुख मिला हो, उसे मै अपने तक ही सीमित न रख कर

संपूर्ण समाज में बॉट दूँ, यही मेरी सामाजिकता है। मैं समझता हूँ, व्यक्ति सीमित भी है और असीम भी। जब व्यक्ति अपने में सकुचित होता चला जाता है, तब वह समाज से कट कर, परिवार से अलग हो कर और परिजनों से पृथक् हो कर एकाकी पड जाता है। परन्तु जब व्यक्ति विशाल बनता चला जाता है, तब वह अपने परिवार और परिजन तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि अपने आसपास में रहनेवाले पडोसियों के जीवन में भी इस की अभिरुचि जागृत हो जाती है। पशुवृत्ति से ऊपर उठ कर मानव वृत्ति और अन्त मे देव वृत्ति अपने मे विकसित करना ही मानव मात्र का लक्ष्य है। यह वृत्ति तभी संभव है, जब व्यक्ति केवल अपने ही सुख-दुख की बात न सोच कर परिजन, परिवार और समाज के सुख-दुख की बात सोचना प्रारंभ करता है।

यहाँ पर प्रसग के अनुसार मुझे याद आ रहा है– आप जानते हैं कि जब एक कुत्ता भी कहीं बैठना चाहता है, तब बैठने से पूर्व वह अपने पैरों से अपने आसपास की जमीन को साफ कर लेता है और उतनी साफ जमीन से सतुष्ट हो कर बैठ जाता है। परन्तु एक सच्चा इन्सान इतने में सतुष्ट नहीं होता। वह आवश्यक समझता है कि मेरी पूरी झोपडी साफ हो। जो इससे भी अधिक विकसित हैं, वे यही सोचते हैं कि केवल अपनी ही झोपडी को साफ करने से क्या होता है? यदि झोंपडी के आसपास मलमूत्र की गंदगी पडी रही, तो इस झोपडी की सफाई का कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। जो और अधिक विकसित होते हैं, वे सोचते हैं कि झोपडी के आसपास की सफाई से ही समस्या का हल नहीं है। समग्र ग्राम या नगर स्वच्छ और पवित्र करना होगा। यदि ग्राम और नगर की गली, पथ और बाजार गदगी से भरे रहते हैं, तो यह हमारी सामाजिकता का एक भयंकर दोष ही होगा। इस प्रकार मनुष्य धीरे-धीरे विकास कर के

अपनी परिधि से बाहर निकल कर समाज और राष्ट्र की उर्वर भूमि में अपने अच्छे संस्कार के वीज बोता चला जाता है।

सभी सुखी हों :

मैं समझता हूँ, और मैं ने देखा है कि पण्डितजी महाराज ने अपने कुछ विखरे हुए निबन्धो में और अपने द्वारा लिखित डायरियों में इस 'पडौसी धर्म' की ओर भी सूत्र रूप में अपने विचारों को सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया है–

१. 'सभी व्यक्ति समाज नहीं होते। प्रत्येक का स्वभाव, व्यवहार और चारित्र्य भिन्न होता है। अतः पडौसियों के रूप में आप का अलग-अलग प्रकार के व्यक्तियों से संपर्क आता है। पडौसी सद्भाग्य से अच्छा मिला तब तो ठीक ही है। कदाचित बुरा व्यक्ति या पडौसी आप को मिल जाए तब भी आप को उस के साथ प्रेम का व्यवहार कर के अपनी भलाई से उस की बुराई दूर करनी चाहिए।

२. यह तभी सभव है, जब हम इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखें कि हमारा पडौसी भी एक साधारण मनुष्य है, जिस में गुणों के साथ कुछ अवगुण भी हो सकते हैं। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आपका पडौसी भले ही मजदूर या किसान वर्ग में से क्यो न हो और आप स्वयं अच्छे व्यापारी या अधिकारी ही क्यों न हो, फिर भी आप एक पडौसी के नाते उस व्यक्ति के साथ प्रेममय व्यवहार ही करें। तभी आप अपने समाज में एक अच्छा पडौसी होने का अधिकार पा सकेंगे।

३ अच्छा पडौसी वनने के लिए दो गुणो की अत्यत आवश्यकता है। सहिष्णुता और उदार भावना। पडौसी की कडवी वात को भी जब आप एक मधुर मुस्कान के साथ चुपचाप सह लेते हैं, तव उस की दृष्टि मे आप का सम्मान और सत्कार पहले की अपेक्षा अधिक वढ जाता

है। आप के इस अधिक मधुर व्यवहार से कैसा भी वाचाल पडौसी आप को क्यो न मिला हो, उस की कैंची जैसी चलनेवाली जवान आप के सामने अनायास ही वन्द हो जाती है। फिर भविष्य मे वह किसी भी अवसर पर आप की अवगणना नहीं कर सकता।

४. अपने पडौसी के साथ, जिस के घर की दीवार हमारे घर के साथ लगी हुई है, अत्यन्त सावधानी से रहना आवश्यक है। यदि पडौसी हमारा मित्र वन कर रहता है, तव तो हमारा स्वयं का परिवार भी संस्कारी वना रह सकता है। यदि हमारे पडौसी ने हमारे विद्वेप और घृणा के विरोव में प्रतिक्रिया के रूप में विद्वेप और घृणामय वातावरण वना दिया है, तव हमारे परिवार की संस्कारिता को भय और खतरा पैदा हो जाता है। उस के लिए आवश्यक है कि आप अपने पडौसी से सदा एक जैसा व्यवहार रखे। यह न हो कि आप के घर पर आनेवाला पडौसी आप के दुर्व्यवहार से अपने साथ वुराई लेकर अपने घर लौटे। यदि ऐसा होता है, तो मै समझता हूँ कि आप में अच्छा पडौसी हो कर रहने की योग्यता और क्षमता नहीं है।

५. अपने आस-पास के पडौसियो के साथ, भले ही वे किसी भी परपरा के और पथ के क्यों न हो, सव के साथ स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग और सहकार की भावना रखना अच्छे पडौसी के धर्मो में परम आवश्यक है। आप अपने पडौसियों के सुख में ही नहीं, उन के दुख में भी और प्रतिकूल परिस्थिति में भी उन का हाथ वॅटाने के लिए सदा तैयार रहे। क्यो कि पडौसी के नाते आप अपने पडौसी की छोटी-मोटी सहायता करते है और विपम स्थिति में उसकी उलझी समस्याओ को सुलझाने का प्रयास करते है। आप अपने कर्त्तव्य का पालन तो करते ही हैं, और आप का पडौसी इस कर्त्तव्य-पालन की भावना से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। इतना ही नहीं, अपने पडौसी की सुविधा

और असुविधा का भी बडी सजगता के साथ ध्यान रखना मनुष्य का एक परम कर्तव्य ही नहीं, सामाजिकता भी है।

६. पडौसियों की भावना का समुचित आदर करना, उन से नम्रता से पेश आना, हर समय उन की सहायता करना, उन के सुख-दुख में हाथ बँटाना, उन के गुणो की समुचित प्रशंसा करना और किसी भी प्रसंग पर उन की नुक्ता-चीनी न करके प्रेम के साथ एवं मधुरता के साथ उन की भूलों की ओर सकेत करना–आप अपने इन्ही गुणों से अत्यत प्रिय पडौसी प्रमाणित हो सकते हैं। पडौसी सुख और दुख दोनों में हमारा साथी है।'

आपने देखा कि, पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपने जीवन काल में समाज, व्यक्ति और परिवारों के सम्बन्धो का कितनी सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण और परीक्षण किया था। निःसन्देह उन के ज्ञान की परिधि केवल शास्त्रोतक ही सीमित नहीं थी। उस से भी आगे वढ कर उन के ज्ञान की परिसीमा व्यक्ति, परिवार और समाज तक भी प्रवेश पा चुकी थी। हम ने जो कुछ सीखा है और जो कुछ पढा है, उस सब का प्रयोग और उपयोग करने के लिए समाज एक प्रयोग-भूमि रही है। महावीर और बुद्ध ने और इस युग के गांधी ने अपने मनोमन्थन से तथा अपने वर्षो के अनुभव से जो कुछ सिद्धान्त और विचार स्थिर किए थे, उन सब का प्रयोग और उपयोग उन्हों ने समाज और राष्ट्र के धरातल पर ही किया था। हमें इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए कि मानव की धरती से उत्पन्न होने वाले सिद्धान्त, धरती पर रहनेवाले मानवों के लिए ही होते हैं। जो व्यक्ति अपने विकास के लिए, व्यक्तिगत उत्थान के लिए प्रयत्न करता है, किन्तु परिवार, समाज एव राष्ट्र की उपेक्षा करता है, तब उसका यह विकास और उत्थान मानव की भूमिका न हो कर, दानव की भूमिका और पशु की भूमिका ही कहा जाएगा। मुझे

यहाँ पर ईसा के जीवन के एक मधुर संस्मरण का स्मरण हो आता है– एक वार ईसा के पास एक तरुण व्यक्ति आया और उन का अभिवादन कर के बोला, 'मैं आप के पास आप का शिष्य वनने की भावना ले कर आया हूँ।' ईसा ने उस युवक की ओर सौम्य दृष्टि से देख कर पूछा, 'क्या तुम अपने परिवार और परिजन के सभी सदस्यो को प्रेम करते हो?' युवक ने दृढता के साथ कहा, 'अवश्य ही, मेरे घर में मेरा सभी के साथ प्रेम है और सभी का मेरे साथ प्रेम है।' तव ईसा ने उस तरुण से दूसरा प्रश्न पूछा, 'क्या तुम्हारा उन पडौसियों के साथ भी प्रेम है, जिन के घर की दीवार तुम्हारे साथ सटी हुई है और जो वर्षों से तुम्हारे पडौस में रह कर तुम्हारे जैसा ही जीवन यापन कर रहे हैं?' युवक ने अव की वार कुछ शिथिल स्वर में उत्तर दिया, 'हाँ, मेरा प्रेम अपने पडौसियो के साथ अवश्य है। परन्तु एक पडौसी के साथ जिस के घर का दरवाजा ठीक मेरे घर के दरवाजे के सामने हैं, उस के साथ मेरा प्रेम नहीं है। क्यो कि मैं उस से घृणा करता हूँ और वह मुझ से घृणा करता है।' ईसा ने मुस्करा कर कहा, 'तव मै तुम्हे अपना शिष्य नहीं वना सकता। जरा विचार तो करो, मैं तुम्हारी जाति का नहीं, प्रान्त का नहीं, तुम्हारे ग्राम या नगर का नहीं हूँ, और तुम्हारा पडौसी भी म नहीं हूँ, फिर भी तुम मुझ से प्रेम कर के मेरा शिष्य वनना चाहते हो। पर याद रखो, जो व्यक्ति अपने पडौसी से प्रेम नहीं कर सकता, वह मेरा शिष्य वन कर मुझ से प्रेम कर सकेगा, इस में मुझे भारी सन्देह है। जाओ, अपने घर लौट जाओ और पहले अपने पडौसी से प्रेम करना सीख लो। जो व्यक्ति अपने पडौसी से प्रेम करने में सफल होता है, वही व्यक्ति प्रेम के पथ पर आगे वढ कर समाज, राष्ट्र और विश्व को अपने प्रेम का अमृत प्रदान कर सकता है।' ईसा के इस कथन में कितना सत्य है!

पन्थवाद से दूर :

पण्डित श्रीमलजी महाराज के विचार कितने उज्ज्वल, कितने उदात्त हैं। उन का यही विचार था कि सम्प्रदाय और पन्थ तथा जातीय भावना भी अखण्ड मानव समाज को खण्ड-खण्ड में विभक्त कर डालती है। वे अपने उपदेशों में, अपने लेखो में और अपनी कविताओं में सम्प्रदाय, पन्थ, दलबन्दी और कटुतामय जातीय वाद का सदा विरोध करते रहे थे। मैं यहाँ पर उन के द्वारा लिखित उन्हीं के निबन्ध में से कुछ अश अपने प्रेमी पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत करता हूँ, जिस से पाठक पण्डितजी महाराज के विचारो को ठीक रूप में समझ सकें।

१. 'जब हम सम्प्रदाय, पन्थ एवं जातीय भावनाओ से ऊपर उठ कर निष्पक्ष दृष्टि से सोचते हैं, तब यह स्पष्ट होता है कि धर्म साम्प्रदायिक अभिनिवेशों, साम्प्रदायिक परंपराओ एवं साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डो में ही बंद नहीं है। यह सब धर्म के साधन हो सकते है। वस्तुतः धर्म–समभाव को जीवन में साकार रूप देना और व्यवहार में लाना है। जिस परंपरा मे, मान्यता में, धारणा मे या क्रिया-काण्ड में समता के स्थान में विषमता के दर्शन होते हैं, जिस के द्वारा समाज और सघ में विषमता का वातावरण फैलाया जाता है, वह कदापि धर्म नहीं है। धर्म कभी भी घृणा करना नहीं सिखाता, एक दूसरे का तिरस्कार करना नहीं सीखाता, संघ में भेद करना नहीं सिखाता। धर्म की एक ही सीख है, शिक्षा है– सब के साथ मैत्रीभाव रखो, सब से प्रेम करो, सब का आदर करो और भेद में भी अभेद दृष्टि रखो।

२. व्यक्ति के सामने परिवार, परिजन, समाज, जाति, प्रान्त, देश और भाषा आदि का रूप केवल व्यवहार चलाने के लिए एवं अहिंसा, सहिष्णुता और समता को आगे बढाने के लिए हैं। व्यक्ति के पास दो तरह की शक्तियाँ है–विचार शक्ति और आचार शक्ति। विचार, व्यक्ति के

मानसिक चिन्तन का फल है। चिन्तन की कोई सीमा नहीं है। व्यक्ति विचार की अपेक्षा प्राणी के साथ समभाव रख सकता है। परन्तु आचार की शक्ति सीमित है। व्यक्ति चाहते हुए भी अपने सपूर्ण विचारों को पूर्णतः व्यवहार में नहीं ला सकता। आचार के क्षेत्र में वह धीरे-धीरे आगे बढता है। इस लिए सब से प्रथम वह साधना भेद से प्रारंभ करता है और धीरे-धीरे अभेद की ओर बढता है। क्यों कि उसका लक्ष्य भेद से अभेद की ओर बढने का है। अथवा यह कहिए कि वह पारिवारिक आदि घेरो तक सीमित समभाव को प्राणी-जगत् तक जोड देता है। तब केवल एक परिवार ही उस का अपना नहीं रहता, बल्कि सारा संसार ही उस का अपना हो जाता है।

३. समभाव का साधक अपने आप को किसी परिवार, समाज, सम्प्रदाय एवं पन्थ विशेष में बाँध कर नहीं रखता, वह संपूर्ण विश्व को, समस्त प्राणी-जगत् को अपने ही रूप में देखता है। परिवार, समाज और सम्प्रदाय आदि तो उस के लिए पाठशाला है। जैसे विद्यार्थी प्रारभ मे प्रथम श्रेणी से अपना अभ्यास प्रारभ करता है और विकास करते-करते एम. ए. और पीएच्. डी. तक आगे बढ जाता है, वैसे ही साधक भी पहले-पहल परिवार एवं सम्प्रदाय से अपनी साधना प्रारभ करता है, और समभाव की साधना को परिवार, समाज, सघ और राष्ट्र से आगे बढाते-बढाते विश्व-व्यापी बना देता है। फिर भी वह एक स्थान विशेष में रहते हुए भी सपूर्ण विश्व का हो कर रहता है। वह अपने पास रहने वाले व्यक्ति को ही नहीं, समग्र विश्व के समस्त व्यक्तियों को ही अपना मानता है। वह जो कुछ सोचता है, जो कुछ कहता है और जो कुछ करता है, वह किसी व्यक्ति विशेष अथवा सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं, प्रत्युत प्राणी जगत के हित के लिए करता है, जन-जन के कल्याण के लिए करता है।

पण्डितजी के द्वारा लिखित निबन्धों में सम्प्रदाय और पन्थ के सम्बन्ध में जो विचार अभिव्यक्त किए गए हैं, वे वस्तुतः उन के गंभीर चिंतन का और गहन अनुभव के ही प्रतीक हैं। वे स्वयं भी एक सम्प्रदाय विशेष में ही आबद्ध थे, परन्तु प्रारंभ से ही उन का पवित्र मन और उन का पावन-पुनीत विचार उन के अंतरंग में पंथवाद और सम्प्रदायवाद का विद्रोही रहा था। और जीवन के अन्तिम क्षणों तक उन्हों ने समय-समय पर अपनी वाणी के द्वारा, अपनी लेखनी के द्वारा और अपने व्यवहार के द्वारा, यह प्रमाणित कर दिया कि भले ही उन का जीवन किसी सम्प्रदायविशेष से संबद्ध रहा हो, परन्तु उन की अन्तरंग आत्मा ने इस को कदापि स्वीकार नहीं किया।

◎ ◎

५

आज संस्कृति शब्द की साहित्यिक क्षेत्र में जो विविध प्रकार की परिभाषा और व्याख्या की जा रही है, वह वस्तुतः संस्कृति शब्द को नहीं बढाती है, बल्कि उस की लोकप्रियता की ओर भी संकेत करती है। सस्कृति और सस्कार दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है। संस्कार शब्द के स्थान पर परिष्कार शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मेरे अपने विचार मे संस्कृति की उस सरिता को जो अपनी मंद-मद गति से और कभी-कभी अपनी तूफ़ानी गति से अपने उद्‌गम स्थान से लेकर अपने लक्ष्य-बिन्दु महासागर में मिलने तक निरन्तर प्रवाहित रहती है। इसी लिए मै कहता हूँ कि सस्कृति की सरिता शब्दो में बाँध कर रख सकना कठिन है। सस्कृति, संस्कृति है, वह एक की हो कर भी अनेक की है, और अनेक की हो कर भी एक की है। गंगा का विमल जल उसी का है, जो उसे अपने पात्र मे भर सके। परन्तु ध्यान में रहे कि गंगाजल उतना ही नहीं है, जितना किसी व्यक्ति ने उसे अपने पात्र में भर लिया है। सत्य यह है कि जो कुछ उस ने अपने पात्र में भरा है, गगा की जलराशि उस से कहीं अधिक विशाल और व्यापक है।

संस्कृति की परिभाषा :

यही सत्य संस्कृति के सम्बन्ध में भी लागू होना है। संस्कृति अपने आप में एक अखड वस्तु होते हुए भी, उस के पूर्व हम कोई विशेषण लगा देते हैं, जैसे एशियाई-संस्कृति, यौरुपीय-सस्कृति। उस से भी अधिक हम संस्कृति के और छोटे-छोटे विभाग बना सकते हैं, जैसे भारतीय संस्कृति—और उस में भी जैन-सस्कृति, बौद्ध-सस्कृति, वैदिक-संस्कृति। परन्तु मेरे विचार में भारतीय-संस्कृति में इन तीनो का समावेश समन्वय की बुद्धि से बडी सुन्दरता के साथ किया जा सकता है। यह भी सत्य है कि भारतीय-संस्कृति विश्व-सस्कृति से भिन्न नहीं है। संस्कृति शब्द में ही विरोध और भेद का भाव समाप्त हो जाता है। संस्कृति मनुष्य के उत्थान की क्रिया है। वह जीवन का एक अविरोध सत्य है। और उसे प्राप्त करने के लिए ही विश्व के सभी राष्ट्र प्रयत्न-शील हैं। जब हम संस्कृति के साथ भारतीय शब्द जोडते हैं, तब उस का विशिष्ट अर्थ होता है कि हम उस संस्कृति की बात करते हैं, जो भारतीयों के द्वारा किए गए उन सभी प्रयत्नो को, जो विश्वबन्धुत्व, विश्वव्यापी मानवता और विशुद्ध आध्यात्मिकता की दृष्टि से किए गए हो। सीधी-सादी भाषा में और सरल वाक्यों में यदि भारतीय-सस्कृति का सार देने का प्रयत्न किया जाए, तो उस का अर्थ यही होगा, भारत के जन-जन के मन-मन में जो विचार और आचार के सुन्दर सस्कार हैं, जो अभी तक अव्यक्त थे, उन अव्यक्त तत्त्वो को व्यवस्थित रूप में अभिव्यक्ति देना। विचार की अभिव्यक्ति आचार में होती है और आचार की अभिव्यक्ति विचार में परिलक्षित होती है। हम जो कुछ अन्दर में हैं, बाहर में उस का वैसा ही प्रतिबिंब पडता है। मनुष्य का बाह्य जीवन और उस के जीवन का आन्तरिक पक्ष समन्वित और सन्तुलित रहना चाहिए। स्वभाव की गभीरता और मन की समता संस्कृति के अन्तिम

पाठो मे से एक है। और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली और समग्र-जन चेतना को एक सूत्र में बान्ध देने वाली शक्ति है।

संस्कृति और सभ्यता :

एक बात ध्यान में रहे, संस्कृति और सभ्यता में अन्तर है। सभ्यता को अंग्रेजी में Civilization कहा जाता है, और संस्कृति वह है, जिसे अग्रेजी में Culture कहा जाता है। सभ्यता और संस्कृति, क्या परस्पर दोनो असम्बद्ध है अथवा दोनो परस्पर सम्बद्ध है? इस विवादग्रस्त प्रश्न के सम्बन्ध में विभिन्न देशो के विभिन्न विचार रहे हैं और रह सकते हैं। परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि सभ्यता और संस्कृति दोनो एक नहीं हो सकते। संस्कृति हमारे जीवन का विचार पक्ष है और मेरे विचार में हमारे जीवन का आचार पक्ष भी हमारी संस्कृति में समाहित हो जाता है। सभ्यता का अर्थ है– समाज की बाह्य रचना विशेष, जिस में वेष-भूषा, भाषा और हमारे दैनिक जीवन का व्यवहार समाविष्ट हो जाता है। जहाँ संस्कृति रहती है, वहाँ सभ्यता रहेगी ही। किन्तु सभ्यता रहती है, वहाँ संस्कृति अनिवार्य रूप में रहे, यह आवश्यक नहीं है। संस्कृत व्यक्ति सभ्य होता ही है, परन्तु सभ्य व्यक्ति संस्कृत हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। जब हम संस्कृति का अर्थ संस्कार करते हैं, तब प्रश्न खडा हो जाता है कि संस्कार किस का? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का संस्कार, समाज का संस्कार और समग्र राष्ट्र का संस्कार। सम्पूर्ण समाज के घटक समग्र व्यक्तियो का जीवन यदि सस्कारित हो जाता है, तो यह सम्पूर्ण समाज का ही संस्कार हो गया। और सम्पूर्ण समाज का संस्कार ही समस्त राष्ट्र का संस्कार है। इस प्रकार संस्कृति का मूल स्रोत व्यक्ति से प्रारम हो कर यह धारा धीरे-धीरे आगे बढकर, परिवार और समाज में से हो कर सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व में परिव्याप्त हो जाती है।

संस्कृति के सम्बन्ध मे पण्डितजी महाराज ने अपनी एक डायरी में लिखा है, 'संस्कृति शब्द का उद्गम सस्कार शब्द से हुआ है। संस्कार का अर्थ वह क्रिया है, जिस से वस्तु के दोष दूर हो कर वह शुद्ध बन जाती है। व्यक्ति समाज और राष्ट्र का सशोधन एव सस्कार करता है। जीवन की उस शक्ति को सस्कृति कहा जाता है। सस्कृति हमारे जीवन मे से ही प्रगट होती है। सस्कृति का प्रयोजन भी जीवन के लिए ही है। मानव जीवन में ही सस्कृति साकार रूप मे प्रकट होती है। आज तक किसी भी मानवेतर प्राणियो में सस्कृति उत्पन्न हुई हो, यह संभव नहीं है। इस अपेक्षा से संस्कृति मानव जीवन का ही एक प्रगतिशील तत्त्व है। सस्कृति और सस्कार, हम कुछ भी क्यों न कहे, किन्तु हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाने की जो कला हमें प्राप्त हुई है, वही हमारी सस्कृति है।

संस्कृति के विकास में योगदान :

मानव जीवन का आदर्श मस्कृति है। इस आदर्श रूप को प्राप्त करने के लिए जिन लोगो ने प्रयत्न किए हैं, उन्हों ने सस्कृति के निर्माण में योग दिया है। वर्तमान समय में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से विरोध, एक जाति का दूसरी जाति से विद्वेष, एक देश का दूसरे देश से युद्ध, हमारे विरोधात्मक भावो का ही परिचायक है। इन विरोधो को बल देने वाले लोग और इन विरोधों को सफल बनाने वाले आज के विज्ञान युग के अस्त्र-शस्त्र निश्चय ही हमारी मानवतावादी संस्कृति के लिए घातक हैं। सस्कृति का उपासक समग्र मानव-जाति में विश्व-बन्धुत्व भावना का ही दर्शन करता है। यदि विश्व के मानव अपने ही हृदय में रहने वाले बन्धुत्व भाव को न देख सकें, उसे मनुष्य कहलाने का अधिकार नही। मनुष्य-मनुष्य के बीच देश, जाति, वर्ण और रग किसी भी प्रकार का भेद संस्कृति को स्वीकार नहीं है।

संस्कार का मन से गहरा सम्बन्ध होता है। मन के संस्कृत होने पर आचरण भी संस्कृत हो जाता है। इस का अर्थ यह है कि हम जो कुछ अपने अन्दर में हैं, वैसा ही हम बाहर में प्रकट होते हैं। हमारी संस्कृति का अर्थ है कि हम समाज रूपी सरोवर में इसी प्रकार निर्लिप्त रहे, जिस प्रकार सरोवर में कमल। कमल अनासक्ति का प्रतीक है। मनुष्य को अपना जीवन कमल के समान बनाना चाहिए, जो जल में रहकर भी जलकणों से अलिप्त रहता है। कमल पंक में उत्पन्न होता है, इसी लिए उसे पंकज भी कहते हैं। पंक में कोई सौंदर्य नहीं होता, किन्तु उसी से उत्पन्न पंकज को देख कर मनुष्य का मन प्रसन्न हो उठता है। हमारे साहित्य में इसी अभिप्राय को ले कर कहा गया है कि भारतीय-संस्कृति का मुख्य प्रतीक कमल ही हो सकता है।"

शील और संस्कृति :

संस्कृति को समुज्ज्वल बनाने के लिए मनुष्य में शील की बड़ी आवश्यकता है। शील ही मनुष्य का भेदक तत्त्व है। शील हीन मनुष्य में और पशु में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं रहता। यह शील मानव जीवन की कसौटी है, जिस पर मानव जीवन के खरेपन और खोटेपन को परखा जाता है। शील हमारे विकास का मूल आधार है। मानव जाति के प्रारंभ से लेकर आजतक के इतिहास में मानवी मन की उद्दाम वृत्तियों को संयमित करने के लिए, यदि कोई नियम सफल हुआ है, तो वह शील ही है। शील शब्द बहु व्यापी, अनेक अर्थों में, विश्व के विभिन्न साहित्य में प्रसार और प्रचार पाता रहा है। वैदिक-संस्कृति में यह पाँच यम के रूप में प्रसिद्ध है। बौद्ध-संस्कृति में यह पंचशील के रूप में विश्व-विख्यात हो चुका है। और जैन-संस्कृति में यह युग-युग से पाँच महाव्रत के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। इस

प्रकार यम, महाव्रत और शील मानव जीवन के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। शील से हमारी सस्कृति का सम्बन्ध आज से नहीं, प्रारम्भ से ही रहा है। शील शून्य सस्कृति संस्कृति नहीं, वह सभ्यता ही कही जा सकती है। आत्मा के सम्बन्ध में तथा उस के विभिन्न दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में भी विचार करना पडता है। सस्कृति के मुख्य रूप में दो ही भेद हो सकते हैं– भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। भौतिकवादी सस्कृति का प्रसार यूरोप में अधिक हुआ है, जब कि अध्यात्मवादी सस्कृति का मूल भारत में और एशिया में व्याप्त होकर, आज विश्वव्यापी रूप लेने की तैयारी में है। इस का कारण यह है कि भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसार सस्कृति हमारे अन्दर ही उत्पन्न होती है। हमारा विचार और आचार ही संस्कृति बन जाता है। इस के विपरीत यूरोप में विचार का और आचार का किसी भी प्रकार का समन्वय दृष्टि गोचर नहीं होता। यूरोप में विचार विचार है, और आचार आचार है। डार्विन और लामार्क ने एक विकासवादी संस्कृति को भी जन्म दिया था। विकासवाद का यह सिद्धान्त है कि आज के मनुष्य का विकास उसके पूर्वज वन्दर में से हुआ है। उन लोगो का तर्क है कि मनुष्य और बन्दर की आदत, स्वभाव और क्रिया कलाप में वहुत-कुछ समानता है। लामार्कवादी और डार्विनवादी सस्कृति के अनुसार मनुष्यत्व अन्दर की वस्तु नहीं, बाहर की वस्तु है। परन्तु भारतीय सस्कृति कहती है, मनुष्य अतीत में भी मनुष्य था, वर्तमान में भी मनुष्य है और अनन्त भविष्य में भी मनुष्य ही रहेगा। भारतीय-सस्कृति शरीर पर केन्द्रित न होकर आत्मा पर ही केन्द्रित होती है। इस के विपरीत डार्विन और लामार्क की सस्कृति शरीर पर और उस के भौतिक उपकरणो पर स्थिर होती है। यही कारण है कि पूर्व और पश्चिम की सस्कृति में मेल नहीं बैठ पा रहा है। क्यों कि भारतीय सस्कृति अन्दर की ओर देखती है और यूरोप की संस्कृति बाहर की

ओर। जो व्यक्ति अथवा जो जाति अपने विखरे हुए सौंदर्य को एवं माधुर्य को व्यवस्थित एकत्रित करने की कला नहीं जानती, वह अपने जीवन की धरती पर कभी भी सस्कृति के कल्प-वृक्ष को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित नहीं कर सकती। भारतीय-सस्कृति और विश्व की अन्य सस्कृतियो में एक दूसरा भी मौलिक भेद है। भारत के वाहर की अन्य संस्कृतियाँ एकान्त भेद मूलक हैं, या एकान्त अभेद मूलक। यद्यपि भारत में भी कुछ परपराएँ एकान्त भेद और एकान्त अभेद का प्रचार और प्रसार करती रही हैं, तथापि अपने मूल रूप में भारतीय-सस्कृति भेद में भी अभेद को और अभेद में भी भेद को लेकर ही आगे वढती है। हमारा जीवन न एकान्त भेद-वाद में प्रगतिशील हो सकता है, न एकान्त अभेदवाद में ही। जीवन का प्रशस्त और शान्तिमय मार्ग यही है कि हम सव अतिवादो को छोडकर मध्यमवाद को ही स्वीकार करें। मध्यमवाद ही अनेकान्तवाद, समन्वयवाद और अपेक्षावाद का मूलभूत आधार विन्दु है। व्यक्ति हो, समाज हो अथवा राष्ट्र हो, जहाँ कहीं भी हमें सघर्ष, द्वन्द्व और वैमनस्य दृष्टिगोचर होता है, उस सव के मूल मे यह अति-वाद ही है।

संस्कृति का मूल मध्यम मार्ग :

जैन संस्कृति का मध्यम-वाद ही समग्र समस्याओं का एक मात्र समाधान हो सकता है। एकान्त क्रियावाद और एकान्त ज्ञानवाद से कभी किसी की वन्धन-मुक्ति नहीं हो सकती। एकान्त क्रिया के हठ को छोड कर और एकान्त आग्रह को दूर कर, जव हम ज्ञान और क्रिया का सन्तुलित समन्वय कर के जीवन की साधना प्रारभ करते हैं, तव हमारा जीवन पावन और पवित्र वन जाता है। कभी भी किसी को भी एकान्त-वाद और अतिवाद से जीवन की उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकती।

यह एक हमारी संस्कृति का विशिष्ट आदर्श है कि वह अतिवाद को छोड कर मध्यम मार्ग को स्वीकार कर के ही अग्रसर होती है। मुझे यहाँ पर एक रूपक याद आ जाता है। एक व्यक्ति जब वीणा बजाने बैठता है, तब उस में से संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ फूट निकलती है, जिस को सुनकर सृष्टि का कण-कण आनन्द में डोलायमान हो जाता है। परन्तु प्रश्न है, वीणा में से मधुर स्वर लहरी कब निकलती है। जब की वीणा के तार न अत्यन्त ढीले हो और न अत्यन्त कसे हुए हो। यदि तारो में ढीलापन होगा तो भी वीणा से स्वर निकलने वाला नहीं है। यदि उसे अत्यधिक कस दिया जाए, तब भी उस में से संगीत की माधुरी के स्वर नहीं निकल सकेंगे। वीणा के तारों में कुछ लचक भी चाहिए और कुछ कसक भी चाहिए। हमारे धर्म, सस्कृति और जीवन की भी यही स्थिति है। जीवन को यदि अधिक खींच कर बाँध दिया जाए अथवा उसे बिल्कुल ढीला छोड दिया जाए, तो उस में से वीतराग भाव की मधुर स्वर लहरी कभी भी प्रगट नहीं हो सकती। वीतराग भाव और समभाव हमारी संस्कृति की आदि में, मध्य में और अन्त में सर्वत्र परिव्याप्त है। हमारी सस्कृति इस वीतराग को और समभाव को जन जीवन में उतारने का समन्वयवादी दृष्टिकोण उपस्थित करती है, जिस मे दो अन्त-बिन्दुओ को छोड कर एक मध्य-बिन्दु पर ही आना पडता है। दार्शनिक युग में इस बात का संघर्ष था कि आत्मा नित्य है अथवा अनित्य। दोनों पक्ष अपनी ओर से तर्क प्रस्तुत कर के अपने-अपने पक्षों को परिपुष्ट कर रहे थे। वेदान्त एकान्त नित्यवादी था, और बौद्ध दर्शन एकान्त अनित्यवादी। भगवान महावीर ने उन दोनों अन्तो को एवं उन दोनों अतिवादों को छोडने की शिक्षा दी और सत्य एव तथ्य को प्राप्त करने के लिये मध्यमवाद का ही उपदेश दिया। यह मध्य बिन्दु ही हमारी सस्कृति का मूल आधार-बिन्दु बन गया। एकान्त क्रियावाद ज्ञानशून्य

हो जाता है। और एकान्त-ज्ञानवाद क्रियाशून्य। भगवान ने इन दोनो अतिवादो मे से किसी को भी मुक्ति का मार्ग नहीं कहा। ज्ञान और क्रिया में जो मध्यमवाद है, जो समन्वयवाद है और जो अनेकान्तवाद है अथवा जो अपेक्षावाद है, वही मोक्ष अथवा मुक्ति या सत्य का पथ है। हमारी संस्कृति का यही मूल दृष्टिकोण रहा है।

संस्कृति की तीन धाराएँ :

भारतीय-संस्कृति एक होते हुए भी उस में तीन धाराएँ प्रवाहित हुई है। एक ही धारा तीन धाराओ में विभक्त हो कर भी उस का मूल उद्‌गम और लक्ष्य प्रायः एक जैसा ही रहा है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस में कुछ भेद नहीं है। वास्तव में भारतीय विचार प्रवाह वैदिक, जैन और बौद्ध रूप में विभक्त हो कर भी अपने मूल रूप में उस के दो रूप ही स्पष्ट परिलक्षित होते हैं, जिस को हम श्रमण-संस्कृति और ब्राह्मण-सस्कृति के नाम से सबोधित कर सकते हैं। भारतीय-संस्कृति अनेक प्रकार के विचारो का एक ऐतिहासिक विकास ही है। इस संस्कृति में न जाने समय-समय पर कितनी धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। अनेक हो कर भी एक और एक हो कर भी अनेक, यह हमारी प्राचीन परपरा रही है। यहाँ अनेक प्रकार की विचार धाराएँ आज से नहीं, अति प्राचीन काल से विकास पाती रही हैं। मानव जाति के विकास में इस प्रकार का युग कभी नहीं आया, जिस में कि प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष न रहा हो। प्रत्येक युग में नवीन धारा जन्म लेती है और प्राचीन धारा उस का विरोध करती है। इस संघर्ष मे परिणाम सदा यही निकला है कि नवीन धारा का जितनी तेजी से विरोध किया जाता है, उतने ही अधिक प्रबल वेग से वह धारा आगे अपना विकास कर लेती है। नवीनता और प्राचीनता का, दोनो का सुन्दर

समन्वय करना ही अधिक तर्क-संगत और उपयुक्त है। प्राचीन युग में ब्राह्मण परंपरा का और श्रमण परंपरा का जो कुछ संघर्ष रहा, उस के अनिष्ट परिणाम भी हो सकते हैं। परन्तु अनिष्ट की अपेक्षा इष्ट परिणाम ही अधिक प्रबल और व्यापक हैं। ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति में कुछ समानता होने पर भी उनकी असमानता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण-संस्कृति का मूल आधार वेद रहा। वेदों में जो कुछ आदेश और उपदेश उपलब्ध थे, उन्हीं के अनुसार अपने जीवन यापन की पद्धति का निर्माण जिस परंपरा ने दिया वह ब्राह्मण-संस्कृति है। वेदों को प्रमाण न मानने वाली भी एक परंपरा थी, जिस का कहना था कि पोथी और शास्त्र प्रमाण नहीं, पर मनुष्य का अनुभव ही प्रमाण है। मनुष्य के अनुभवों को प्रमाण माननेवाली यह परंपरा श्रमण-संस्कृति के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। श्रमण-परंपरा में भी आगे चल कर अनेक भेद-अभेद हो गए। जिनका उल्लेख हमें भारत के प्राचीन साहित्य में इधर-उधर बिखरा हुआ आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही देश की धरती पर एक ही जैसे वातावरण में श्रमण-संस्कृति और ब्राह्मण-संस्कृति की धाराएँ समान रूप से प्रवाहित होती रहीं। ब्राह्मण परंपरा का यह दावा है कि वह भारत की ही नहीं, विश्व की सब से पुरानी संस्कृति है। श्रमण-परंपरा का यह कहना है कि उसी के प्रभाव से वैदिक परंपरा में अध्यात्मवाद का जन्म हुआ, जिस का स्पष्ट चित्रण उपनिषदों में और उन के बाद के साहित्य में उपलब्ध होता है। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति अपने आप को दूसरी परंपरा से श्रेष्ठ समझने का अपना आग्रह करती रही है।

श्रमण और ब्राह्मण :

ब्राह्मण संस्कृति, जिस का दूसरा नाम वैदिक संस्कृति भी है, उस के

किसी भी प्राणी का वध करना अथवा उसे कष्ट पहुँचाना आत्मवध और आत्मपीडा के समान है। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भूमिका पर प्रतिष्ठित यह साम्य दृष्टि श्रमण परंपरा का प्राण है। सामान्य जीवन को ही अपना चरम लक्ष्य मानने वाला साधारण व्यक्ति इस भूमिका पर नहीं पहुँच सकता। यह भूमिका स्व और पर के अभेद की पृष्ठभूमि है। यही पृष्ठभूमि ही श्रमण-संस्कृति का सर्वस्व है।'

विचार और आचार :

हम देखते हैं कि एक ही भारतीय-संस्कृति, श्रमण और ब्राह्मण के रूप में अति प्राचीन काल से भारत की एक ही धरती पर और एक ही वातावरण में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। विचार-भेद और आचार-भेद होने पर भी उन में कुछ समानता जैसा तत्त्व न हो, यह नहीं माना जा सकता। वैदिक परपरा में मूल में एक धारा होने पर भी न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमांसा जैसी उपधाराएँ समय-समय पर मुख्य धारा में से फुटती रही हैं। इधर श्रमण-संस्कृति में जैन और बौद्ध धाराओं के अनेक भेद और प्रभेद प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध होते हैं, जैसे जैन परपरा मे श्वेताम्बर और दिगम्बर, तथा बौद्ध परपरा में हीनयान और महायान। इस प्रकार ये धाराएँ विभिन्न होते हुए भी अपने-अपने मूल में समाहित हो कर एक हो जाती हैं।

अन्त मे, इन सस्कृति और परपराओं के सम्बन्ध में जो एक लक्ष्य और एकता का आधार दृष्टि गोचर होता है। वह इतना ही है कि प्रत्येक परपरा, प्रत्येक पंथ और प्रत्येक सम्प्रदाय के दो रूप होते हैं— विचार और आचार। वैदिक परपरा में पूर्वमीमासा आचार है, तो उत्तरमीमासा विचार। सांख्य विचार है, तो योग आचार। बौद्ध परपरा में हीनयान

आचार पर वल देता है, तो महायान विचार पर। महायान मे विज्ञानवाद और शून्यवाद की इतनी ऊँची उडान है कि वहाँ पर आचार कहीं भी दृष्टिगोचर होता ही नहीं। जैन-परपरा की आधार भूमि दो तत्त्व हैं—आचार मे अहिंसा और विचार में अनेकान्त। अहिंसा और अनेकान्त में दो तत्त्व ही श्रमण-संस्कृति की आत्मा अथवा मूलभूत आधार विन्दु हैं। जैन-परपरा का जितना भी आचार और क्रिया-काण्ड है, उन सव का मूल एक मात्र अहिंसा ही है। अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रत भी अहिंसा का ही पोपण करते हैं। जैन-संस्कृति का जितना भी विचार पक्ष है, उस का मूल आधार अनेकान्त ही रहा है। अनेकान्त एक समन्वयवाद है, जिस में परस्पर विरुद्ध विचारो का समन्वय किया जा सकता है। जैन-परपरा का जो कर्मवाद है, उस का मूल अहिंसा में से ही निकला है। और जैन-परपरा में जो स्याद्वाद और नयवाद हैं, उनका मूल अनेकान्त दृष्टि में है। श्रमण-परपरा अथवा श्रमण-सस्कृति विश्व-वन्धुत्व भाव की निर्मल और पवित्र विचार धारा को विश्व व्यापी वनाने का लक्ष्य रखती है। श्रमण-सस्कृति का लक्ष्य विश्व-वन्धुत्व भाव में ही है, जव कि वैदिक-सस्कृति का लक्ष्य एकत्व भाव में है। और श्रमण-संस्कृति का कहना है कि हम सभी न कभी एक थे, न आज हैं, और न कभी भविष्य में एक होंगे। परन्तु हम सव अनेक हो कर भी विश्व-वन्धुत्व के मगल-सूत्र में वद्ध हैं। वैदिक-संस्कृति का लक्ष्य अनेक को समेट कर अन्त में एक हो जाने में ही है। परन्तु श्रमण-सस्कृति का ध्येय और लक्ष्य अनेक हो कर भी और अनेक रह कर भी परस्पर अविरोध पूर्वक एक-दूसरे के साथ मिल कर रहने में ही है।

श्रमण-सस्कृति और वैदिक-सस्कृति पर विचार करने के वाद अव सक्षेप में कुछ थोडा-सा जैन सस्कृति पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। जैन-संस्कृति का अर्थ है— विजेता की संस्कृति। जिन का अर्थ

है—राग-द्वेष को जीतने वाला। 'जिन' की संस्कृति को ही जैन-संस्कृति कहा जाता है। जैन-संस्कृति अपने मूल स्वरूप में एक आध्यात्मिक संस्कृति है। जैन संस्कृति का संपूर्ण झुकाव व्यक्ति कल्याण, समाज कल्याण और विश्व-कल्याण ही रहा है। जन-जन के कल्याण की भावना ले कर चलने वाली जैन-संस्कृति की धारा युग-युग से प्रवाहित रही है। इस संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त क्या है? इस सम्बन्ध में भी यहाँ पर विचार करना आवश्यक है।

जैन संस्कृति के सिद्धान्त :

१. जैन संस्कृति में शत्रु द्वेष का विषय नहीं है। उस के प्रति भी प्रेमभाव रखना आवश्यक है। अपने विरोधी को भी प्रेममार्ग पर लाना, यह इस संस्कृति का ध्येय है। प्राणी मात्र के प्रति समता भाव ही इस संस्कृति का मूल ध्येय है। किसी भी प्रकार की विषमता को यहाँ पर स्थान नहीं है। जब प्राणी मात्र के प्रति समताभाव हृदय में स्थिर हो जाता है, तब जगत् में कहीं पर भी हमारे शत्रु रहते ही नहीं। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव की साधना ही जैन-संस्कृति का मूल लक्ष्य रहा है।

२. जैन-संस्कृति का बलात्कार में नहीं, हृदय परिवर्तन में विश्वास है। यदि किसी के जीवन को बदलना है, किसी के जीवन में परिवर्तन लाना है, तो यह कार्य बल क्रिया के आधार पर नहीं होना चाहिए, बल्कि हृदय परिवर्तन ही उस का मुख्य आधार बनना चाहिए। हृदय परिवर्तन का अर्थ है— उस व्यक्ति की भावनाओं में परिवर्तन और उस व्यक्ति के विचारो में परिवर्तन। किसी को मारना यह ही हिंसा नहीं है, किसी के शरीर को चोट पहुँचाना मात्र ही हिंसा नहीं है, किन्तु दूसरे के विचारो को दबाना और बलपूर्वक उसके विचारो को कुचल डालना यह भी एक प्रकार की मानसिक हिंसा है। इस मानसिक हिंसा का शोधन हृदय परिवर्तन से ही किया जा सकता है।

३. जैन-संस्कृति के अनुसार व्यक्ति अपने सुख-दुख का उत्तरदायित्व ईश्वर या परमात्मा पर नहीं डालता, पर स्वयं अपने ऊपर लेता है। इसी को कर्मवाद कहा जाता है। व्यक्ति ने जो कुछ किया है, उस के भले और बुरे परिणाम उसी को मिलते हैं। यदि आज जीवन में दुख या क्लेश है, तो यह निश्चित है, कभी न कभी हम ने अतीत काल के जीवन मे अपने जीवन की धरती पर बुरे बीज डाले होंगे। यदि जीवन में सुख है, शान्ति है, तब इस का भी इसी प्रकार समाधान किया जाता है। जीव जैसा कार्य करता है, उस का फल भोगने के लिए भी वह स्वय उत्तरदायी है। उस के लिए ईश्वर या अन्य किसी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। आप अपना हाथ आग में डालें, और फिर भी हाथ न जले, यह किसी भी प्रकार सभव नहीं है। ठोकर लगने पर चोट अवश्य लगती ही है। इस प्रकार हम देखते हैं, अपनी समस्याओं मे उलझने वाला व्यक्ति स्वय अपने ही प्रयत्नो से सुलझ सकता है।

४. जैन-संस्कृति का यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि उस के मूल में विश्व-बन्धुत्व की भावना रही है। जगत के जीव मात्र को अपने से अलग समझ कर भी सुख-दुख के वेदन में अपने ही तुल्य समझना। यह सोचना कि जिस प्रकार मुझे दुख प्रिय नहीं है, तब जगत के किसी भी प्राणी को दुख कैसे प्रिय हो सकता है? जब मुझे सुख प्रिय है, तब निश्चित ही जगत की अन्य आत्माओ को भी सुख उतना ही प्रिय हो सकता है। जब मुझे दूसरो के द्वारा अपमान मिलने पर दुख होता है, तब निश्चित ही दूसरों को मेरे द्वारा अपमान मिलने पर सुख कैसे मिल सकता है? यही विश्व-बन्धुत्व की भावना है।

५. जैन-संस्कृति का एक सर्वोच्च सिद्धान्त है– अहिंसा। अहिंसा शून्य जीवन न स्वयं सुखी हो सकता है, न दूसरों को भी सुख प्रदान कर सकता है। जगत के प्राणी-प्राणी मे अपने मन की अहिंसा को बिखेर देना यही

अहिंसा वाद का मूल ध्येय रहा है। अहिंसा की साधना करने वाले को वाह्य हिंसा और अभ्यन्तर हिंसा, दोनो ही हिंसा का परित्याग करना चाहिए। व्यक्ति के जीवन में और समाज के जीवन मे सर्वत्र प्रेममय व्यवहार हो और प्रेममय जीवन हो तथा प्रेममय भापण हो। इसी को अहिंसा की त्रिवेणी कहा जाता है। अहिंसा का अर्थ केवल अपनी रक्षा ही नहीं है, पर की रक्षा का समावेश भी इसी मे हो जाता है। हिंसा का विकल्प मिटते ही संपूर्ण जीवन अहिंसामय और प्रेममय बन जाता है।

६. अहिंसा मानव हृदय में तभी स्थिर रह सकती है, जब कि उसके व्यवहार के पहले उस के विचारों मे अहिंसा का प्रवेश हो सके। अहिंसा का जो वैचारिक रूप है, उसी को अनेकान्त कहा जाता है। अनेकान्त एक दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर व्यक्ति अपने को भी समझता है, और स्व से भिन्न पर है, उसे समझना भी उतना ही आवश्यक है, जितना स्वयं को समझना। पर-मत-सहिष्णुता और पर-विचार-सहिष्णुता ही अनेकान्त का मूल आधार है। अनेकान्त के द्वारा प्राचीन युग में भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्यों ने अपने-अपने युग में दार्शनिक क्षेत्र मे होने वाले संघर्षों को मिटाने का सफल प्रयत्न किया था। आज के युग में राजनैतिक क्षेत्र के संघर्षों को मिटाने की दशा में प्रयास किया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

७. जैन-सस्कृति का विकास व्यक्ति पूजा मे नहीं, व्यक्ति के गुणों की पूजा में रहा है। किसी जाति विशेप में अथवा किसी कुल विशेप मे जन्म लेने मात्र से कोई भी व्यक्ति उच्च या नीच नहीं बन सकता। पूजा का आधार जन्म, कुल और परपरा नहीं हो सकता। पूजा का सच्चा अधिकार है, व्यक्ति के जीवन में विकसित होने वाले उस के गुण। यही कारण है कि जैन-संस्कृति के मूल मत्र 'नमस्कार मत्र' में किसी व्यक्ति-विशेप को नमस्कार या वन्दन नहीं किया गया। अपने

गुणों की साधना कर के अपने जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने वाले व्यक्ति के गुणों को ही वहाँ पर नमस्कार किया जाता है। जिस ने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली, वह 'अरिहन्त' है। जो कर्म मल से सर्वथा मुक्त हो गये, वे 'सिद्ध' हैं। जो आचार की साधना स्वय करते है और दूसरो को करने की प्रेरणा देते हैं, वे 'आचार्य' है। जो स्वय ज्ञान की आराधना करते है और दूसरो को ज्ञान की आराधना करने की प्रेरणा देते है, वे 'उपाध्याय' है। जो स्वय अपना कल्याण करते हैं, और दूसरो को कल्याण के लिए प्रेरणा देते हैं, वे 'साधु' हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर किसी भी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार न कर के, जीवन-विकास की उच्च भूमिकाओ को प्राप्त करने वाले व्यक्तियो को ही नमस्कार किया गया है। यह गुण पूजा का भाव जैन-संस्कृति का मूल आधार रहा है।

८. जैन-सस्कृति में जातिवाद और जन्मवाद को जरा भी स्थान नहीं है। नारी जाति के प्रति जैन-सस्कृति मे उतना ही सम्मान है, जितना कि ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँचे पुरुष का हो सकता है। हरिजन, शूद्र आदि भेद जैन-संस्कृति मे कभी मान्य नहीं रहे। अध्यात्म भाव की ऊँची से ऊँची स्थिति पर पहुँचने का अधिकार मानव मात्र को मिला है। जैन-संस्कृति किसी भी वर्ण भेद में, वर्ग भेद में, रंग भेद मे और व्यवहार भेद मे विश्वास नहीं रखती है। व्यक्ति अपने गुणो के आधार पर फिर भले ही वह किसी भी जाति, किसी भी वर्ग, किसी भी वर्ण का क्यो न हो, साधु से लेकर सिद्ध अवस्था तक को प्राप्त कर सकता है। जैन-सस्कृति का यह सर्व जाति समभाव है। सर्व जाति समभाव और सर्व धर्म समभाव, जैन-सस्कृति के मूल आधार-स्तभ हैं।

इस प्रकार जैन-सस्कृति के सम्बन्ध में यहाँ पर जो कुछ कहा गया, उस के सम्बन्ध में यहाँ पर यही विचार किया गया है कि हम अपने सस्कारो से ही आगे बढ़ते हैं और अपने सस्कारो से पीछे हटते हैं।

अपने विचारों से ही हम ऊर्ध्वगामी बनते हैं और अपने विचारों से ही अधोगामी। जैन-संस्कृति के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने उत्थान, श्रेय एवं पतन का दोष किसी भगवान्, ईश्वर या परमात्मा को नहीं देता। उस की प्रत्येक क्रिया का उत्तरदायित्व स्वयं उस पर है। सस्कृति का भेद सदा से असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, और मरणता से अमरता की ओर बढने का रहा है। सस्कृति का विरोध न धर्म से है, न दर्शन से है, न साहित्य से है, न कला से है, न समाज से है, और न किसी व्यक्ति-विशेष से। उस का एकमात्र विरोध विकृति से ही रहा है और विकृति से ही रहेगा भी।

विकृति और संस्कृति :

विकृति का परित्याग ही वास्तविक अर्थों में सस्कृति कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि आखिर यह सस्कृति क्या वस्तु है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीन काल में और आज भी उत्तर देने की एक ही पद्धति रही है कि व्यक्ति के अपने मन में उठने वाली जो विकल्प, विकार, विषय और कषाय की तरग या लहर है, वही हमारे जीवन की विकृति है। इस विकृति को मिटना ही सस्कृति है। संस्कृति और विकृति इन्सान के जीवन के दो पहलू हैं—एक अच्छा और दूसरा बुरा। यदि मनुष्य के सामने प्रश्न आ जाए कि तुम सदा से बुरे रहे हो और भविष्य में भी सदा काल तक बुरे रहने वाले हो, तब वह व्यक्ति अपने जीवन विकास के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं कर सकेगा। प्रयत्न और पुरुषार्थ का जन्म निराशावाद के अन्धकार में से नहीं, आशावाद के आलोक में से ही होना है। सस्कृति में तीन तत्त्वों का समावेश होना ही चाहिए। सस्कृति मे सत्य होना चाहिए, शिव भी होना चाहिए, और सुन्दर भी होना चाहिए। सत्य, शिव और सुन्दर ये तीनो तत्त्व संस्कृति के प्राण

तत्त्व हैं। यदि इन तीनों में से एक भी तत्त्व किसी सस्कृति में नहीं है, तब उसे सस्कृति न कह कर विकृति कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रत्येक विकार का सस्कार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवन में जब विकार उत्पन्न कर सकता है, तब सस्कार उत्पन्न करने की शक्ति भी अवश्य होनी चाहिए। विकार और सस्कार के झूले पर यह जीवन अनन्त काल से झूलता चला आ रहा है।

संस्कृति का अध्ययन :

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज ने समाज और संस्कृति के सम्बन्ध मे अपने जीवन में जो कुछ अध्ययन, चिन्तन और मन्थन किया था, उन नोटस् के आधार पर उन के विचार मै ने यहाँ प्रस्तुत किए हैं। सस्कृति और समाज सम्बन्धी उन का परिज्ञान केवल पुस्तकों के आधार पर ही नहीं था। अपने युग की समाज के सम्बन्ध में उनके पास काफी अनुभव थे और सस्कृति सम्बन्धी उनका अध्ययन उन के स्वय के चिंतन पर ही अधिक विकसित हुआ था। मै ने देखा था कि समाज और सस्कृति के विषय पर उन की अपनी सग्रहीत पुस्तको मे समाज और सस्कृति से सम्बन्धित लगभग २५-३० पुस्तकें थीं। जिन में से मुख्य-मुख्य पुस्तको के नाम मुझे आज भी याद हैं– महाराष्ट्र के विख्यात लेखक और विराट् विचारक साने गुरुजी की "भारतीय-सस्कृति" पुस्तक उन्हे अत्यन्त प्रिय थी। इस पुस्तक का मूल मराठी संस्करण और उस का सरस एव सुन्दर हिन्दी अनुवाद आज भी उन के ज्ञानालय में विद्यमान है। सन् १९५२ में हमारा वर्षावास जोधपुर में था। उसी समय पण्डितजी महाराज ने मुझे साने गुरुजी की इस पुस्तक का परिचय दिया था। मै ने स्वय भी यह पुस्तक एक से अधिक बार पढी है। जितनी बार पढता हूँ, उतनी ही अधिक पहले की अपेक्षा से तीव्रता की अनुभूति होती है। दूसरी पुस्तक

कवि दिनकर की "भारतीय-सस्कृति के चार अध्याय" पण्डितजी महाराज को बहुत ही प्रिय थी। "भारतीय-संस्कृति के चार अध्याय" पुस्तक का न जाने कितनी बार अथ से इति तक अध्ययन और पर्यालोचन किया था। कवि दिनकर की इस पुस्तक में भारतीय-संस्कृति के इतिहास की कहानी वेदयुग से ले कर आज के गाधी युग तक अत्यन्त विस्तार के साथ लिखी हुई एक सुन्दर पुस्तक है। "आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व" और वीर सावरकर के द्वारा लिखित 'हिन्दुत्व' आदि पुस्तको का उन्हो ने अध्ययन किया था। इस के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मराठी आदि भापाओ में इस विपय का जो साहित्य है, उस का भी उन्हो ने अध्ययन किया होगा। मैं यहाँ पर उन के समाज और सस्कृति सम्बन्धी विचारो को सूत्र रूप मे प्रस्तुत कर रहा हूँ– जिस से कि पाठक इस अध्याय के मर्म को सुगमता के साथ समझ सकें और उस के गहन भावो को आसानी के साथ हृदयगम कर सकें–

१. "मैं समाज और सस्कृति का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करता हूँ। जो कुछ सस्कृति है, वह समाज में ही पनपती है, और समाज के धरातल पर ही अपना विकास एव गति करती है। हमारी सस्कृति के मूल विकास का आधार समाज ही है। परन्तु समाज को सुन्दर और सगठित बनाने के लिए, जो कुछ सोचा जाता है, जो कुछ विचार किया जाता है अथवा जिस प्रकार के नियम और उपनियमों का पालन किया जाता है– इस आचार और विचार के संयोग से मानव मस्तिष्क में जिस समुज्ज्वल भावना का आविष्कार हुआ, उसी को हम सस्कृति कहते है।

२. सस्कृति, विकृति और प्रकृति इन तीन शब्दों के मर्म को हमें भली प्रकार समझना होगा। आत्मा अनादि काल से विकृति मे यात्रा

करता चला आ रहा है। इस विकृति को मिटाने के लिए जो कुछ साधना की जाती है, उस साधना का नाम ही वस्तुत. सस्कृति है। जब विकृति नहीं रहती है, तब वह संस्कृति हो कर अन्त में प्रकृति बन जाती है। प्रकृति का अर्थ है वस्तु का अपना मूल स्वरूप। विकृनि से हम सस्कृति की ओर जाते हैं और संस्कृति से फिर प्रकृति की ओर। हमारे जीवन का विकास क्रम इसी प्रकार का रहा है।

३. जब मैं यह कहता हूँ कि मुझे सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है, तब मुझे यह भी अनुभव करना चाहिए कि मेरे साथी को और मेरे पड़ौसी को भी सुख प्रिय और दुख अप्रिय ही रहेगा। इस प्रकार की अपने अंतर मे जब एक गहरी अनुभूति का उदय होता है, मानव मन की इस दिव्य भावना का नाम ही संस्कृनि कहा जा सकता है। सस्कृति बाहर से नहीं अदर मे से ही प्रगट होती है।

४. मानव मन के सस्कार ही उस के जीवन को विकृत अथवा सस्कृत बना सकते है। बुरे सस्कारों से हमारे जीवन पर बुरा प्रभाव पडता है और अच्छे सस्कारों से अच्छा। बुरे संस्कारों को मिटा कर उन के स्थान पर अच्छे सस्कारों को उत्पन्न करना ही, हमारी संस्कृति का ध्येय और लक्ष्य रहा हे। इस ध्येय की सम्पूर्ति हो जाने पर मानव-मन में जो एक उल्लास और आनंद की भावना प्रगट होती है, उस उल्लास और आनद से ही हमारे समाज को शक्ति प्राप्त होती है। समाज यदि शरीर है, तो सस्कृनि उस की प्राण शक्ति है।

५. समय-समय पर युग-युग से भारत के युग पुरुषों ने भारतीय-सस्कृति के समन्वयात्मक जिन मूल तत्त्वों का अनुसन्धान किया था, उस के आधार पर हम अनेक हो कर भी एक हैं और एक हो कर भी अनेक। हमारी सत्ता भिन्न-भिन्न रहने पर भी जिस भावना के बल पर हम अपनी

भेद-वृत्ति को भूल कर अभेद वृत्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यही हमारी मूल संस्कृति कही जा सकती है।

६. मैं अपने चिंतन के आधार पर यह कह सकता हूँ कि समग्र भारती-सस्कृति का सार केवल दो शब्दों मे दिया जा सकता है– जीवन जीने की पद्धति अहिंसा और विचार करने की पद्धति अनेकान्त। अहिंसा और अनेकान्त हमारी संस्कृति के मूल भूत आधार रहे हैं। आज तक हमने आचार का जितना भी विकास किया है, उसका जन्म इस अहिंसा में से ही हुआ है। और आज तक हम ने जितना भी विचार किया है, वह मूल रूप में अनेकान्त में समाहित हो ही जाता है। धर्म, दर्शन, तर्क, साहित्य, कला और जीवन आदि के सम्बन्ध मे, आज तक हमारे जितने भी आविष्कार और परिष्कार हुए हैं, उन सब का मूल आधार अनेकान्त में ही है। अहिंसा और अनेकान्त समस्त भारतीय-सस्कृति की प्राण-शक्ति कही जा सकती है।'

◎ ◎

साहित्य और कला मानव जीवन के लिए और मानवीय-सस्कृति के लिए एक वरदान है। साहित्य और कला में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला और साहित्य का क्षेत्र अलग-अलग रूपों में नहीं है। साहित्य और कला की सरिताएँ मानव जीवन की समतल भूमि पर एक साथ ही प्रवाहित होती रही है। जो व्यक्ति साहित्यकार होता है, वह अवश्य ही कलाकार भी होता है। और जो कलाकार होता ही है, वह किसी न किसी रूप में साहित्यकार भी होता है। भारत के एक महान् साहित्यकार भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत और कला को मानव जीवन का अविभाज्य अग ही नहीं माना, वल्कि उसे मानव जीवन का लक्षण ही स्वीकार किया है।

> "साहित्य–सगीत–कला–विहीनः
> साक्षात्पशुः पुच्छ–विपाण–हीनः।
> तृण न खादन्नपि जीवमान—
> स्तद् भागधेय परम पशूनाम्॥"

भर्तृहरि ने अपने इस श्लोक में साहित्य, सगीत, कला का सुन्दर

समन्वय करते हुए कहा है कि जिस मनुष्य के पास साहित्य, संगीत और कला नहीं है, वह मनुष्य मनुष्य नहीं है, एक पशु है। उस मनुष्य में और पशु में केवल अन्तर यही रहता है कि उस में अन्य सभी वृत्तियाँ पशु की रहते हुए भी उस के सींग नहीं होते और पूँछ भी नहीं रहती। इस से भी अधिक करारी चोट भर्तृहरि ने यह की है कि यह पशुओं का परम सद्भाग्य समझिए कि वह मानव-पशु घास नहीं खाता है। भर्तृहरि ने अपने इस श्लोक में साहित्य, संगीत और कला को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उस के अभाव में वे मनुष्य की तुलना एक पशु के साथ ही करते हैं।

साहित्य और जीवन :

मानव जीवन का साहित्य के साथ आज से ही नहीं, युग-युग से ही इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा है कि मनुष्य रोटी के अभाव में कदाचित् जीवित रह सके, परन्तु साहित्य के अभाव में उस का जीवित रहना संभव नहीं हो सकता। समाज नष्ट हो सकता है और राष्ट्र भी नष्ट हो सकता है, पर साहित्य का नाश कभी नहीं हो सकता। इटली के महान् विद्वान् सिसेरो ने कहा है– 'साहित्य का अध्ययन युवकों का पालन-पोपण करता है, वृद्धों का मनोरजन करता है, संस्कृति का शृंगार करता है, विभिन्न व्यक्तियो को धीरज देता है, घर में प्रमोदमय वातावरण रखता है और बाहर में वह मनुष्य को विनीत बनाता है। साहित्य के साधकों ने साहित्य के इस अनुपम उद्यान को अपने हृदय की मधुर कामना से सींचा है।' यही कारण है कि साहित्य रूपी पुष्प का परिमल हमारे मुझति हुए हृदय को प्रफुल्ल और प्रसन्न बना देता है। वर्तमान युग के प्रसिद्ध साहित्यकार अनन्तगोपाळ शेवडे कहते हैं– 'राजनीति क्षणभगुर है, चचल है, परन्तु साहित्य

चिर-स्थाई है, मगलमय है। उस के आधारभूत मूल्यो की क्षति नही होती।' जर्मनी का महान विद्वान् गेटे साहित्य के सम्बन्ध मे अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहते है–'साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है। पतन की ओर वे एक दूसरे का परस्पर साथ देते है।' हिन्दी के विख्यात लेखक और उससे भी बढ कर समालोचक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के सम्बन्ध में कहा है– 'प्रत्येक देश का साहित्य वहॉ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिंब होता है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी, जो साहित्यकार से बढकर भी साहित्यकारों के निर्माता थे, ने कहा है–'ज्ञानराशि के सचित कोश का नाम ही साहित्य है।' इस प्रकार हम देखते हैं, विभिन्न साहित्यकारो ने अपने-अपने युग में अपने-अपने साहित्य की धारा को शब्दो की परिभाषा में बॉधने का प्रयत्न किया है। पर मेरे विचार में साहित्य की सरिता को, जो स्वच्छन्द भाव से अपने पथ पर गतिशील है, उसे किसी भी भाषा में बॉध सकना शक्य नहीं है। इस ससार में साहित्य के विविध रूप हो सकते हैं। साहित्य की विधाओ के मूल्य बदलते रहे हैं और भविष्य में भी बदल सकते है। पर साहित्य की आत्मा न कभी बदली है, न कभी बदल सकी है और न कभी बदलेगी। साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है, जिस में अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष तथा चमत्कार पूर्ण अनुरजन हो, तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन साहित्य का एक स्पष्ट चित्रण पाठक के सामने प्रस्तुत कर देता है।

साहित्य और साहित्यकार :

साहित्यकार जब साहित्य का निर्माण करता है, तब वह जन सम्पर्क से दूर हट कर एकान्त चिन्तन और एकान्त साधना में समाधिस्थ हो

जाता है। अपने चिन्तन और साधना के समय साहित्यकार अकेला हो कर भी अपनी तादात्म्य वृत्ति से वह विश्व-व्यापी बन जाता है। शायद इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्दजी ने कहा था– 'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक व मानसिक तृप्ति न मिले, हम में गति और शक्ति पैदा न हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम जागृत न हो, जो हम में सच्चा संकल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढता उत्पन्न न करे, वह साहित्य हमारे लिये बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।' साहित्य की सरिता जब जनता के हर्ष-विषाद से तरगित होती है, तभी गगा के तुल्य उस में सब अवगाहन करते हैं। और साहित्य की वह गगा युग-युग से मानव जाति को अपने स्वच्छ, निर्मल जलकणों से आप्लावित करती रही है। साहित्य के साथ साहित्यकार का तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। साहित्यकार के मानस का देवता साहित्य के अतिरिक्त नहीं हो सकता। वह उसी की पूजा करता है, उसी की अर्चना करता है और उसी की आराधना करता है।

साहित्यकार और कलाकार

साहित्य के साथ कला का सम्बन्ध कब से है, यह कह सकना सरल नहीं होगा। इस प्रकार के समाधान की वस्तुतः हमें आवश्यकता भी नहीं है। हम तो यही देखना चाहते हैं कि साहित्य और कला का सुन्दर समन्वय ही मानव जीवन को प्रेरणा, शान्ति, सुख और आनन्द प्रदान कर सकता है। हिन्दी साहित्य की विख्यात कवयित्री महादेवी ने कहा है– 'कला का सत्य जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा अखण्ड सत्य है।' राष्ट्रपिता गान्धीजी ने कला के सम्बन्ध मे एक अलग ही दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है– 'जो कला आत्मा को आत्म-दर्शन कर

ने की शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है।' उपन्यासकार प्रेमचन्दजी ने कला की व्याख्या अपने एक ही मार्मिक वाक्य मे की है–'कला का सब से सुन्दर स्वरूप छिपाव है, दिखाव नहीं।' यूनान के महान् साहित्यकार अरस्तू ने कला के सम्बन्ध में कहा था–'समस्त कला अनुकरण मात्र है।' संसार के कुछ लेखकों ने तो कला को कलाकार की तपस्या भी कहा है। क्यों कि कला ही विचार को साकार रूप में परिणत करती है। मानव की बहुमुखी भावनाओं का प्रबल प्रवाह जब रोके नहीं रुकता, तब वह कला के रूप में फूट पडता है। ज्ञान गला कर साँचों में ढालना, और उसे किसी भी प्रकार का साकार रूप दे देना, यह काम कला का है। प्रेमचन्दजी कहते हैं–'कला का केवल यथार्थ की नकल करने का काम नहीं है। कला दिखती तो यथार्थ है, पर होती यथार्थ नहीं। उस की खूबी यही है कि वह यथार्थ मालूम हो।' समस्त कला मनुष्य के अन्तर के विकास का ही आविर्भाव है। इस ससार में जो कुछ सुन्दर है, वही कला है। कला की कसौटी सौन्दर्य है। सौन्दर्य के अभाव में कला कला नहीं रहती। बगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार शरद बाबू ने कहा है–'जो असुन्दर है, जो अनैतिक है, जो अकल्याण कर है, वह किसी भी तरह कला नहीं है, धर्म नहीं है।' कला केवल कला के लिए नहीं, वह जीवन के लिए होनी चाहिए। और उसी में उस की उपयोगिता एव सार्थकता भी है। कला और साहित्य दोनों परस्पर भाई और बहन जैसे हैं। दोनो दृश्य के परे देखते हैं। दोनो सामने के पर्दे को हटाना चाहते हैं। साहित्य और कला में किसी भी प्रकार के व्यवधान को स्वीकार नहीं किया जाता। कला के साथ कलाकार का वही तादात्म्य सम्बन्ध है, जो एक साहित्यकार का साहित्य के साथ रहता है। रवीन्द्रनाथ टागोर कहते हैं–'कलाकार प्रकृति का प्रेमी है, अतएव वह उस का दास भी है।' महादेवी वर्मा ने

'दीपशिखा' में कहा है– 'कलाकार न किसी को आदेश दे सकता है, न उपदेश देने की नासमझी करता है, तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते हैं। जब समाज' किसी भी कलाकार के स्वप्न का मूल्य नहीं आँकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, तव साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल में फेंक कर रूठे वालक के समान क्षोभ प्रगट कर देता है, और महान् समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है। निर्माण युग में जो कला श्रेष्ठी अमृत की संजीवनी दे कर ही सफल हो सकती थी, वही पतन के युग में मदिरा की उत्तेजना मात्र वन कर विकासशील मानी गई।'

पण्डितजी के विचार

साहित्य और कला के सम्बन्ध में श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपनी डायरी में कुछ विचार लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. 'साहित्य जनता के वीच से, जनता द्वारा और जनता के लिए उत्पन्न होता है। साहित्य का यह जनवादी रूप उस की आत्मा और उस का मुख्य आधार वन सकता है। इसी प्रकार कला भी जनहित के लिए है। कला के लिए कला की वात का सिद्धान्त एक प्रकार से सामन्तवादी मनोवृत्ति का ही द्योतक है। साहित्य और कला जनता के विचारो और भावनाओं के संपर्क तथा विनिमय का साधन है। कला और साहित्य का प्रयोजन जनता की सास्कृतिक एव सामजिक चेतना को जागृत करना मात्र ही है। साहित्य में समाज का पूर्ण यथार्थ प्रतिविम्व होना चाहिए, परन्तु वह प्रतिविम्व केवल समाज की विपमता–भावना-शून्य छाया मात्र ही नहीं होना चाहिए। किन्तु यथार्थ और स्पष्ट होना चाहिए। समाज और कला का सुन्दर संयोग और समन्वय मानव जीवन के लिए अभिशाप नहीं, एक मधुर और सुन्दर वरदान ही सिद्ध होता है।

२. साहित्य के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस में मानव जाति के युग-युग से सचित संस्कार फलित होते हैं। जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जाता है। कहा जाता है कि जो स्वभाव से अच्छे है, वे अच्छे ही रहेगे, चाहें कुछ भी पढें। और जो स्वभाव के बुरे हैं, वे बुरे ही रहेगे। इस कथन मे सत्य की मात्रा बहुत कम है। इस मानव जगत में जो सुन्दर है, उस की ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जाएँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। भले ही मानव कितना भी बुरा हो जाए, पर यह असभव है कि उस के मानस में करुणा, दया, प्रेम और वात्सल्य प्रगट न होता हो। कठोर से कठोर मानव मे भी कभी-कभी कोमलता की पावन गगा प्रवाहित हो जाती है। क्यों कि मनुष्य स्वभाव से ही देव-तुल्य है। युग के काल्पनिक स्पर्श से वह छल, प्रपच और परिस्थितियो के वशीभूत हो कर भले ही अपने देवत्व को भूल बैठा हो, पर उस के अन्तर में वह देवत्व सुप्त रूप में रहता ही है। साहित्य मानव के मन मे युग-युग से प्रसुप्त इसी देवत्व भाव को प्रबुद्ध करने मे सफल रहा है, आज भी सफल है और अनन्त भविष्य में भी सफल रहेगा।'

पण्डितजी महाराज ने साहित्य के और कला के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार से कुछ कहा नहीं था, फिर भी उन की डायरियो मे तथा उन के निबन्धों में साहित्य और कला के सम्बन्ध में जो कुछ प्राप्त होता है, उस पर से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त चिन्तन और मनन किया था। साहित्य और कला में वे किसी भी प्रकार का विरोध न देख कर सदा अविरोध और समन्वय ही देखा करते थे। उन की यह मान्यता थी कि मनुष्य के जीवन का परिष्कार साहित्य और कला के अध्ययन से ही हो सकता है। मनुष्य समाज में

जन्मा है और समाज मे रह कर ही वह अपने जीवन का विकास करता है। तथा अपने जीवन की अन्तिम सन्ध्या तक वह समाज से बहुत कुछ लेता है और समाज को बहुत कुछ देता भी है। व्यक्ति और समाज का साहित्य और कला के साथ युग-युग से साहचर्य रहा है। किसी भी समाज के संस्कारों का परिज्ञान करने के लिए और उस की विशेषताओं को जानने के लिए, उस युग के साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। साहित्य के अध्ययन से उस समाज की प्रगति और विकास के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप में पता चलता है।

किसी काल के साहित्य का अध्ययन कर हम उस काल के समाज का जब अध्ययन करते हैं, तब अनेक प्रकार के प्रश्न हमारे मानसिक स्तर पर खडे हो जाते हैं। कुछ जातियाँ अत्यन्त प्राचीन होने पर भी इसलिए प्रगति नहीं कर सकी कि उन के पास न अपना साहित्य था, और न अपनी कला। उस के विपरीत कुछ जातियाँ संसार में इस प्रकार की भी हैं, जिन्हों ने अपने उर्वर मस्तिष्को के द्वारा अपने समाज, अपनी संस्कृति, अपनी कला का पूर्ण विकास अल्प समय में ही कर लिया। इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है कि जो जाति जितनी ही अधिक साहित्य और कला की आराधना करती है, वह उतनी ही अधिक तेजी के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रहती है।

साहित्य के सम्बन्ध में उस के आलोचको के द्वारा यह कहा गया है कि साहित्य समाज का दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख खडे हो कर अपने ही प्रतिबिम्ब को देखा जाता है, उसी प्रकार साहित्य दर्पण के समक्ष समाज की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उस साहित्य रूप दर्पण में उस समाज की उन सब वृत्तियों का आभास मिल जाता है, जो उसने अपने युग-युग के संस्कारों से संचित किए थे। इस अर्थ में मानव समाज के द्वारा ज्ञान-राशि-कोश को भी साहित्य कहा गया है।

साहित्य और साहित्यकार तथा कला और कलाकार इन में तादात्म्य वृत्ति ही रहती है। एक साहित्यकार अथवा कलाकार जब अपनी किसी कृति मे अथवा अपने किसी चित्र में कुछ लेखन या चित्रण करता है, उस समय वह साहित्यकार और कलाकार तद्रूप ही बन जाता है। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक गुलाबरायजी ने साहित्यकार और कलाकार को अपने समय और अपने समाज का प्रतिनिधि कहा है। कवि, लेखक, कलाकार और साहित्यकार अपने समय और समाज का प्रतिनिधित्व इस आधार पर करता है कि उस को जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है, वैसी ही उस की कृति होती है। वह अपने समय के वायु-मण्डल मे घूमते हुए विचारो को अपनी कलम से और तूलिका से समाज के पट पर मुखरित और अंकुरित कर देता है। कवि और लेखक वही बात कहा करते है, जिस का सभी लोग अनुभव करते हैं, किन्तु सब लोग कह नहीं सकते। अनुभूति की तीव्रता जितनी अधिक साहित्यकार और कलाकार में होती है, उतनी और वैसी सामान्य जन मे उपलब्ध नहीं होती। कवि और लेखक अपने युग मे जीवित रह कर भी अतीत से प्रेरणा लेते हैं और भविष्य की सुन्दर कल्पना कर के आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

५. साहित्य की साधना में देश, काल और भूगोल का किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत साहित्य के विराट् विद्वान् और आलोचक शेखर ने कहा है, 'कवि अपने काव्य-जगत् का प्रजापति होता है।' क्यो कि साहित्यकार और कलाकार जिस रूप में चाहता है, उसी रूप मे अपने साहित्य और कला को ढाल सकता है। अपनी इच्छानुसार वह अपने साहित्य में परिवर्तन भी उपस्थित कर सकता है। यह सब कार्य वह अपनी इच्छा से करता है। सच्चा कवि, सच्चा साहित्यकार और सच्चा कलाकार कभी भी किसी के अंकुश को सहन

नहीं कर सकता। अंकुशहीन होने के कारण वह निरकुश कहा जाता है। साहित्यकार और कलाकार अपनी कृति के निर्माण में पूर्णतया स्वतन्त्र और निरकुश रहता है, यह बात भी नहीं है। क्यों कि उसे अपने युग की जन-चेतना की भावना का आदर करना ही पडता है। समाज के हित की रक्षा का भाव लेकर जो साहित्य प्रणीत होता है, उसी को सत्-साहित्य कहा जाता है। समाज के हित की उपेक्षा करनेवाला साहित्यकार और कलाकार कभी भी अपने समाज और अपने राष्ट्र में आदरणीय पद प्राप्त नहीं कर सकता।

६. कवि अपने काव्य में, कलाकार अपनी कला मे और साहित्यकार अपने साहित्य में जिस मुख्य वस्तु का ध्यान रखता है, वह है लोक-मंगल, लोक-कल्याण और लोक-भावना। देखा गया है कि संसार में क्रान्ति की जितनी आग कवि, कलाकार और साहित्यकारों ने लगाई है, उतनी राज-नैतिक नेताओ ने नहीं। राजनैतिक नेताओ को अपनी योजनाओ को सफल करने के लिए और अपनी कामनानुरूप राज्य की स्थापना के लिए साहित्य और कलाकारों का सहयोग और सहकार लेना ही पडता है। राम को अमर करनेवाला वाल्मीकि था। कृष्ण को अमर करनेवाला व्यास ही था। कवि कालिदास ने भारतीय-संस्कृति और भारतीय-धर्म का जो उच्च-स्तरीय रूप रखा है, हजार-हजार राष्ट्र-नेता भी इस कार्य को नहीं कर सकते थे। क्यो कि राष्ट्र-नेता मे लोकप्रसिद्धी की कामना तो रहती ही है, परन्तु लोक मगल की भावना नहीं। कवि, कलाकार और साहित्यकार में प्रसिद्धि, सम्मान और धन की अपेक्षा नहीं, उन की अपनी आत्मा की सचाई में से ही काव्य, साहित्य और कला का जन्म होता है, जो उस के मरणोत्तर जीवन में भी जनता की स्मृति-चेतना में उसे सदा-सदा जीवित रखता है।

७. साहित्य और कला की उपयोगिता के सम्बन्ध में किसी भी

समझदार व्यक्ति को सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी शिक्षित व्यक्ति इस बात को बड़ी आसानी से समझ सकता है कि साहित्य ही हमारे बुरे संस्कारो को अच्छे संस्कारो में परिणत कर देता है। साहित्य हमारे जीवन में विविध रसो की सृष्टि करता है। रस की सृष्टि का अर्थ है–आनन्द की सृष्टि करना। साहित्यकार अपनी कृतियो के माध्यम से मानव चित्त की दूषित चित्तवृत्तियो का शोधन कर के मानव जीवन को उस धरा-तल पर ला कर खड़ा कर देता है, जहाँ जीवन के संघर्ष और द्वंद्वो की कटुता नहीं, स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव की मधुरिमा ही रहती है। साहित्य हमारे जीवन की रिक्तता को भरने वाला एक अक्षय भडार है। क्यों कि मानव समाज की ज्ञान राशि के सचित अक्षय भडार का नाम ही साहित्य माना गया है। साहित्यकार और कलाकार देश-काल की सीमाओ का अवरोध दूर कर के विश्व-जाति की मगल भावना को समाज की पृष्टभूमि पर ला कर खड़ा कर देते है। साहित्य का पाठक व्यक्ति अपने घर में बैठ कर ही साहित्य के माध्यम से विश्व के किसी भी कवि, साहित्यकार और कलाकार से अपना सम्बन्ध जोड सकता है। एक भारतीय व्यक्ति भारत की राजधानी दिल्ली मे बैठ कर शेक्सपियर की रचनाओ का आनन्द ले सकता है और लंदन में तथा यूरोप में जन जीवन को प्रभावित करनेवाले शेक्सपियर के नाटको एवं काव्यों की सन्कृति, कला और साहित्य का निखरा हुआ रूप अपने कल्पना के नेत्रो के समक्ष देख सकता है। यह प्रयत्न है कि आज मास्को और वाशिंग्टन में बैठ कर वहाँ का पाठक वर्ग भारत की भूमि में जन्म लेनेवाले महाकवि कालिदास के काव्यो के रसास्वाद का आनन्द ले सकते हैं। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध देश और काल की सीमाओ को लाघ कर विश्व-व्यापी बन जाता है। कवि, कलाकार और साहित्यकार, जितना ही अधिक पवित्र मानस का होगा और उस के हृदय मे अन्तर्गति

नहीं कर सकता। अंकुशहीन होने के कारण वह निरकुश कहा जाता है। साहित्यकार और कलाकार अपनी कृति के निर्माण में पूर्णतया स्वतन्त्र और निरकुश रहता है, यह वात भी नहीं है। क्यो कि उसे अपने युग की जन-चेतना की भावना का आदर करना ही पडता है। समाज के हित की रक्षा का भाव लेकर जो साहित्य प्रणीत होता है, उसी को सत्-साहित्य कहा जाता है। समाज के हित की उपेक्षा करनेवाला साहित्यकार और कलाकार कभी भी अपने समाज और अपने राष्ट्र में आदरणीय पद प्राप्त नहीं कर सकता।

६. कवि अपने काव्य में, कलाकार अपनी कला में और साहित्यकार अपने साहित्य में जिस मुख्य वस्तु का ध्यान रखता है, वह है लोक-मगल, लोक-कल्याण और लोक-भावना। देखा गया है कि ससार में क्रान्ति की जितनी आग कवि, कलाकार और साहित्यकारों ने लगाई है, उतनी राजनैतिक नेताओ ने नहीं। राजनैतिक नेताओ को अपनी योजनाओ को सफल करने के लिए और अपनी कामनानुरूप राज्य की स्थापना के लिए साहित्य और कलाकारो का सहयोग और सहकार लेना ही पडता है। राम को अमर करनेवाला वाल्मीकि था। कृष्ण को अमर करनेवाला व्यास ही था। कवि कालिदास ने भारतीय-संस्कृति और भारतीय-धर्म का जो उच्च-स्तरीय रूप रखा है, हजार-हजार राष्ट्र-नेता भी इस कार्य को नहीं कर सकते थे। क्यो कि राष्ट्र-नेता मे लोकप्रसिद्धी की कामना तो रहती ही है, परन्तु लोक मगल की भावना नहीं। कवि, कलाकार और साहित्यकार में प्रसिद्धि, सम्मान और धन की अपेक्षा नहीं, उन की अपनी आत्मा की सचाई में से ही काव्य, साहित्य और कला का जन्म होता है, जो उस के मरणोत्तर जीवन में भी जनता की स्मृति-चेतना मे उसे सदा-सदा जीवित रखता है।

७. साहित्य और कला की उपयोगिता के सम्बन्ध में किसी भी

समझदार व्यक्ति को सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी शिक्षित व्यक्ति इस बात को बडी आसानी से समझ सकता है कि साहित्य ही हमारे बुरे सस्कारों को अच्छे सस्कारो मे परिणत कर देता है। साहित्य हमारे जीवन मे विविध रसो की सृष्टि करता है। रस की सृष्टि का अर्थ है—आनन्द की सृष्टि करना। साहित्यकार अपनी कृतियो के माध्यम से मानव चित्त की दूषित चित्तवृत्तियो का शोधन कर के मानव जीवन को उस धरा-तल पर ला कर खडा कर देता है, जहाँ जीवन के संघर्ष और द्वन्द्वो की कटुता नहीं, स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव की मधुरिमा ही रहती है। साहित्य हमारे जीवन की रिक्तता को भरने वाला एक अक्षय भंडार है। क्यो कि मानव समाज की ज्ञान राशि के सचित अक्षय भंडार का नाम ही साहित्य माना गया है। साहित्यकार और कलाकार देश-काल की सीमाओ का अवरोध दूर कर के विश्व-जाति की मंगल भावना को समाज की पृष्ठभूमि पर ला कर खडा कर देते हैं। साहित्य का पाठक व्यक्ति अपने घर में बैठ कर ही साहित्य के माध्यम से विश्व के किसी भी कवि, साहित्यकार और कलाकार से अपना सम्बन्ध जोड सकता है। एक भारतीय व्यक्ति भारत की राजधानी दिल्ली मे बैठ कर शेक्सपियर की रचनाओ का आनन्द ले सकता है और लदन में तथा यूरोप मे जन जीवन को प्रभावित करनेवाले शेक्सपियर के नाटको एव काव्यों की सस्कृति, कला और साहित्य का निखरा हुआ रूप अपने कल्पना के नेत्रो के समक्ष देख सकता है। यह प्रयत्न है कि आज मास्को और वाशिंगटन में बैठ कर वहा का पाठक वर्ग भारत की भूमि में जन्म लेनेवाले महाकवि कालिदास के काव्यो के रसास्वाद का आनन्द ले सकते हैं। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध देश और काल की सीमाओ को लाघ कर विश्व-व्यापी बन जाता है। कवि, कलाकार और साहित्यकार, जितना ही अधिक पवित्र मानस का होगा और उस के हृदय मे अनुभूति

की जितनी गहनता होगी, उस का काव्य, उस का साहित्य और उस की कला उतनी ही अधिक ससार में फैल सकेगी।'

पण्डितजी की साहित्य साधना :

साहित्य और कला के सम्बन्ध मे पण्डितजी महाराज के उन विचारों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है, जो समय-समय पर उन्हो ने अपनी डायरिओ में अकित किए थे। मैं समझता हूँ कि साहित्य के सम्बन्ध में उन के विचार अत्यन्त स्पष्ट थे। साहित्य के और साहित्यकार के विचारों का वे सदा आदर ही करते थे। यद्यपि उन्हों ने अपने आप को कभी भी साहित्यकार की श्रेणि में सम्मिलित करने का प्रयत्न नहीं किया, पर यह सत्य है कि वे स्वयं भी एक अच्छे साहित्यकार थे। कविता के नाम पर और साहित्य के नाम पर भले ही अभी तक उन की कृति जनता के समक्ष न आ सकी हो, परन्तु इतने ही मात्र से वे साहित्यकारो की और कवियों की श्रेणि मे लाने से वञ्चित नहीं किए जा सकते। उन की सहृदयता, उन के हृदय की भावुकता और उन के मानस की सवेदन-शीलता ने ही उन्हें साहित्यकार का पद सहज प्रदान कर दिया था। जीवन का जो भी कल्याणकारी और मंगलकारी रूप मानव जीवन में माना जा सकता है, वह उन की कविताओं में, उन के निबन्धों में और उन के सस्मरणो में हमें सहज ही उपलब्ध होते हैं। उन के निबन्धो को यदि साहित्यिक कसौटी पर कसा जाए, तो मुझे यह कहने में जरा भी सकोच नहीं होता है कि वे शत-प्रतिशत सही उतरते है।

साहित्य-सेवा का उपहार :

उन के निबन्धों की शैली, भाव और भाषा केवल व्याकरण-सम्मत ही नहीं, रस-परिपूर्ण भी रही है। उन्हे प्रसिद्धि पाने का रोग नहीं था। और उन के मानस में साहित्यकार बनने की भावना का अकुर नहीं था।

यही कारण है कि एक अच्छे साहित्यकार होने पर भी वे जन-चेतना के पटल पर साहित्यकार के रूप में आसन जमा कर नहीं बैठ सके। शायद उन्हों ने यह समझा हो कि जिस प्रकार भवभूति के जीवन में उन के विचारों का आदर करनेवाला व्यक्ति उन्हे उपलब्ध नहीं हो सका, इसलिए भवभूति अपने युग का महान् कवि होते हुए भी लोकदृष्टि की उपेक्षा का शिकार बना रहा। हमारे पण्डितजी महाराज के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सत्य इसी प्रकार का रहा है। मुझे नहीं लगता कि पण्डितजी के युग की जनता ने अथवा जन मानस ने उन के विचारो का और उन की भावना का समादर किया हो। परन्तु निश्चय ही आने वाले भविष्य में हमारी ही प्रजा उन के साहित्यकार रूप का आदर ही नहीं, बल्कि अपने जीवन लक्ष्य के निर्धारण में और जीवन की सही दिशा पाने के प्रयत्न में पण्डितजी महाराज के साहित्य के अध्ययन से प्रेरणा और सन्देश भी पा सकेगी। क्यों कि उन्हों ने जो कुछ लिखा है वह लोक-मगल और लोक-कल्याण की भावना से ही लिखा है। उन के विचारों की उदारता उन के विचारो की समीचीनता और उन की शैली की शालीनता एक दिन अवश्य ही भावी युग की प्रसुप्त चेतना को प्रबुद्ध कर सकेगी। पण्डितजी महाराज ने जो कुछ लिखा है, उस में वैविध्य हो सकता है, किन्तु किसी भी प्रकार का वैचित्र्य नहीं है। यदि विचित्रता के नाम पर उन के साहित्य में कुछ खोजने का प्रयत्न किया जाए, तब मेरे विचार मे इतना अवश्य मिल सकता है कि जो विचार अभी उन के जीवन काल से एक शताब्दी बाद आने वाला था, उसे उन्हों ने अपने जीवन में ही साकार करने का संकल्प ही नहीं किया, कहीं-कहीं पर हठपूर्वक आग्रह भी किया है। अपने हठपूर्वक आग्रह के कारण ही अपने युग की जनता का जितना प्यार उन्हें मिलना चाहिए था, उस से वे वंचित ही रहे। उनके जीवन की इस विचित्रता को अथवा विलक्षणता को या संकल्प-शक्ति को जन-मानस

भले ही दूषण समझे, किन्तु मैं तो उन्हें उन के जीवन का भूषण ही कहता हूँ। क्यो कि युगपुरुष अथवा युगान्तरकारी पुरुष उसी व्यक्ति को कहा जा सकता है, जो वर्तमान में जीवित रह कर भी अतीत से प्रेरणा पा सके और भविष्य की आशावादी सुन्दर कल्पना कर सके तथा अपने भविष्य के स्वप्नो को अपने वर्तमान जीवन में साकार करने का प्रयत्न कर सके। यह देखा जाता है कि प्रायः कर के सुधारवादी, युगान्तरकारी पुरुषों को उस युग की जनता ने सदा निरादर और उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। यूनान के महान् विचारक सुकरात के युग की सरकार और जनाता ने उसे इसी आधार पर जहर का प्याला पिला दिया था कि उस ने अपने भविष्य के स्वप्नो को अपने वर्तमान जीवन मे साकार करने का सक्रिय प्रयत्न किया था। ईसा को इसी आधार पर सूली पर चढा दिया गया था कि उस ने किसी एक जाति, किसी एक वर्ग और किसी एक राष्ट्र से प्रेम न कर के सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करने का और मानव-मानव मे समानता का आधार ढूंढने के लिए जीवन-तत्त्व विनाशक रग-भेद और वर्ण-भेद मानने से इन्कार कर दिया था। जिस गाधी ने भारत को और भारत की कोटि-कोटि जनता को युग-युग की दासना की बेडियो से मुक्त करने का और स्वतन्त्र करने का प्रबलतम प्रयत्न किया और जातिवाद, प्रान्तवाद तथा भाषावाद इन जहरीले विचारो को मानने से इन्कार कर दिया था, उस गाधी को गोली का शिकार होना पडा। उस का मुख्य कारण यही था कि उन्हो ने अपने विचारो को उसी युग में साकार करन का प्रयत्न किया, जिन को उन के युग की जनता सुनना पसन्द नहीं करती थी। पण्डितजी महाराज के जीवन मे भी बहुत कुछ इस प्रकार ही हुआ है। उन की उपेक्षा का कारण भी इसी प्रकार का था।

◎ ◎

कला और काव्य

कला और काव्य का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो इस शरीर के साथ उस की प्राण-शक्ति का। काव्य मे कला आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। काव्य— जिस को वास्तविक अर्थ मे काव्य कहा जाता है— कभी भी कला-शून्य नहीं हो सकता। काव्य की आत्मा को यदि रस माना जाए, तो उस की सजावट को कला कहना होगा। कला के काव्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से क्षेत्र है, किन्तु अन्य कलाओ से पहले इस काव्य-कला का ही जन्म हुआ था। महर्षि वाल्मीकि ने जब यह देखा कि एक व्याध ने क्रौंच के मिथुन में से एक को अपने बाण का शिकार बना दिया है, उस समय वियोगी क्रौंच के करुणा नाद को सुन कर उन के हृदय में जो करुणा का स्रोत उमड पडा था, उस ने संगीतमय काव्य का रूप धारण कर लिया था। मानव की धरती का यह सर्व प्रथम काव्य था। काव्य में कला और-संगीत इन दोनों का समन्वय आवश्यक है। कला और संगीत इन दोनो के सयोग से जिस काव्य की रचना होती है, वह युग-युग तक जन-मानस की चेतना में जीवित रहता है। और सृष्टि के कण-कण मे बिखर कर सर्वत्र परिव्याप्त हो जाता है।

कला का स्वरूप :

यहाँ पर कला के सम्बन्ध में कुछ बतलाना आवश्यक है। कला एक वह क्रिया है, जिस के आधार पर कलाकार अपनी कृतियो मे सौन्दर्य की सृष्टि करता है। किसी वस्तु को देख कर जब कलाकार का मन प्रभावित हो उठता है और उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए उस मे आकुलता जाग उठती है, तब वह अपने मन की सौन्दर्य भावना का योग दे कर अपनी कला को जन्म देता है। उस की इस कला के द्वारा उस की भावना अपने सुन्दर रूप मे सब के समक्ष प्रगट होती है। कुछ न कुछ सुन्दरता का योग प्रत्येक वस्तु मे रहता ही है, भले ही फिर वह व्यक्त न हो कर अव्यक्त ही क्यों न हो। इस सृष्टि के कण-कण मे सौन्दर्य परिव्याप्त है। कलाकार अपनी कलामयी दृष्टि से उस की उद्भावना कर के अपनी कल्पना से, अपनी तूलिका से, अपनी छीनी और हथौडे से तथा अपने स्वर के नाद से कल्पना के विभिन्न रूपों को तथा विविध स्वरूपो को, जो आवृत थे, उन्हे अनावृत कर देता है।

कला के क्षेत्र :

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु में किसी हद तक कला समन्वित है। किन्तु, इन जगत् के पदार्थों को ध्यान से देखने पर यह परिलक्षित हो सका है कि कुछ पदार्थ उपयोग की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ भाव की दृष्टि से। प्रथम कोटि के पदार्थ भौतिक सुखों की उपलब्धि में अधिक सहायक सिद्ध होते हैं और द्वितीय कोटि के पदार्थ रससिद्धि तथा आनन्द की उपलब्धि मे सहायक होते है। इस आधार पर कला को दो भागो में बाँटा गया है—जीवनोपयोगी कला और ललित-कला। लुहार, बटाई, सुथार और कुम्हार आदि की कला को जीवनोपयोगी कला कहा जाता है। ललित कला के पाँच भेद है—

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यकला और संगीतकला। वास्तु-कला को स्थापत्यकला और शिल्पकला भी कहा जाता है। मूर्तिकला और चित्रकला के सम्बन्ध में कोई बाह्य आधार न हो कर कलाकार के अन्तर मानस का अभौतिक आधार ही मुख्य रहता है। एक मूर्तिकार एक अनघड पत्थर को जब अपनी कलामयी दृष्टि से उसे कला का साकार रूप प्रदान करता है, तब उस पत्थर मे एक सुन्दर तथा आकर्षक मूर्ति प्रगट हो जाती है। एक चित्रकार दीवार पर तथा कागज पर अपनी तूलिका के माध्यम से रेखाएं बनाता जाता है और हम देखते हैं कि इन रेखाओ में से ही सुन्दर और आकर्षक चित्र प्रगट हो जाता है। वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का उपयोग अधिक तर भारत के मन्दिरों में तथा धर्मस्थानो मे होता रहा है। जैन परपरा की दृष्टि से मूर्तिकला का एव वास्तुकला का सर्वाधिक एव सर्वोच्च स्वरूप विश्व-विख्यात आबू के जैन मन्दिरो में देखने को मिलता है। आगरा का ताजमहल और वहां का राधास्वामी का मन्दिर भी भारत की श्रेष्ठ स्थापत्य कला एवं शिल्पकला के सुन्दर और मधुर आदर्श हैं। काव्यकला और संगीत कला दोनो का सहभाग ही अधिकतर मिलता है। भारत के भक्ति-साहित्य मे तथा काव्यो मे और लोक-गीतो मे काव्य कला और संगीत कला के स्पष्ट स्वरूप दृष्टि गोचर होते हैं। वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला की अपेक्षा संगीत-कला का मूर्त आधार अधिक सूक्ष्म है। संगीतज्ञ कलाकार अपने स्वरो के आरोहण-अवरोहण और अपने स्वर-सन्धान के द्वारा जिस राग-रागिणी को प्रस्तुत करता है, उस से उस के मन के सभी भाव व्यक्त हो उठते हैं। स्वर की सूक्ष्म स्थिति का कथन कर सकना कठिन है। नाद, सौन्दर्य रूप मूर्त आधार का संयोग, संगीत के साथ अवश्य होता है। फिर भी संगीत-कला अन्य कलाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ और अधिक सूक्ष्म है। काव्य-कला का स्थान सभी

ललित कलाओ मे सर्वाधिक श्रेष्ठ माना गया है। क्यों कि इस कला को अभिव्यक्त करने के उपकरण अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। कुछ शब्द समूहों को लेकर काव्य-कला प्रतिष्ठित होती है। शब्द और उस में छिपे हुए अर्थ की सूक्ष्मता काव्य को अति उच्च स्थान प्रदान करती है। रमणीयता की दृष्टि से जब काव्य-कला में नाद-ध्वनि लाने का प्रयत्न होता है, तब उस की स्थिति संगीत-सी हो जाती है। मूर्त आधार की अल्पतर स्थिति के कारण ही काव्य कला सर्वश्रेष्ठ कला के रूप मे साहित्य जगत् मे अभिमान्य हुई है। संगीत और काव्य दोनो में ही नाद की स्थिति रहती है। किन्तु, संगीत मे स्वर नाद-प्रधान रहता है और काव्य मे वह भाव-प्रधान रहता है।

पण्डितजी के विचार

पण्डित श्रीमलजी महाराज ने जिन जीवन चरित्रों की रचना संगीत-मय की है, उन मे काव्य-कला और संगीत-कला का जो रूप निखर कर आया है, वह सुन्दर, मधुर और रुचिकर है। यद्यपि पण्डितजी ने कभी अपने को कवि कहलाने की अथवा कवि लिखने की भूल नहीं की, तथापि उन का कवि-कर्म उन के संगीतमय धार्मिक गीतों में तथा विभिन्न प्रकार के उन के द्वारा रचित जीवन चरित्रो मे अभिव्यक्त हो ही जाता है। पण्डितजी महाराज सहृदय एव भावुक व्यक्ति थे। मानव मन की यह भावुकता एवं सहृदयता ही काव्य को जन्म देती है। यदि साहित्यिक क्षेत्र में मानस की कोमलता, भावुकता और सौन्दर्याभिमुखी कल्पना को ही काव्य-कला का रूप स्वीकार कर लिया जाए, तब निश्चय ही पण्डितजी महाराज अपने आप में एक कवि थे और उस आधार पर उन की संगीत-मयी रचनाओं को हमें काव्य की संज्ञा देने का अधिकार हो जाता है। जहाँ काव्य होता है, वहाँ काव्य-कला अनिवार्य रूप में रहती ही है।

काव्यो मे काव्य-कला का अस्तित्व उसी प्रकार है, जिस प्रकार सुमनो मे उन की सुरभि का।

पण्डितजी महाराज ने समय-समय पर अनेक समयोपयोगी और युगानुकूल तथा शिक्षाप्रद जीवन चरित्रों की रचना की है। लगभग एक दर्जन से अधिक उनके द्वारा रचित चरित्र आज उन की डायरियो में एव लिखित अन्य सामग्री मे उपलब्ध हो रहे है। अंजना चरित्र, रुक्मिणी विवाह, कुणाल, श्रीपाल, गुणपाल, त्रिलोक-सुन्दरी चरित्र आदि उन की काव्यमयी एव नगीनमयी रचनाएँ हैं। इन चरित्र-काव्यो में पण्डितजी महाराज ने आधुनिक युग की नूतन से नूतन भावनाओं का समावेश किया है। कहीं-कहीं पर तो इन नगीनमय रचनाओ में पण्डितजी के अन्तर मानस का विद्रोही रूप प्रगट हुआ है, कहीं पर शान्त रूप, कहीं पर दार्शनिक रूप और कही पर कलामय रूप निखर कर आया है। इन सभी अर्थों मे पण्डितजी महाराज को मै कवि कहने का अपने मन मे विशेष आग्रह रखता हूँ। फिर भी यदि कवि की परिभाषा किसी महाकाव्य की रचना के आधार पर ही की जाती हो, तो उस अर्थ में शायद पण्डितजी को कवि कहने मे सकोच ही होगा। महाकाव्य की सृष्टि या रचना जिन कवियो ने की है, उन्हे अपने हृदय की अमूर्त भावनाओ को कहीं न कहीं पर अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त हो ही जाता है। अपने काव्यो में कवि केवल अपनी भावनाओ को ही अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि वह जिस युग प्रवाह मे जीवित है, उस युग प्रवाह की चेतनाओ की समग्र भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता है। कुशल कवि, सफल काव्यकार वही माना जाता है, जो अपने युग की विभिन्न विचार धाराओं में सामजस्य एव समन्वय स्थापित करने मे सफल हो सके। सन्त तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरित-मानस' मे अपने युग की समग्र भावनाओ को सकलित कर के उन के समन्वित स्वरूप को ही

लोक-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि उन के 'राम-चरित-मानस' मे तथा अन्य कृतियों मे शैव और वैष्णव मतों के अन्त-र्द्वंद्व शान्त प्रतीत होते हैं। वेदान्त परपरा के अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद और द्वैतवाद आदि के तीव्रतर संघर्ष भी अत्यन्त शान्त और विनीत रूप में अभिव्यक्त हो पाए हैं। सन्त तुलसीदासजी के कवि-कर्म की यह सर्वाधिक सफलता थी, जिस का अभाव हमें सूरदास में तथा रीतिकाल के महाकवि केशव में परिलक्षित होता है। शायद इसी आधार पर साहित्य-क्षेत्र के समालोचकों का एवं समीक्षकों का यह अभिमत रहा कि कवि अपने युग का द्रष्टा और स्रष्टा होता है। प्राचीन साहित्य मे कवि को ब्रह्मा और प्रजापति के पद से भी विभूपित करने का प्रयत्न किया गया है। क्यो कि कवि अपने काव्य जगत् का स्रष्टा और उत्पादक है। अतः कवि की परिभाषा और उस के काव्य-कर्म को समझने के लिए हमें सहानुभूति की आवश्यकता है।

संगीत और कला :

पण्डितजी महाराज ने सगीत-कला के सम्बन्ध में अपने विचारो को अभिव्यक्त करते हुए कहा है– 'सगीत-कला मानव जीवन की एक अपूर्व वस्तु है। अन्य कलाओ की भॉति सगीत-कला का भी वहुत घनिष्ट सम्बन्ध प्रारभ से ही धर्म के साथ रहा है। यो तो सगीत भारत में सभी अवसरो पर काम में आता है। जन्म के समय अथवा किसी सस्कार के समय सगीत काम में आता है। गॉव के लोग भी खेतो में काम करते समय सगीतमय स्वरो में लोक-गीत गाते सुने जाते हैं। घर में रहनेवाली वहनें घर का काम करते हुए भी अपनी सगीतमय मधुर-मीठी स्वर लहरी से घर के सारे वातावरण को संगीतमय वना देती है। गीत अच्छा हो अथवा वुरा, मधुर कंठ पर चढ कर वह सहज ही सुन्दर और आकर्षक वन जाता है।

सगीत का प्रयोग एव उपयोग मनोरजन एवं मनोविनोद के लिए ही किया जाता है। आज ही नहीं, प्राचीन काल से ही शिक्षा के क्षेत्र में भी सगीत का योगदान रहा है और आज तो विशेष रूप मे इस की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। हमे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मानव जीवन मे कला का महत्त्व केवल व्यक्ति के मनोविनोद के लिए ही नहीं, वल्कि उस का सार्वजनिक रूप और सामाजिक रूप मे प्रयोग करने की आवश्यकता है। सच पूछिए, तो उस के अभाव में मानव जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यह देश का दुर्भाग्य था कि एक समय ऐसा आया, जब विशेपतया सगीत-विद्या का संपर्क विलास के साथ हो गया। कलाकार और उस का पोपक वर्ग भी विलासिता का शिकार हो गया। उस का फल यह हुआ कि प्रचलित सगीत अनेक स्थानों मे उच्च एवं शिष्ट समाज के अयोग्य समझा जाने लगा। और एक प्रकार से सगीत का अभ्यास समाज के उच्च वर्ग में से वहिष्कृत-सा हो गया। परन्तु आज युग परिवर्तन के साथ सगीत के क्षेत्र में भी परिवर्तन हो रहा है। और उस के लोक कल्याण-कारी रूप को प्रगट करने की दिशा में प्रयास किया जा रहा है। आज के कलाकारो और कलाप्रेमियो का यह कर्तव्य है कि उस सगीत-कला के सम्मान को सुरक्षित ही नहीं, वल्कि अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयास करे। देखा जाता है कि आज कला की प्रतिष्ठा वढती भी जा रही है, परन्तु कहीं-कहीं पर उस के पतन के सकेत भी प्राप्त होते हैं। सिनेमा जगत् में सगीत-कला का और नृत्य-कला का अनिवार्य रूप से प्रयोग एवं उपयोग किया जाता है। परन्तु, वह हमारे देश की जन-चेतना के समक्ष विलासमय रूप ही प्रस्तुत करता है। उस के इस वासनामय रूप को मिटा कर यदि वास्तविक अर्थों मे कला का स्वरूप दे दिया जाए, तव निश्चय ही हमारे देश की सस्कृति का उस से

गौरव ही बढेगा, और भारतीय जन-जन के मन-मन में संगीत-कला का धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्ष अभिव्यक्त हो सकेगा।' पण्डित श्रीमलजी महाराज के सगीत कला के सम्बन्ध मे, जो विचार उन की स्वयं की कलम से यहाँ प्रकट किया गया है, उस का साकार रूप स्वय उन का जीवन भी था। उन का स्वर इतना मधुर, इतना मोहक और इतना आकर्षक था कि श्रोताओ के मन को वे अपनी मधुर स्वर-लहरी से मुग्ध बना देते थे। महाराष्ट्र के सन्तो के भक्तिगीत, राजस्थान की मीरा के गीत, सूर और तुलसी के गीत तथा जैन-परपरा के आनन्दघन के अध्यात्म गीतों को वे कलात्मक शैली से मधुर स्वर मे गाया करते थे। यह उनका सगीत प्रेम था।

◎ ◎

नारी जीवन और विकास

नारी जीवन के विपय में संसार भर के लेखको ने कुछ न कुछ लिख ही है। चीन के दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने नारी को 'ससार का सार कहा है।' पाश्चिमात्य देश के ही एक दूसरे विद्वान् कोली ने कहा है— 'नारी क्या ? वह केवल प्रकृति की एक मधुर भूल है।' शेक्सपियर ने नारी को 'पुरुप की दुर्वलता' कहा है। बाइविल में नारी को 'एक कमजोर नाव' कहा है। फारसी भाषा के एक विद्वान् ने कहा है— 'नारी क्या है ? खुदा ने एक गुलाब का फूल, एक कमल, एक फाख्ता, एक मोम, थोडा-सा मधु, मृत सागर का एक सेव और मुट्ठिया मिट्टी लेकर इन सब के संयोग से नारी की रचना की है।' भारत के सन्तो ने एवं लेखको ने एक ओर तो नारी को 'नरक का द्वार' कहा है, तो दूसरी ओर उन्हों ने यह भी कहा है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।' जिस घर में नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता वास करते हैं।

महावीर और नारी :

भारतीय साहित्य मे ही नहीं, विश्व के सम्पूर्ण साहित्य मे नारी जीवन

के दोनों पक्ष उपलब्ध होते हैं— शुभ और अशुभ। निन्दा भी और प्रशंसा भी। आखिर यह क्यों? यदि नारी दुर्बल है, तो क्या नर भी दुर्बल नहीं हो सकता? जहाँ तक जीवन की भूलो का प्रश्न है, वह दोनों के ही जीवन में हो सकती हैं। भारत के प्राचीन साहित्य में— वैदिक, बौद्ध और जैन सभी में— नारी निन्दा के स्वर तीव्रता से मुखरित हुए हैं। बुद्ध ने तो नारी को अपने संघ का सदस्य बनाने से इन्कार कर दिया। अपने शिष्य आनन्द के आग्रह से ही उन्हो ने अपने संघ में नारी को भिक्षुणी के रूप में अधिकार दिया था। वैदिक परम्परा में तो नारी का इस से भी अधिक तीव्र विरोध प्रारम्भ से ही रहा है।

विश्व विराट् महापुरुषो में सम्भवतः भगवान महावीर ही एक अपवाद रूप हैं, जिन्हो ने अपनी संघ सरचना में प्रारम्भ से ही पुरुष के समान ही नारी को भी अपने सघ का एक घटक माना है। भगवान के धार्मिक सघ में साध्वी और श्राविका को भी उतना ही अधिकार है, जितना कि साधु और श्रावक को दिया गया है। यही कारण है कि भगवान महावीर के धार्मिक एव आध्यात्मिक संघ में कर्म और अध्यात्मभाव की दृष्टि से महासती चन्दनबाला और जयन्ती श्राविका का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। नारी-मुक्ति का द्वार खोल कर निश्चय ही भगवान महावीर ने अपने युग मे एक बहुत बडी क्रान्ति की थी। क्यों कि उस युग में नारी जाति का घोर अपमान किया जा रहा था।

गांधी और नारी :

आज के इस नवीन युग में महात्मा गाधी ने फिर नारी जाति की शिक्षा, स्वतन्त्रता और उस के मौलिक अधिकारो का प्रश्न उठाया। गाधी जी की आवाज को सुन कर विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने रामायण की उपेक्षिता लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला के दबे हुए जीवन को उभारा।

इस युग के राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने साकेत महाकाव्य में उर्मिला के जीवन को खूब निखारा है। इसी कवि ने अपने यशोधरा काव्य में बुद्ध की पत्नी को इतना ऊँचे चढा दिया कि बुद्ध का जीवन उस की सेवा, श्रद्धा और त्याग के सामने पराजित जैसा ही हो गया है। महाकवि प्रसाद ने अपने कामायनी काव्य में मनु की अपेक्षा, उस की पत्नी श्रद्धा के जीवन को खूब आगे बढा दिया है।

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥"

महादेवी वर्मा ने युग-युग से पीडित नारी की मानसिक वेदना को समझ कर कहा— 'नारी केवल मांस-पिण्ड की संज्ञा नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ दे कर, उस की विजय-यात्रा को सफल बना कर, उस के अभिशापो को स्वय झेल कर और अपने वरदानों से उस के जीवन में अक्षय शक्ति भर कर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है।' इस कथन में नारी जीवन का उज्ज्वल रूप अत्यन्त सुन्दरता से प्रगट किया गया है।

पण्डितजी के विचार :

पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपने लेखों में, गीतों में और कविताओं में नारी जीवन, उस की शिक्षा, उस के विकास, उस की श्रद्धा, सेवा और भक्ति के विषय में बहुत ही स्पष्टता से विचार किया है। पण्डितजी के द्वारा रचित कवितामय जीवन चरित्रों में, विशेषतया 'अंजना' और 'रुक्मणी-विवाह' मे नारी जीवन के उज्ज्वल पक्षो को बडी सुन्दर

शैली में, ललित भाषा में और अभिव्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त किया है। नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे प्रगतिशील देखना चाहते थे। समाज की अनेक बहनों को उन्होंने समय-समय पर प्रेरणा दे कर आगे बढाया है। आज भी उन से अनुप्रेरित हो कर अनेक बहनें अपने जीवन के विकास-पथ पर आगे बढ रही हैं।

भारत की नारी का आदर्श :

भारतीय नारी का आदर्श एक आदर्श है, जिस का प्रतिरूप हमें विश्व के किसी दूसरे साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकता। भारतीय नारी का त्याग, भारतीय नारी की सेवा और भारतीय नारी के मन में जो एक सहज श्रद्धा रहती है, उस ने भारतीय नारी को बहुत ऊँचे पद पर ले जा कर खडा कर दिया है। मैं समझता हूँ, विश्व साहित्य के इतिहास में नारी के तप और त्याग के जो आदर्श हमें उपलब्ध होते हैं, वे वास्तव में अद्भुत और अनुपम हैं। भारतीय समाज में नारी का स्थान कुछ उदाहरणों को छोड कर अत्यन्त महत्त्व पूर्ण रहा है। भारतीय समाज नारी जाति को लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा के रूप में पूजता रहा है। घर की प्रतिष्ठा और समाज का सन्मान नारी जाति के उत्कर्ष पर ही अवलंबित है। भारत के प्राचीन इतिहास में, फिर भले ही वह इतिहास वैदिक परपरा का रहा हो, जैन परपरा का रहा हो अथवा बौद्ध परपरा का रहा हो, नारी जाति ने इतिहास के पन्नो पर अपने जीवन का जो एक शानदार अध्याय लिखाया है, उसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। और भविष्य में भी इतिहासकार उसे उपेक्षा के गर्त में फैंक नहीं सकेंगे। वैदिक युग की नारी कुछ बन्धनो में जकडी-जकडी-सी प्रतीत होती है, समाज के क्षेत्र में और धर्म के क्षेत्र में उसे कुछ अधिकारों से वंचित रखने का प्रयत्न यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। फिर भी सब-कुछ मिलाकर देखने पर नारी जाति ने उस

अन्धकार पूर्ण युग में भी अपनी प्रतिभा, अपने शील और अपनी सेवा में जो कुछ आदर्श उपस्थित किए थे, वे आज भी भारतीय-इतिहास के पन्नों पर चमक रहे हैं। गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे प्रौढ विद्वान् के साथ राजा जनक की सभा में शास्त्रार्थ करके निरुत्तर कर दिया था। बौद्ध-साहित्य में सुजाता ने जो अपना एक स्थान बनाया है, वह नारी जाति के इतिहास में गौरव पूर्ण स्थान रखता है। जैन-इतिहास में जयन्ती जैसी तर्कशील नारी ने भगवान महावीर के समवसरण में जो प्रश्न पूछे हैं और भगवान ने उस का जो समाधान दिया है, वह नारी जाति के चिन्तन का और उस की तर्कशीलता का एक प्रबल प्रमाण कहा जा सकता है।

वीर राजस्थान की वीर नारी :

मध्यकाल के इतिहास में और विशेषतया राजस्थान की वीर भूमि की वीर नारियो ने अपने शील की रक्षा के लिए, अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए और अपने कुल एवं परपरा के सम्मान के लिए, जो कुछ महत्त्व पूर्ण कार्य किए हैं, उन से आज भी राजस्थान का इतिहास आलोकित हो रहा है। झाँसी की रानी का इतिहास और युद्ध के क्षेत्र में उस की तलवार के चमत्कार क्या कभी भुलाए जा सकेंगे? दुर्गावती और पद्मिनी जैसी राजपूत बालाओं ने सकट के विकट पलो में भी अपनी शान की रक्षा जिस प्रकार से की है, वह भारतीय नारी के इतिहास में एक महत्त्व पूर्ण अध्याय कहा जा सकता है। सीता, सावित्री, दमयन्ती, ब्राह्मी, सुन्दरी, ये नारी समाज के इतने उज्ज्वल और इतने उत्कृष्ट निदर्शन हैं कि जिन के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने बहुत-कुछ लिखा है और बहुत-कुछ लिखना अभी शेष भी है। नारी के सम्बन्ध में यहाँ पर केवल इतना ही बतलाना अभीष्ट है कि उस ने प्रत्येक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। कवि दिनकर के शब्दो में—

'नारी ही वह महा-सेतु,
जिस पर अदृश्य से चल कर।
नए मनुज नव-प्राण,
दृश्य जग में आते रहते हैं ॥'

'त्यागमयी हम कभी नहीं,
रुकती हैं अधिक समय तक।
इतिहासों की आग बुझाकर
भी उन के पृष्ठो में ॥'

इन पद्यो में जो अभिव्यक्त किया है, जिसे साहित्य में प्रगतिवादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है। नारी जाति ने प्राचीन युग से ले कर आज के युग तक कभी कम और कभी अधिक अपनी प्रगति को आगे बढाया है। नारी के मन में एक वह दृढ संकल्प-शक्ति है, जो उसे पीछे लौटने के लिए प्रेरणा नहीं देती है।

भविष्य की आशा :

भारतीय नारी के वर्तमान रूप को देख कर यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही उसे पूर्व गौरव प्राप्त हो सकेगा। परन्तु भारतीय नारी को अपनी मर्यादा और अपने आदर्शों को उज्ज्वल रखने के लिए यह आवश्यक है कि आज वह प्रगति के नाम पर, जो कुछ करना चाहती है, करने से पहले उसे इस के परिणामो पर भी भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए। नारी की शोभा शृंगार से नहीं, शील से है। नारी का सम्मान पुरुष के साथ प्रतियोगिता में खडे होने में नहीं है। उस का सम्मान और गौरव इसी बात में है कि वह अपने आदर्शों की ओर बढते हुए, अपने सेवा और त्याग धर्म से पराङ्मुख न बन जाए।

पवित्रता की रक्षा :

नारी जाति के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए आज के पुरुषों को भी कुछ समझना आवश्यक है। आज के इस विज्ञापन युग में नारी जाति के आकर्षक और मोहक रूपो को दिखला कर जन-मानस को अपनी ओर आकर्षित करने का जो एक गर्हित प्रयत्न चल रहा है, यह नारी जाति के लिए एक कलंकित प्रश्न तो है ही, पर इस का बहुत कुछ दायित्व पुरुषो पर ही अधिक है। आज के युग के पुरुषो को यह भली-भाँति समझना होगा कि नारी मात्र वासना की पूर्ति के लिए ही नहीं है, परन्तु वह एक सहयोगी और सहकारी के रूप में रहकर परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रत्येक कार्य में आप को सहयोग और सहकार दे सकती है।

अन्त में मै एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपने साहित्य में नारी के जिस पवित्र रूप का अंकन किया है, वह एक ऐसा रूप है जो विदेशी न हो कर, स्वदेशी है। भारतीय-संस्कृति के गौरव के अनुरूप विकास का ही वे समर्थन करते रहे हैं। उन के विचार में नारी जाति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए विकास का प्रत्येक द्वार उस के लिए खुला रहना चाहिए। नारी जाति को घर की चार दीवारी में बैठा कर आज आप उसे अपने मन-माने सिद्धान्तो पर चलाने के लिए बाध्य नहीं कर सकते।

◎ ◎

१

जीवन का शिक्षा के साथ और शिक्षा का जीवन के साथ वही सम्बन्ध है, जो इस शरीर का अपनी प्राण-शक्ति के साथ में है। जीवन शरीर है, और उस की प्राण शक्ति है उस की शिक्षा। शिक्षा के अभाव में जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है। जीवन में जो चमक-दमक आती है, वह सब शिक्षा के आधार पर ही। मानव जाति ने अपने दीर्घकाल के इतिहास में जो प्रगति और विकास के चरण बढाए हैं और आज के इस विज्ञान युग में भी जो आगे बढाव चालू है, उस का मूल कारण मानव जीवन में, यदि किसी को दिया जा सकता है, तो उस की शिक्षा को ही। शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोग एवं परीक्षण समय-समय पर होते रहे है, और आज भी हो रहे हैं। मनुष्य की शिक्षा का प्रारम्भ उस के घर से ही होता है। फिर ग्राम की पाठशाला, नगर का विद्यालय और देश का विश्व-विद्यालय, ये सभी जीवन की शिक्षा के केन्द्र माने जाते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में तो ग्राम और नगरों के कोलाहल से दूर, बहुत दूर वन-प्रान्तों में स्थित गुरुकुलो में ही शिक्षा का प्रारम्भ और परिसमाप्ति

होती थी। रामायण, महाभारत, रघुवश और अन्य काव्य ग्रन्थ एव इतिहास पुस्तकों में इन गुरुकुलों का बहुत सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। बौद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य के ग्रन्थों में भी गुरुकुल, पाठशाला और विद्यालयों का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ में मिलता है। नालन्दा विश्व-विद्यालय, जिस में भारत के विभिन्न प्रान्तो के शिक्षार्थी नहीं, बल्कि चीन, जापान, ईरान और मध्य-एशिया के अन्य भागो के शिक्षार्थी भी शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे। यूनान और मिस्र देश के साथ भी भारत का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। इस प्रकार प्राचीन युग में भारत ने शिक्षा के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया था।

शिक्षा और विज्ञान :

आज तो जीवन के मूल्य भी बदले है, और शिक्षा के मूल्य भी बदले हैं। प्राचीन युग में शिक्षा का आधार धर्म और अध्यात्म भाव था। परन्तु आज की शिक्षा के आधार विज्ञान और राजनीति हैं। शिक्षा की पद्धति भी आज स्वदेशी न हो कर, विदेशी ही अधिक है। युग के परिवर्तन के साथ जीवन का दृष्टिकोण भी बदल जाता है और शिक्षा के क्षेत्र भी बदलते रहे हैं और आज भी बदल रहे हैं। प्राचीन काल की शिक्षा का आदर्श था, बन्धनो से विमुक्ति, और आज है स्वार्थों में नियुक्ति। पहले विद्या बेची नहीं जाती थी, पर आज उस में व्यवसाय एव व्यापार बुद्धि ने प्रवेश पा लिया है। शिक्षको में आज कर्तव्य भावना विलुप्त हो चुकी है, और एक मात्र अधिकार लिप्सा बढती जा रही है। उधर छात्रों मे भी विनय-भाव और अनुशासन की भावना नष्ट हो चुकी है और उपद्रव, उद्दण्डता तथा तूफान करना ही उन्हो ने अपना ध्येय बना लिया है। अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर के आज के राष्ट्र के निर्माण में नहीं, विनाश में

ही सहयोग और सहकार कर रहे हैं। शिक्षक और छात्रों में स्नेह एवं सहानुभूति के स्थान पर अविश्वास एव संघर्ष ने स्थान ले लिया है, जिस के भयंकर परिणाम ही आए हैं।

शिक्षा की परिभाषा :

यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो ने शिक्षा के विषय में कहा था– 'शरीर और आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है, उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।' महान् विचारक बर्क ने कहा– 'शिक्षा क्या है? पुस्तकों का ढेर? बिल्कुल नहीं, बल्कि संसार के साथ, मनुष्यों के साथ और जीवन के साथ जो तादात्म्य वृत्ति है, वही शिक्षा है।' अरस्तू ने कहा था– 'जिन्हो ने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि युवकों की शिक्षा पर ही राज्य का भाग्य आधारित है।' हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा, 'लोगों को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए प्रस्तुत करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।' एडिसन ने कहा–' शिक्षा मानव जीवन के लिए वैसे ही है, जैसे संगमर्मर के पत्थर के लिए शिल्प कला।'

विवेकानन्द ने शिक्षा के विषय में कहा–' मनुष्य में जो सम्पूर्णता गुप्त रूप में विद्यमान है, उसे प्रत्यक्ष करना ही शिक्षा का कार्य है।' महाकवि निराला का कहना है–' संसार में जितने प्रकार की प्राप्तियाँ हैं, शिक्षा सब से बढकर है।' गाँधीजी ने कहा, 'सदाचार और निर्मल जीवन सच्ची शिक्षा का आधार है।' उपन्यासकार प्रेमचन्द ने कहा– ' जो शिक्षा हमें निर्बलो को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाए, जो हमें भोग-विलास में डुबाए, जो हमें दूसरों का रक्त पी कर मोटा होने का इच्छुक बनाए, वह शिक्षा नहीं

जीवन की भ्रष्टता ही हो सकती है।' शिक्षा केवल ज्ञान-दान नहीं करती, संस्कार और सुरुचि के अकुरो का पालन भी करती है। शिक्षा जीवन-वृक्ष का वीज है।

भारत के इतिहास के अतिप्राचीन युग में तक्षशिला और नालन्दा जैसे विश्व-विद्यालय इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि भारत में शिक्षा और विद्या से अत्यन्त प्रेम था। उत्तर भारत में तक्षशिला और पूर्व भारत में नालन्दा ने समग्र संसार को अध्यात्म, दर्शन, धर्म, इतिहास, सस्कृति और समाज की शिक्षा को उन्मुक्त भाव से बाँटा था। फिर भारत की पराधीनता का युग आया। दासता के उस युग में समस्त भारतीय-सस्कृति का रूप ही बदल गया। शिक्षा, जीवन, धर्म और परम्परा सभी को हम भूलने लगे। परन्तु भारत की स्वाधीनता के साथ ही देश की शिक्षा और सस्कृति की ओर सरकार तथा जनता—दोनों का ध्यान गया है।

शिक्षा का प्रसार :

शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रत्येक राज्य में शिक्षा विभाग स्थापित है। इस विभाग की ओर से शिक्षा के प्रसार के विविध कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। इस समय अपनी सरकार ने सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत शिक्षा को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार अब शिक्षा विभाग के अतिरिक्त विभिन्न विकास खण्डो के द्वारा भी शिक्षा प्रसार का कार्य हो रहा है। इन विभिन्न सूत्रो के द्वारा सरकार समस्त देश में कुछ ही समय के अन्तर्गत शिक्षा का पूर्ण प्रसार एवं प्रचार देखना चाहती है। शिक्षा प्रसार की दृष्टि से ही प्रत्येक विकास खण्ड में प्रारम्भिक पाठ-शालाएँ खोली जा रही हैं। विकास खण्डो में ग्रन्थालय एव वाचनालय खोल कर इस शिक्षा प्रसार के कार्य को शीघ्रता से सम्पादित किया जा रहा है। सरकार ने कक्षा छह तक के छात्रो के लिए निःशुल्क शिक्षा

की व्यवस्था कर दी है। सिर्फ न छात्रों को अनेक प्रकार की सहायता ही दी जा रही है, शिक्षा के स्वरूप को वदलने का प्रयास भी राज्य की ओर से हो रहा है। राज्य और जनता के सहयोग से देश के अधिक से अधिक लोग शीघ्र ही शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

शिक्षा के विभिन्न रूप :

विदेशी शासन के संस्कारो के साथ भारत में सह-शिक्षा आई। इस के रखने और मिटाने के लिए भी विचार-विनिमय किया जा रहा है। कुछ शिक्षा-शास्त्री सह-शिक्षा के समर्थक हैं और कुछ विरोधी भी। दोनो के अपने-अपने तर्क हैं। सह-शिक्षा के पक्ष में मत देने वालों का कथन है कि इस प्रकार की शिक्षा से संकोच भावना का परिहार होता है तथा आत्म-विश्वास जागता है। वालक और वालिकाओं को सदा एक-दूसरे से अलग रखना, उन के जीवन विकास को और पारस्परिक सम्बन्ध को अवरुद्ध करना है। अलग रहने वाले वालक-वालिकाओं में अन्त तक एक झिझक बनी रहती है, जिस के कारण उन का मानसिक विकास होने नहीं पाता है। दोनो के जीवन विकास के लिए सह-शिक्षा होनी ही चाहिए। वह आवश्यक है।

सह-शिक्षा के विरोध में भी प्रवल तर्क हैं। सह-शिक्षा छात्र और छात्राओं में तितली एवं भ्रमर वृत्ति को जन्म देती है। छात्राएँ शृंगार सज्जित हो कर स्कूल एवं कालेजो में आती हैं और अपने हाव-भाव के द्वारा छात्रों का ध्यान आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार की स्थिति छात्रों में भी दीख पडती है। वे भी अपनी कक्षाओ में वन-ठन कर आते हैं और अपना आकर्पण दिखाने का प्रयत्न करते हैं। फलतः चित्त की एकाग्रता मिट जाती है। मनो-भावना दूपित हो जाती है। मन की भावनाओ का प्रभाव उन के व्यवहार एव चारित्र्य पर भी पडने लगता

है। विद्या का पावन-मन्दिर वासना और कामना का केलिगृह वन जाता है। अध्यापकों को भी संकोच भाव से अपने विचारो से दवाना पडता है। कुछ बातों पर वे पूरा विचार प्रगट करने में संकोच का अनुभव करते हैं।

चीन ने और उस के वाद पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर के देश की चेतना को प्रबुद्ध कर दिया। देश की सुरक्षा के लिए अन्य विपयो की शिक्षा के साथ सरकार ने सैनिक शिक्षा को भी स्कूल और कालेजों में अनिवार्य वना दिया है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा की इस योजना से देश के युवको को अनेक लाभ प्राप्त होगे। वे देश की रक्षा कर सकेगे। सैनिक अनुशासन में वन्ध कर उन का जीवन अनुशासन-वद्ध रहेगा। वे शारीरिक यष्टि से स्वस्थ रह सकेंगे। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ वुद्धि का वास होता है। उन में एक साथ मिल कर कार्य करने की शक्ति पैदा होगी। आत्म-रक्षा और योग्य नागरिक के निर्माण का उद्देश्य ले कर अनिवार्य सैनिक शिक्षा को महत्त्व दिया गया है।

शिक्षा का लक्ष्य :

शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को ज्ञान-सम्पन्न बनाना है। शिक्षित व्यक्ति जीवन की विविध परिस्थितियों में अपना मार्ग वनाता है। शिक्षा का अर्थ केवल कुछ पुस्तकों को पढकर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना मात्र नहीं है। यह शिक्षा तो मनुष्य के जीवन विकास में अवरोध उत्पन्न करती है। वास्तविक शिक्षा वह है, जो उसके जीवन को स्वावलम्वी वना सके। गान्धीजी ने १९२७ में वर्धा मे एक नयी शिक्षा योजना को प्रस्तुत किया। इस को 'वर्धा-शिक्षा-योजना' कहा गया। अन्य नामो से भी इस शिक्षा योजना को सम्वोधित किया जाता है– वेसिक शिक्षा, वुनियादी तालीम, नयी तालीम। इस शिक्षा का उद्देश्य है, छात्र के

जीवन को स्वाश्रित वनाना। प्राचीन युग में इस को हस्तकला कहते थे।

पण्डितजी के विचार :

शिक्षा के विभिन्न अंग और विविध पद्धतियों पर विचार करने पर अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पण्डित श्रीमलजी महाराज के शिक्षा के विपय में क्या विचार थे। इस के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने से पूर्व हम को यह तो समझ ही लेना चाहिए कि पण्डितजी के गुरु आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने समाज का प्रवल विरोध होते हुए भी अपने शिष्यों को संस्कृत और प्राकृत पढाने के लिए पण्डितों की व्यवस्था की थी। इस प्रयत्न के लिए उन्हे उस समय समाज का तीव्र विरोध सहन करना पडा था। पण्डितों को रखकर शिक्षा दिलाने की उस समय प्रथा नहीं थी। अपनी राजस्थान भूमि को छोडकर आचार्य जवाहरलालजी महाराज को उस समय अपने शिष्यों के अध्ययन के लिए एव उन की शिक्षा के लिए मरुधरा से सुदूर महाराष्ट्र में अनेक वर्षों तक रहना पडा था। श्रद्धेय घासीलालजी महाराज, श्रद्धेय गणेशीलालजी महाराज और श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज उन के उसी प्रयत्न के साकार फल हैं। पण्डित घासीलालजी महाराज अपने गुरुदेव से अलग हो कर अपने द्वारा स्थापित अपनी सम्प्रदाय के आचार्य बन गए। आज भी वे गुजरात के मुख्य नगर अहमदाबाद में विराजित हैं। अपने गुरुदेव आचार्य श्रीजवाहरलालजी महाराज की शिक्षा के फलस्वरूप स्थानकवासी परपरा के मूल आधारभूत वत्तीस आगमों पर संस्कृत टीकाएँ लिखने में सफल हुए हैं। उन का यह प्रयत्न आज भी चालू है। उन का यह महान् कार्य युग-युग तक जीवित रहेगा। पूज्य श्रीगणेशीलालजी महाराज, जो आगे विकास कर के, आचार्य जवाहरलालजी महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में, अपनी सम्प्रदाय के आचार्य पद पर दीर्घ काल

तक सुशोभित रहे। फिर सादडी में संगठित विशाल श्रमण संघ के उपाचार्य पद पर भी कुछ वर्षों तक विराजित रहे। कुछ विचार भेद के कारण अथवा नीति भेद के कारण श्रमण संघ से अलग हो कर फिर अपनी भूतपूर्व सम्प्रदाय के आचार्य पद पर आसीन हो गए थे। पण्डित श्रीमलजी महाराज आचार्य जवाहरलालजी महाराज के सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे। पण्डितजी में गम्भीर ज्ञान और प्रकाण्ड पाण्डित्य होने पर भी, श्रमण संघ के विधायको में मुख्य पार्ट अदा करने पर भी, श्रमण सघ के किसी भी पद पर और साथ ही आचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज के द्वारा दिया जानेवाला अपनी सम्प्रदाय का आचार्य पद भी उन्हो ने स्वीकार नहीं किया। यह पण्डितजी महाराज के जीवन का सब से बडा त्याग था। इतना ही नहीं, अपने जीवन की सध्या के अन्तिम सॉस तक वे श्रमण सघ के वफादार रहे, और उसी में स्थिर रहे। यह सब उन की निर्मल ज्ञान-साधना का और उन के जीवन की शिक्षा का शुभ परिणाम था। अपने तेजस्वी गुरुदेव की शिक्षा और ज्ञान पा कर पण्डितजी का शिक्षा-प्रेम सहज एव स्वाभाविक था।

शिक्षा पर अपना चिन्तन :

शिक्षा के सम्बन्ध में पण्डितजी के अपने भी कुछ मौलिक विचार और चिन्तन था। शिक्षा के मूल तत्त्व क्या हैं ? शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए ? इस बारे में पण्डितजी महाराज ने अपने निबन्धो में, अपने चरित्रो में, और अपनी डायरी मे पर्याप्त लिखा है--

१. विद्या-- विनय और श्रद्धा से प्राप्त की जा सकती है। अल्प समय में विशाल राज्य की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु शिक्षक की अनिच्छा से एवं उस के प्रतिकूल हो कर उस से ज्ञान की निधि प्राप्त नहीं की जा सकती है।

२. शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास करना है। व्यक्ति के विकास में समाज का विकास है। शिक्षा जीवन को विनीत और विनम्र बनाने वाली होनी चाहिए।

३. आज स्वतन्त्र भारत के समक्ष केवल दो समस्याएँ हैं—शिक्षा और रक्षा। रक्षा की समस्या को तो दस-बीस लाख सैनिक बना कर कदाचित हल किया जा सके, पर अज्ञान का अन्धकार बहुत ही भयंकर है। जिस राष्ट्र की जनता जितनी अधिक शिक्षित होती है, वह राष्ट्र उतना ही अधिक विकसित होता है। शिक्षा विकास का आधार है।

४. माता और पिता जिस प्रेम से अपने पुत्र को शिक्षा दिलाते हैं, उतने ही प्रेम के साथ अपनी पुत्री को भी शिक्षा दिलाने का सकल्प उन्हे रखना चाहिए।

५. जीवन और शिक्षा दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। जीवन को संस्कारी, विचारी और आचारी बनाने के लिए शिक्षा से बढ कर अन्य कुछ भी उपाय नहीं है।

६. शिक्षा के कार्यक्रम में अन्य कुछ भी विषय रखे जाएँ, परन्तु धर्म को उस में अवश्य ही नहीं, अनिवार्य रूप में रखा जाना चाहिए। हमारी सस्कृति धर्म-प्रधान एवं धर्म-मूलक रही है। अतः धर्म के आधार पर ही शिक्षा का भव्य भवन खडा होना चाहिए।

७. शिक्षामें-विज्ञान को स्थान मिला है, इस में कुछ भी बुरा नहीं। यदि कुछ बुरा है, तो इतना ही कि उस में धर्म का नियोजन नहीं किया गया है। धर्म-शून्य वैज्ञानिक शिक्षा से विकास नहीं हो सकता।

८. शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि स्कूल और कालेज छोडने के बाद छात्र और छात्राएँ अपने आधार स्वय बन सकें। शिक्षा का लक्ष्य स्वतन्त्रता हो, परावलम्बन नहीं।

९. जिस ज्ञान से व्यक्ति का मनोबल न बढ़ता हो, अपनी आत्मा का निरीक्षण और परीक्षण न कर सकता हो, धर्म की साधना में अभिरुचि न जागृत हो, वह ज्ञान किस काम का?

१०. अध्ययन काल में बुद्धि विकास के साथ में शरीर विकास भी आवश्यक है। बौद्धिक, मानसिक और दैहिक—तीनो प्रकार का विकास ही सच्ची शिक्षा है।

◎ ◎

१०

सन्ध्या का समय था। रवि का रश्मिजाल भूमण्डल से सिमट कर वृक्षों के शिखरों पर और पर्वतों की चोटियों पर जा चुका था। आलोक धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा था। हम सन्त जन जहाँ पर ठहरे हुए थे, उस के सामने ही कुछ दूरी पर एक पार्क था, जिस में प्रभात वेला में और सन्ध्या वेला में नगर के सभी भागों से आ कर बालक एवं बालिकाएँ क्रीडा किया करते थे।

विज्ञान का चमत्कार :

देखा था, हमने। सारा पार्क रग-बिरगे बल्बों के प्रकाश से खिल उठा था। रेडिओ पर राष्ट्रीय गीत की मधुर स्वर लहरी झंकृत हो उठी थी। इसी प्रसंग पर पण्डिजी महाराज ने कहा—'देखो, यह सब विज्ञान का चमत्कार है।' प्रसंग वश मैं पूछ बैठा—'विज्ञान के सम्बन्ध में आप के विचार क्या है? मानव जीवन के लिए आप विज्ञान को अभिशाप समझते हैं अथवा वरदान?' पण्डितजी महाराज ने कुछ गम्भीर हो कर शान्त भाव से कहा,

'विज्ञान, विज्ञान है। आज का युग ही विज्ञान युग है। आज के

युग का मानव अपने जीवन की प्रत्येक वस्तु को विज्ञान की कसौटी पर कसता है। जीवन की बाहरी वस्तुओं को ही नहीं, जीवन की भीतरी वस्तुओ को भी आज विज्ञान की दृष्टि से सोचने और समझने का प्रयत्न चालू है। जीवन का एक भी क्षेत्र इस प्रकार का नहीं है, जिस में विज्ञान ने अपना चरण-न्यास न कर दिया हो। खाने में, पीने में, उठने में, बैठने में, चलने में, फिरने में– सर्वत्र अल्प अथवा अधिक विज्ञान का प्रभाव परिलक्षित हो जाता है। इतना ही नहीं, आज का विज्ञान तो हमारे आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने का प्रयत्न कर रहा है। शरीर की चिकित्सा ही नहीं, मनोवृत्तियो का अध्ययन भी विज्ञान की पद्धति से किया जाने लगा है। आत्मा और चेतन के सम्बन्ध में आज विज्ञान अपनी पद्धति से विचार कर रहा है।'

श्रीमलजी महाराज ने आगे कहा–'विज्ञान एक शक्ति है–वह अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। जापान में हिरोशिमा और नागासाकी में जब विज्ञान का वीभत्स रूप एव मानव विनाश का रूप देखा जाता है, तब तो विज्ञान एक अभिशाप से बढ कर कुछ भी नहीं रहता है। परन्तु विज्ञान का एक शुभ एव कल्याण कारी रूप भी है। जिसे मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में एक सुन्दर वरदान के रूप में हम देख सकते हैं। रेडियो, टेलिविजन, विद्युत्, चिकित्सा तथा कृषि आदि के सम्बन्ध में विज्ञान ने मानव जाति का बहुत बडा उपकार भी किया है। आज मनुष्य आकाश में उड सकता है, सागर के वक्षस्तल पर चल सकता है, और धरती पर रेल एव कार से दूरी को शीघ्रता से समीपता में बदल सकता है। ये सब विज्ञान युग के चमत्कार हैं। विज्ञान को जन्म देने वाली मानव बुद्धि ही है। परन्तु विज्ञान का सदुपयोग या दुरुपयोग करना, मनुष्य की अन्तरात्मा के विवेक पर निर्भर है। मेरे विचार में यदि विज्ञान का धर्म के साथ समन्वय कर दिया जाए, तो उस का

विनाशकारी रूप कल्याणकारी रूप में बदला जा सकता है।'

विज्ञान जैसे विषय पर भी पण्डितजी महाराज के कुछ विचार उन की डायरियों के पन्नों पर अथवा उन के निबन्धों में बिखरे मिलते हैं।

शुभ और अशुभ :

केवल विज्ञान ही नहीं, जगत की किसी भी वस्तु के दो पक्ष हो सकते हैं– शुभ और अशुभ अथवा सत् और असत्। किन्तु किसी वस्तु का असत् और अशुभ पक्ष भी है, इतने मात्र से उस की उपेक्षा करना, न तो न्याय-संगत है, न तर्कयुक्त है और न ही फर्ज के अनुकूल है। मनुष्य को विज्ञान के अशुभ और असत् पक्ष की ओर न देख कर, उस के शुभ और सत् पक्ष की ओर ही देखना चाहिए। अच्छी से अच्छी वस्तु का दुरुपयोग और बुरी से बुरी वस्तु का सदुपयोग करना– मनुष्य की बुद्धि एव विवेक पर ही निर्भर रहता है। परन्तु इस में विज्ञान का कुछ भी दोष नहीं है।

विज्ञान ने एक ओर तो इस धरती के मानव के लिए हजारो प्रकार के सुख-साधनों का आविष्कार किया है, पर दूसरी ओर मानव जाति के विनाश के लिए अणुबम्ब जैसे भयंकर शस्त्रो का भी आविष्कार किया है। विज्ञान एक ऐसा देवता है, जो मानव की बुद्धि में और मानव के हृदय में देव बनकर भी बैठ सकता है और दानव बनकर भी। संसार को बचा भी सकता है और नष्ट भी कर सकता है। यह अमृत भी है और भयकर विष भी है। जीवन और मृत्यु– दोनों आज उस की मुट्ठी में हैं। शस्त्रो का आविष्कार कर के उसने विनाश का द्वार भी खोल दिया है, तो दूसरी ओर भयकर रोगों के पंजों से मानव जाति को विमुक्त भी कर दिया है। भयंकर से भयकर पीडा देने वाले रोगो को बिना पीडा के आपरेशन के द्वारा, इन से स्वस्थ बनने का भव्य द्वार भी खोला है।

अन्धो को इस ने आँखें दी हैं। वधिरों को इस ने कान दिए हैं। लगडों को पैर दिए है, तो हाथ हीनों को सुन्दर हाथ। हृदय बदलना अब इस युग में आसान हो गया है। लिंग परिवर्तन के वर्णन भी आज सुनने में आ रहे हैं। सन्तान हीन वन्ध्या माता की गोद भी इस ने भर दी है। विज्ञान ने आज क्या किया? इस प्रश्न की अपेक्षा, यह प्रश्न अधिक संगत होगा कि, विज्ञान ने आज क्या नहीं किया? मनुष्य के मस्तिष्क वदलने का अनुसन्धान भी किया जा रहा है।

चन्द्र लोक, मगल लोक, शुक्र लोक की यात्रा के स्वप्न भी आज इस धरती पर दो पैरो से चलनेवाला मनुष्य ले ही नहीं रहा है, उस स्वप्न को साकार करने की दिशा में तेजी के साथ अग्रसर भी हो रह है। सागर की अतल गहराई में पहुँच कर, विज्ञान ने सागर के गुप्त रहस्यों को मानव की बुद्धि के सामने प्रस्तुत कर दिया है। रेगिस्तानों को हराभरा वाग बना दिया है, तो दूसरी ओर पर्वतो को समतल भूमि बना कर उसे उर्वर भूमि के रूप में वदल डाला है। विज्ञान के आधार पर आज मनुष्य की पहुँच कहाँ नहीं है?

प्रकृति पर विजय :

नभ में, जल में और थल में—

सर्वत्र ही विज्ञान ने आज के मानव को सर्वाधिकार प्राप्त बना दिया है। दूसरे शब्दों में प्रकृति पर पूर्ण विजय मनुष्य ने प्राप्त कर ली है। प्रकृति का कोई भी रहस्य आज मानवी बुद्धि की सीमा से बाहर नहीं रह गया है। विज्ञान का अर्थ है—प्रकृति पर मानवी बुद्धि की विजय-यात्रा। इस विजय-यात्रा में आगे चल कर मनुष्य को अन्य क्या उपलब्धि होनेवाली है—सभी के मानस में यह प्रश्न है।

आज का सम्पूर्ण जीवन और विशेषतः मानव जीवन और उस का

हर पहलू आज विज्ञान से प्रभावित ही नहीं, बल्कि विज्ञान की नयी उपलब्धियों से चकित और विस्मित भी है। आज के इस जानी-मानी दुनिया के इन्सान की अक्ल हैरान और परेशान भी है। आज मनुष्य का जीवन कहीं पर भी सुरक्षा का अनुभव नहीं कर पा रहा है। विज्ञान ने संस्कृति, साहित्य और कला के विभिन्न एवं विविध क्षेत्रों में योग-दान दे कर इन का विकास भी किया है, तो सिनेमा जैसे मनोरंजन का आविष्कार कर के जीवन को भोग–वासना के गहरे गर्त में डालकर विनाश भी किया है। जीवन की उर्वर भूमि में से विज्ञान ने विकास को भी जन्म दिया है, तो विनाश को भी। मानव की सृष्टि में विज्ञान सुन्दर स्वर्ग भी उपस्थित कर सकता है, तो दूसरी ओर विध्वस, प्रलय और विनाश का नरक भी।

विनाश और विकास :

विज्ञान के विपय में जो विचार पण्डित श्रीमलजी महाराज के रहे हैं, वे ही विचार कवि दिनकर के भी हैं—

> "विश्व-दाहक, मृत्युवाहक
> सृष्टि का सन्ताप।
> भ्रान्त पथ पर अन्ध बढते
> ज्ञान का अभिशाप॥"

कवि ने अपनी इस कविता में विज्ञान के वीभत्स रूप का वर्णन किया है। विज्ञान के असार, अशुभ और जीवन के अभिशाप रूप का वर्णन किया है। कवि का कहना है– विज्ञान ससार का दाहक है, जीवन का मारक है और सृष्टि का सन्ताप भी है। विज्ञान को भ्रान्त पथ पर बढानेवाला एवं उसे मानव जीवन के ज्ञान का अभिशाप भी कह दिया गया है, अन्त में कवि ने अत्यन्त तीखे शब्दों में विज्ञान की कटु

आलोचना करते हुए उसे जीवन में त्याज्य बतलाया है, क्यो कि वह मानव सृष्टि का विध्वस, प्रलय और नाश करनेवाला है।

परन्तु कवि दिनकर ने विज्ञान के सत्, शुभ, वरदान और प्रशस्त रूप का भी अपनी कविता में अत्यन्त सुन्दर एव मधुर चित्रण भी किया है–

> "श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
> हो सुलभ सब को सहज जिस की रुचिर अवदान।
> श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
> ढो सके जिस से प्रकृति सब के सुखों का भार॥"

कवि ने अपनी सुन्दर शैली में विज्ञान के विरोधियो को बडा ही करारा उत्तर दिया है। कवि ने विज्ञान को श्रेय, वरदान, अवदान, सुखदायक और जीवन का शिवरूप आविष्कार कहा है। दिनकर ने विज्ञान के दोनो ही रूपो का सुन्दर चित्रण कर के उस की उपयोगिता का ही अधिकतर समर्थन किया है।

जैन दर्शन के अनुसार भी प्रत्येक वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। जिस की जैसी दृष्टि होती है, उस के समक्ष वस्तु का वैसा ही रूप प्रस्तुत हो जाता है– शुभ भी और अशुभ भी।

जीवन में क्रान्ति :

विज्ञान की महान् देन ने मनुष्य को सर्वथा समर्थ बना दिया है। आज के इस विज्ञानवादी युग के मनुष्य के समक्ष आशा और विश्वास की नवज्योति, नवभूमि में नव मानव का भव्य स्वागत कर रही है। अपनी बुद्धि की पतवार सभाल कर आज मनुष्य अपने जीवन सागर के नव रहस्यो को समझने में सफल हुआ है। समस्त प्रकृति पर आज

के मानव ने विज्ञान के आधार पर विजय प्राप्त की है, और करता जा रहा है। अभी तो उस के चरण गतिशील हैं और निरन्तर आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। आज मनुष्य के सामने शैल, सागर, सरिता और भयकर जगलो का व्यवधान मिट गया है। हजारो और लाखों मील का दूर भी आज अपने घर का परिचित आगन जैसा लगता है– हम दूर जा कर भी आज समीप ही हैं। अन्धकार दूर करने के लिए विजली, पसीना सूखाने के लिए पंखा, भोजन पकाने के लिए गैस, सरदी से वचने को हीटर और गरमी से बचने को कूलर—मनुष्य की इच्छा के अनुसार सभी कुछ प्रस्तुत कर दिया है, इस विज्ञान ने। विज्ञान के चमत्कारो से आज की सारी दुनिया चमत्कृत हो उठी है।

विज्ञान का विरोध :

इस विचित्र विश्व में विभिन्न स्वभाव के मानव हैं। कुछ इस प्रकार के मानव भी हैं, जिन्हो ने अपने दिल और दिमाग की खिडकियों को इस लिये बन्द कर रखा है कि कहीं विज्ञान का प्रकाश उन के अन्तर मन में प्रवेश कर उन के अन्ध विश्वास, पुरातन-परपरा और उन के गले-सडे विचारों को ध्वस्त न कर डाले। क्यों कि विज्ञान धर्म पर नहीं, अन्ध-विश्वासों पर ही चोट करता है। भ्रान्त धारणाओं का, जिन के पीछे सत्य का वल नहीं है, विज्ञान खण्डन करता है। विज्ञान का आधार सत्य होता है, जब कि परम्पराओ का मूल अन्ध-विश्वास में ही रहता आया है।

विज्ञान ने मानव को एक ऐसा गुरु-मन्त्र दिया है, जिस से प्रकृति के गुप्त रहस्यों के द्वार सहज में खुल जाते हैं। विज्ञान ने मनुष्य को अपरिमित शक्ति दी है, प्रकृति को उस की दासी वना दिया है। देश, काल और स्थान की वाधाएँ मिटती जा रही हैं। विज्ञान ने इन्सान के

दिल की कमजोरी को दूर किया और उस के दिमागी पागलपन को भी दूर कर दिया है। यह सब कुछ होने पर भी आज विज्ञान की उद्दाम शक्ति पर नियन्त्रण करणे की आवश्यकता है। विश्व के वैज्ञानिक, यदि आज इस प्रकार का दृढ संकल्प कर लें कि हम सब अब विज्ञान की शक्ति का उपयोग और प्रयोग जन कल्याण में ही करेंगे, तो निश्चय ही धरती पर स्वर्ग उतर सकता है।

धर्म-विज्ञान :

एक विद्वान् ने कहा है, 'भौतिक विज्ञान बल है, और धर्म-विज्ञान विवेक है। धर्म-विज्ञान का अर्थ है– आत्मा का भेद विज्ञान।' राष्ट्रपिता गान्धीजी ने भी विज्ञान के विषय में कहा था, 'विज्ञान को विज्ञान तभी कहा जा सकता है, जब वह शरीर, मन और आत्मा की भूख मिटाने की पूरी ताकत रखता हो।'

वास्तव में आत्मा की भूख मिटाना भौतिक विज्ञान की शक्ति से बाहर है। आत्मा की भूख तो अध्यात्मवादी भेद-विज्ञान ही मिटा सकता है। यह भेद-विज्ञान क्या वस्तु है? भौतिक विज्ञान में और अध्यात्म भेद-विज्ञान मे यह अन्तर है कि पहला प्रकृति की खोज करता है दूसरा आत्मा का अनुसन्धान करता है। विज्ञान बाहर का है और भेद-विज्ञान भीतर का। बाहर की भूख बाहरवाले से मिटेगी, और भीतर की भूख भीतर वाले से। क्यों कि दोनों के लक्ष्य एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं।

भौतिकता और आध्यात्मिकता :

फिर भी जब तक जीवन है, तब तक मनुष्य को भौतिकता और आध्यात्मिकता– दोनो का सन्तुलन साधना होगा। अन्दर में जागृत रह कर, बाहर में दौड लगाने से किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना

नहीं है, परन्तु भीतर में प्रसुप्त रह कर दौड लगाने में निश्चय ही पतन है। आज के विज्ञान ने मनुष्य के शरीर को तो बहुत कुछ दिया है, पर मनुष्य की आत्मा को तो अभी तक विज्ञान ने कुछ भी नहीं दिया है। इस विषय में विज्ञान अनुसन्धान या तो हुआ ही नहीं, और यदि हुआ भी है, तो वह अधूरा है।

उपाध्याय अमरमुनिजी महाराज ने, जो आज के युग के एक महान् विचारक, तत्त्ववेत्ता, आगम की भाषा में वस्तुतः सच्चे बहुश्रुत एव श्रुतधर हैं, कहा है—

"बाहर आखिर बाहर ही है
बाहर ही रह जाता है।
सहज स्फुरित अन्दर का चित् ही,
आत्म-ज्योति प्रकटाता है॥"

भौतिक विज्ञान जहाँ पर समाप्त होता है, भेद-विज्ञान वहीं से प्रारम्भ होता है। रोटी की आवश्यकता की पूर्ति विज्ञान ही कर सकता है, किन्तु रोटी से भी परे एक सवाल है, जिस का समाधान विज्ञान के पास नहीं, भेद-विज्ञान के पास ही मिलता है। आत्म-ज्योति बाहर में नहीं, अन्दर में है। बाहर के विज्ञान को भी इसी ज्योति से जाना जाता है, और अन्दर के भेद-विज्ञान को भी इसी से जाना जाता है। क्यो कि—

"तन को धोते जीवन गुजरा,
अब तो मन को धो लो।
बाहर के बन्धन क्या कुछ हैं,
मन के बन्धन खोलो॥"

बहुश्रुत उपाध्याय श्रीजी ने जीवन का रहस्य खोल कर रख दिय है। तन को धोया, पर मन को धोया नहीं। अज्ञान पूर्ण क्रिया-काण्ड

से मन के बन्धन तो क्या, तन के बन्धन भी नहीं टूट पाते। केवल घोर क्रिया-काण्ड के अहंकार की ज्वाला में ही वह जलता रहता है। अपनी तपन भी नहीं बुझा पाते, दूसरों की क्या बुझा सकेंगे? कुछ पाना है तो अपने में खोजो—

> "ईश्वर हो, या स्वर्ग, मोक्ष हो,
> क्या अन्यत्र सुदूर कहीं है।
> जो कुछ है सो अपने मे है,
> अपने से कुछ दूर नहीं है।"

यही है वह भेद-विज्ञान, जिस की अध्यात्म साधकों ने युग-युग से खोज की है। भौतिक विज्ञान कुछ सीमा तक ही हमारा साथ दे सकता है, उस से आगे फिर भेद-विज्ञान ही काम आता है।

पण्डितजी महाराज स्थानकवासी समाज के एक विश्रुत श्रुतधर, विद्वान् मुनि थे, जिन्हों ने अपने ज्ञान, विज्ञान और भेद-विज्ञान से अपने जीवन को तो पावन किया ही था, जन-जीवन को भी पावन बनाने का उपदेश भी दिया था।

◎ ◎

११

धर्म जीवन के लिए है और विज्ञान भी जीवन के लिए है। जीवन की भूमि में धर्म का उपयोग एवं प्रयोग कैसे किया जाए और विज्ञान का कैसे? दोनों का उपयोग और प्रयोग की पद्धति में भेद हो सकता है, और भेद से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। धर्म और विज्ञान दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में सत्य का अनुसन्धान करते हैं। दोनों में किसी सीमा तक भेद भी है और किसी सीमा तक अभेद भी। जीवन के बाह्य पक्ष में दोनों सहचर एव सहगामी हो सकते हैं, परन्तु आन्तरिक पक्ष में नहीं।

एक बार की बात है– पण्डित श्रीमलजी महाराज का एक बडे नगर में वर्षावास था। उन के ओजस्वी प्रवचनों को सुनने के लिए बडी संख्या में उपस्थिति होती थी। एक तरुण ने पण्डितजी से प्रश्न किया–'धर्म और विज्ञान में क्या अन्तर है? जीवन के लिए अधिक उपयोगी कौन है?'

धर्म भी, विज्ञान भी :

पण्डितजी महाराज ने उत्तर में कहा था– 'दोनों ही उपयोगी हैं।

अपने-अपने क्षेत्र में दोनो की आवश्यकता है। धर्म-हीन जीवन और विज्ञान-शून्य जीवन दोनों ही अर्थ-हीन हो जाते हैं। धर्म और विज्ञान में अन्तर यही है कि धर्म अन्तर्मुखी है, और विज्ञान वहिर्मुखी। विज्ञान प्रकृति के सत्यो को उपलब्ध करने मे और उन को जीवन उपयोगी बनाने में प्रयत्नशील रहता है, जब कि धर्म अन्तर में आत्मा के सत्यों की उपलब्धि करने में और उन को जीवन के विकारों की विमुक्ति करने में ही अपनी उपयोगिता सिद्ध करता है। जीवन की उभय-मुखता से कौन, कैसे इन्कार कर के चल सकता है? फिर भी दोनों में एक सन्तुलित समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है। विरोध को समन्वय में बदलने का प्रयत्न होना चाहिए।'

प्राचीन की पूजा और नूतन का तिरस्कार :

पण्डित जी महाराज के उक्त कथन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और विज्ञान के विषय में उन का अपना क्या दृष्टिकोण था। धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में अवश्य ही चिन्तन और मनन किया था। धर्म जैसे अत्यन्त प्राचीन तथा विज्ञान जैसे अत्यन्त आधुनिक विषय पर उन का मस्तिष्क सक्रिय था। जीवन मे विज्ञान की उपेक्षा को वे उचित नहीं समझते थे। विज्ञान नया है, इसी आधार पर उस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। नया यदि जीवन में उपयोगी है, तो उस का आदर होना ही चाहिए। प्राचीन भी यदि विकृत हो गया है, तो उस मे संशोधन होना ही चाहिए।

नूतनवाद और पुरातनवाद, दोनो का विरोध आज का नहीं, अत्यन्त प्राचीन काल से ही है। प्रत्येक युग में, जब समाज के समक्ष कोई नया विचार आया, तब प्रारम्भ में उस का विरोध एवं प्रतिरोध ही होता रहा है। रूढिवाद, परम्परावाद और आग्रहवाद सदा से नवीन चिन्तन

की और नव्य भावना की कटु आलोचना ही करता रहा है, और भविष्य में भी यह क्रम चालू रहेगा। जो कुछ मान रखा है, उस के विपरीत कुछ भी सुनने की शक्ति जब मनुष्य में से विलुप्त हो जाती है, तब प्रतिक्रिया में वह उस नूतन विचारक को गाली और अपशब्दो का उपहार ही देता रहा है। क्यों कि उस के पास इस से अधिक कुछ होता भी तो नहीं है।

सुख का स्वरूप :

सुख की अभिलाषा मनुष्य को ही नहीं, चेतन मात्र को है। भले ही सुख की कल्पना सब की एक जैसी न भी हो, पर सुख की इच्छा सब की एक जैसी है। जीवन और जगत् का यह परम सत्य है— चेतन मात्र को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। जाने और अनजाने चेतन शक्ति के प्रत्येक प्रयत्न में सुख प्राप्ति का ही परिलक्ष्य होता है। प्रत्येक क्रिया इसी लिए की जाती है कि उस से उस को सुख उपलब्ध होगा। बालक भी जब पहली बार आग मे हाथ डालता है, तब उसके अचेतन मन में सुख की परिकल्पना ही होती है। परन्तु एक बार आग मे हाथ डालने से उसे जो पीडा होती है, उस अनुभव के आधार पर वह फिर कभी उस प्रकार की भूल नहीं करता। क्यों कि अनुभव ने उसे सिखा दिया है कि आग में हाथ डालने की क्रिया से सुख नहीं, दुःख एव पीडा ही प्राप्त होती है। भविष्य में उस क्रिया से वह स्वय ही विरत हो जाता है, उसे विरत करना नहीं पडता।

सुख के भेद :

सुख दो प्रकार का है— एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। इन सुखो को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य जाति ने अपने दीर्घ काल के अनुभव से विज्ञान की और धर्म की खोज की है। भोग-भूमि के युगल

मानव भौतिक सुखों में सन्तुष्ट हो कर रह गए। किन्तु कर्म-भूमि के कर्म-योगी मानव ने आगे बढ कर अध्यात्म सुख का भी अनुसन्धान कर लिया। पहले युग का मानव काम-सुख में ही अटक कर रह गया, दूसरे युग का मानव प्रगति एवं प्रयोग करता-करता मोक्ष-सुख तक जा पहुँचा। मै समझता हूँ, मानव जाति के इतिहास में यह एक बहुत बडी क्रान्ति थी। अपनी चेतना के विकास के साथ मे उस ने क्षणिक सुख को छोड कर स्थायी सुख का मार्ग उपलब्ध कर लिया। मानव जाति की दीर्घकालीन अनुभूति में से ही उसे यह कल्याणकारी पथ मिला।

काम-सुख की अभिलाषा की पूर्ति के प्रयत्न मे से मानव जाति को विज्ञान उपलब्ध हुआ और अध्यात्म सुख की अभीप्सा की पूर्ति के प्रयत्न में से उसे धर्म उपलब्ध हुआ। विज्ञान से काम और धर्म से मोक्ष–मानव जाति के ये दोनो महान् आविष्कार हैं। इस दृष्टि से मानव जाति को अपने परिपूर्ण एव सर्वांगी विकास के लिए दोनों की आवश्यकता है–विज्ञान की भी और धर्म की भी।

विज्ञान मनुष्य के समक्ष भौतिक सुखों का द्वार खोलता है, तो धर्म के द्वारा म.नव अपनी आत्मा का विकास कर के परम पद एव परम सुख को प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति में विज्ञान और धर्म मे किसी प्रकार का विरोध नहीं रह जाता। क्यो कि दोनों के क्षेत्र की परिसीमा एक नहीं है। कुछ सीमा तक विज्ञान के द्वारा प्रसूत सुख-साधनो का उपभोग करना बुरा नहीं, परन्तु उन्हीं में आसक्त हो कर आत्मा से विमुख हो जाना निश्चय ही बुरा है, और यही बन्धन है। इसी बन्धन से विमुक्त करना–धर्म है। विज्ञान बान्धता है और धर्म विमुक्त करता है–दोनों मे यही अन्तर है।

दोनों का समन्वय :

परन्तु अन्तर का होना एक बात है, और विरोध का होना दूसरी बात। धर्म और विज्ञान, परस्पर विरोधी लगते हैं, किन्तु यह विरोध समन्वय में बदला जा सकता है। कर्म के सत्य पक्ष का विज्ञान कभी विरोध नहीं कर सकता। पर दीर्घ काल की यात्रा में चलते-चलते धर्म में जो कुछ अन्ध-विश्वास एवं अन्ध-परम्परा को मूढ लोगों ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए धर्म के नाम पर जोड दिया था, आज का विज्ञान उसी का विरोध करता है। क्यों कि अन्ध-विश्वास तथा मूढ-परम्परा जीवन के लिए उपयोगी नहीं है। जो कुछ अनुपयोगी हो चुका है, विज्ञान उसी का विरोध करता है, और जो कुछ भी धर्म के क्षेत्र मे उपयोगी तथा तेजस्वी तत्त्व है— उस का विरोध विज्ञान का विपय ही नहीं है।

धर्म और विज्ञान का संशोधित एव समन्वित रूप ही मानव समाज के लिए हितकारी एव कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। आज आवश्यकता है कि धर्म के क्षेत्र में विज्ञान का प्रवेश हो और विज्ञान के क्षेत्र में धर्म का। राष्ट्रपिता गाधी के शब्दों में 'यह भी कहा जा सकता है— ' धर्म से अनुप्राणित एव धर्म से अनुशासित विज्ञान मानव जाति का हित ही करेगा, अहित नहीं। ' यही धर्म का और विज्ञान का समन्वित लोक-कल्याणकारी रूप है।

विज्ञान का प्रभाव :

आज के विज्ञानवादी लोग धर्म के विरोध में तर्क दिया करते हैं— आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने मानवी जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है। विज्ञान के प्रभाव में आ कर कुछ विचारको ने

धर्म के विरुद्ध आक्षेप भी किए हैं, और धर्म के अध्ययन को अनुपयोगी भी कहा है। विज्ञान का विश्वास है कि धर्म उस की प्रगति में आवश्यक रूप से बाधक है। क्यों कि धर्म का आधार विश्वास है, जब कि विज्ञान का आधार तर्क। धर्म के विरुद्ध यह आक्षेप भी किया जाता है कि वह मनुष्य को इस लोक की अपेक्षा परलोकवादी अधिक बनाता है। धर्म अखण्ड मानव-जाति को खण्ड-खण्ड कर डालता है। आज का मनुष्य धर्म की उपेक्षा कर के विज्ञानवाद में ही अपने जीवन का त्राण और रक्षा खोजता है।

धर्म की उपयोगिता :

इस के विपरीत धर्मवादी विचारक धर्म की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए आज भी कटिबद्ध हो कर प्रयत्नशील हैं। मनुष्य का सच्चा अध्ययन मनुष्य स्वय है। परन्तु मनुष्य का अध्ययन धर्म के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जाति के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि काल से ही मनुष्य धर्म से सबद्ध रहा है। धर्म मनुष्य के जीवन में, आकस्मिक रूप से सबद्ध नहीं है, बल्कि आवश्यक और अवियोज्य रूप से सबद्ध है। धर्म की आवश्यकता मनुष्य के स्वरूप में ही अन्तर्भूत रही है।

धर्म की उपयोगिता के सम्बन्ध में पण्डित श्रीमलजी महाराज के विचार, जो अपनी डायरी में वे कभी-कभी लिख लिया करते थे, इस प्रकार हैं—

१. 'धर्म में विश्वास करने से मनुष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार होता है। धर्म की साधना में ही अपूर्ण मनुष्य पूर्ण बन जाता है।

रहता है।' योग के सम्बन्ध में उन्हों ने कहा—'योग को तो मैं एक प्रकार से जीवन-दर्शन ही स्वीकार करता हूँ। प्रत्येक साधक को योग-दर्शन पढना ही चाहिए।' गीता के सम्बन्ध में उन्हो ने कहा—'इस का कारण तो मेरे पूज्य गुरुदेव हैं। उन को गीता से बहुत प्रेम था। अनेक अध्याय उन को याद भी थे। मैं ने स्वयं ही उन को तिलक का गीता-रहस्य सुनाया था।'

बौद्ध दर्शन का विशेष तो नहीं, कुछ ग्रन्थों का उन्हों ने अवश्य अध्ययन किया था। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में उन्हें 'धम्मपद' और 'विशुद्धिमग्गो' अधिक प्रिय थे। वे उन का स्वाध्याय करते थे।

जैन-दर्शन :

जैन दर्शन के संस्कार तो इन को अपने जन्म के साथ और दीक्षा के साथ ही प्राप्त हुए थे। महान् विद्वान् गुरु का योग मिले, फिर भी दर्शन का अध्ययन न हो, यह तो कभी संभव ही नहीं था। जैन-दर्शन के अनेक सख्याबद्ध ग्रन्थों का परिशीलन उन्हो ने यथाविधि किया था। 'विशेषावश्यक भाष्य', 'सन्मति तर्क', 'स्याद्वादमञ्जरी', 'रत्नाकरावतारिका', 'प्रमाण-मीमांसा', कुन्दकुन्द की 'प्रस्थान त्रयी', 'तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य' आदि दार्शनिक ग्रन्थों का मन्थन पूर्वक अध्ययन किया था। आगम और आगमोत्तर साहित्य का उन्हों ने गम्भीर परिशीलन किया था।

दर्शन-शास्त्र की आधुनिक धारा में उन्हों ने विवेकानन्द, अरविन्द, राधाकृष्णन्, गान्धीजी और विनोबा का सम्पूर्ण साहित्य भी पढा था। सर्वोदय-साहित्य उन्हें विशेष रूप से पसन्द आता था। महाराष्ट्र के अनेक विद्वानो के सम्पर्क में आने के कारण उन का साहित्य भी उन्हो ने पढा ही था।

इतना विशाल और व्यापक अध्ययन होनेके कारण ही पण्डित श्रीमलजी महाराज, वास्तविक अर्थों में, अपने युग के बहुश्रुत विद्वान् मुनिवर थे। एकागी दृष्टिवाले को और एकांगी ज्ञानवाले व्यक्ति को बहुश्रुत नहीं कहा जा सकता है। व्यापक दृष्टि-कोण जिस व्यक्ति के पास हो, और जो स्व-समय के साथ में पर-समय का ज्ञाता ही नहीं, विशेषज्ञ भी हो, वही श्रुतधर अथवा बहुश्रुत पद पाने का अधिकार रखता है।

पण्डितजी के विचार :

दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध में पण्डितजी महाराज के अपने कुछ विचार थे। वे इन दोनों में किसी भी प्रकार का विरोध तो नहीं देखते थे, किन्तु फिर भी दोनो में कुछ अन्तर अवश्य पाते थे। इस विषय में वे कहा करते थे—

'दर्शन आत्मा की खोज है, और विज्ञान प्रकृति की खोज है। एक चेतन के रहस्य का पता लगाता है, तो दूसरा जड के रहस्यों को जानना चाहता है। वस्तुतः विज्ञान भी दर्शन का एक विभाग ही है। दर्शन की परिधि से बाहर विज्ञान कहाँ रहता है। एक विशेष दिशा की विशेष खोज को ही विज्ञान कहा जाता है। इस अपेक्षा से विज्ञान दर्शन में आ जाता है।' यूनान के अफलातून और अरस्तू के युग तक दर्शन और विज्ञान में भेद नहीं था। विज्ञान दर्शन की एक शाखा थी। परन्तु आगे चल कर विज्ञान ने इतना अधिक विकास कर लिया, कि आज उसने दर्शन की सीमा से पार हो कर अपना अलग ही क्षेत्र तैयार कर लिया है। आज विज्ञान दर्शन से अलग ही नहीं, उस से अधिक व्यापक बन गया है।

सुकरात ने कहा था–'जो सत्य की झलक के प्रेमी हैं, वे ही सच्चे दार्शनिक हैं।' अरस्तू ने कहा–'दर्शन वह विज्ञान है, जो सत्य का

विचार करता है। दोनों के कथन से प्रमाणित हो जाता है कि, प्राचीन समय में दर्शन और विज्ञान अलग नहीं थे।'

दार्शनिक की परिभाषा :

सुकरात का प्रश्न था– दार्शनिक कौन? उत्तर में स्वयं ने कहा था– 'जिस को प्रत्येक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का जोश होता है, जिस को सदा जानने की इच्छा बनी रहती है, जो तत्त्व को बिना समझे कभी-कभी सन्तुष्ट नहीं होता है, वही इस विश्व में सच्चा दार्शनिक है।' सुकरात की परिभाषा के अनुसार पण्डितजी को दार्शनिक कहने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। महान् दार्शनिक वाल्टेयर ने कहा था– 'मेरे विचार से सच्चा दार्शनिक वह है, जो अपने पीने के दूध को फटा हुआ पा कर सिर धुनने के स्थान पर यह सोच कर सन्तोप कर लेता है कि इ" दूध का तीन चौथाई से अधिक भाग जल ही था।' मैं समझता वाल्टेयर की यह परिभापा अन्य किसी में घटित हुई हो अथवा नहीं परन्तु पण्डितजी महाराज के जीवन मे यह पूरी फलित हुई थी।

◎ (

१३

मैं पहले बता चुका हूँ कि पण्डित श्रीमलजी महाराज को योग-दर्शन के अध्ययन में विशेष रुचि थी। योग के साथ में मनोविज्ञान का भी गम्भीर अध्ययन उन्हो ने किया था। मै जब आगरा था, तब उन्हो ने मुझ से मनोविज्ञान पर चार-पॉच पुस्तके मॅगाई थी। मेरे पूछने पर उन्हों ने लिखा था कि मुझे मनोविज्ञान का अध्ययन करना है, अत. आप इस विषय पर कुछ अच्छी पुस्तकें अवश्य ही भेजिए। इस प्रकार पण्डितजी की ज्ञानधारा निरन्तर प्रगति पर रहती थी। ज्ञान के नये-नये स्रोतो की वे खोज में ही रहते थे। मनोविज्ञान के साथ मे उन्हो ने योग के कुछ सिद्धान्तों की तुलना भी की थी। उन का दृष्टिकोण तुलनात्मक ही रहता था। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में योग परम्परा की प्रथा रही है। कुछ विद्वानो का तो अभिमत है कि आर्यो के आगमन से भी पूर्व भारत में योग-विद्या का प्रचार एवं प्रसार रहा होगा। योग विषयक प्राचीन साहित्य में अवधूत, तापस और तपस्वी शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये सब योग की साधना करनेवाले योगियो के भेद हैं। कठोर साधना करनेवालों को अवधूत, तापस एव तपस्वी कहा जाता था। जैन परम्परा के आचार विषयक शास्त्र 'आचाराङ्ग' के

एक अध्ययन का नाम धूत है। बौद्ध परम्परा के योग विषयक ग्रन्थ 'विशुद्धिमग्गो' में धूताङ्ग नामक अध्ययन है। भागवत में, जो वैदिक परम्परा का एक विशिष्ट ग्रन्थ है, अवधूत का वर्णन आता है। मध्य काल की सन्त परम्परा के साहित्य में और विशेषतया सन्त कबीर के पदो में तो स्थान-स्थान पर अवधूत शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इस पर से भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि योग की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन काल से ही रही है। शिव का तो एक योगी के रूप में ही वर्णन मिलता है। भागवत में ऋषभदेव को योगी एवं अवधूत कहा गया है।

तप और ध्यान :

भारत की तीनों– वैदिक, जैन और बौद्ध– परम्पराओं में किसी न किसी रूप में तप के विविध एव बहुविध रूपो का वर्णन मिलता है। तप का भी एक रूप ध्यान है, ध्यान का ही एक रूप समाधि है और समाधि का ही एक रूप संवर है, जो जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। ऐसा मालूम पडता है कि तप, ध्यान, समाधि और संवर ये सब योग के ही विशेष रूप हैं। योग और समाधि तो आज भी पर्याय वाचक हैं।

योग-साधना का लक्ष्य :

योग साधना का उद्देश्य है, चित्त की वृत्तियों का निरोध करना। चित्त की वृत्ति शुभ हो अथवा अशुभ हो, योग की साधना में विघ्न रूप ही हैं। उन के निरोध को योग कहा गया है। आगे चल कर टीकाकारो ने और व्याख्याकारों ने वृत्ति के स्थान पर विकल्प और विकार शब्दों का भी प्रयोग किया है। मन के विकल्पों को और चित्त के विकारों को मन से दूर हटा देना ही योग-साधना का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति होते ही मन निर्विकल्प और निर्विकार बन जाता है। इस

अवस्था को योग-शास्त्र में समाधि कहा गया है, परम सुख कहा गया है। योग-शास्त्र में जिस निरोध शब्द का प्रयोग किया गया है, जैन आगमों में उसे सवर कहा गया है। आगम वाङ्मय मे आस्रव के लिए भी (मन, वचन एव काय के व्यापार के लिए भी) योग शब्द का प्रयोग किया है। पर वह यहाँ पर अभीष्ट नहीं है।

योग और समाधि :

योग शब्द का अर्थ—योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से वना है—संयोजित करना, जोडना भी होता है। और उस का दूसरा अर्थ समाधि भी होता है। पतजलि ने योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध किया है। बौद्ध साहित्य मे समाधि अर्थ ही अभीष्ट है। जैन-परम्परा में आचार्य हरिभद्र ने योग का अर्थ किया है-जिस से आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म मल का नाश होता है और मोक्ष के साथ संयोग। योग का अर्थ—धर्म व्यापार भी किया जाता है। व्याख्या एव परिभाषा विभिन्न होने पर भी मन के विकार और विकल्पों का नाश, यह अर्थ सभी को समान भाव से अभिप्रेत रहा है।

मनोविज्ञान में अवधान :

मनोविज्ञान (Psychology) मे योग शब्द के स्थान पर अवधान (attention) शब्द का प्रयोग किया गया है। मन की वृत्तियों को एकाग्र करने के लिए आज के मनोविज्ञान पण्डितो ने अवधान एवं ध्यान के महत्त्व को स्वीकार किया है। क्यो कि मन को एकाग्र वनाने की क्रिया का नाम ही ध्यान है। ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोडा जाए। किसी भी वस्तु पर मन को एकाग्र कर लेना ही तो ध्यान है। मनोविज्ञान-शास्त्र में भी मन के विभिन्न प्रकारो का और उस की विविध वृत्तियो का विस्तार के साथ मे

सुन्दर वर्णन किया गया है। मनुष्य के विचारों को और उस के व्यवहारो को देख कर, मनुष्य के मन का अध्ययन करना ही मनोविज्ञान का प्रधान ध्येय रहा है। विचार, कल्पना, वासना, इच्छा, तृप्ति, क्रिया, व्यापार, स्मृति, स्वप्न, अवधान और एकाग्रता– इन शब्दों की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या आज का मनोविज्ञान-शास्त्र करता है।

मनोविज्ञान से चिकित्सा :

प्राचीन युग का योग और आज के युग का मनोविज्ञान धरती के इस मानव के लिए एक सुन्दर वरदान ही है। मन की वृत्तियो के अध्ययन के लिए योग-शास्त्र में ध्यान-विधि का अवलम्बन किया गया है, जब कि मनोविज्ञान-शास्त्र ध्यान विधि के अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक युग के साधनों का भी प्रयोग करता है। मनोविज्ञान के पण्डितो ने पागल मनुष्यो के मनोभावों को समझने के लिए आज विज्ञान के साधनों से पर्याप्त लाभ उठाया है। मानस-चिकित्सालय में पागल मनुष्यों के विकृत मस्तिष्कों की परीक्षा की जाती है। बिजली के प्रयोग भी उन पर करते हैं।

मन के भेद :

मनोविज्ञान में मन के तीन भेद माने हैं। चेतन, अचेतन और अर्ध-चेतन। अचेतन मन को इच्छाओं का एव वासनाओं का अक्षय भण्डार माना गया है। मनोविज्ञान के अनुसार जब मनुष्य की कोई इच्छा अतृप्त रह जाती है और उस का दमन कर दिया जाता है, तब चेतन मन से निकल कर, अपना स्थान अचेतन मन में बना कर पडी रहती है। यदि उस का शोधन एव विरेचन नहीं किया जाता है, तो वह दमित इच्छा मनुष्य के शरीर में किसी भयंकर रोग का रूप ग्रहण कर लेती है, अथवा पागलपन में परिवर्तित हो जाती है। इस विषय

में मनोविज्ञान यह समाधान प्रस्तुत करता है कि इच्छाओ का दमन मत करो, उन का ऊर्ध्वीकरण अथवा रूपान्तर-करण करना चाहिए।

जैन-दर्शन में मनका स्वरूप :

जैन परम्परामें मन के दो भेद हैं– द्रव्य-मन और भाव-मन। मनोविज्ञान के चेतन और अर्धचेतन भाव-मन में और अचेतन द्रव्य-मन में आ जाता है, परन्तु कुछ अन्तर के साथ में। भाव-मन अध्यवसाय रूप है, अतः चेतन है। भाव-मन में स्थित अध्यवसाय एव विकल्पो की अभिव्यक्ति के लिए द्रव्य-मन सहकारी अथवा विभिन्न है, क्यो कि द्रव्य-मन पुद्गल रूप ही होता है। योग शास्त्र में मन के पाँच भेद हैं– मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। प्रथम के तीन भेद योग साधना में विक्षेप रूप अथवा विघ्न रूप माने गए हैं। अन्तिम दो में ही योग साधना की सफलता होती है।

पण्डितजी महाराज की इस विषय में एक अत्यन्त संक्षिप्त डायरी के आधार पर, यहाँ संक्षेप में, उन के योग और मनोविज्ञान विषयक विचारों की मीमासा की गई है। इस पर से पाठक इस तथ्य को भली-भाँति समझ सकेंगे कि पण्डितजी का अध्ययन इस विषय में कितना गहन और कितना व्यापक था। वस्तुतः उन का यह एक प्रिय विषय रहा है– इस के अध्ययन में उन्हें आनन्द आता था।

◎ ◎

१४

ध्यान और साधना का अटूट सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार की साधना क्यो न हो? उस में ध्यान को स्थान रहता ही है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में ध्यान के विषय में अवश्य ही विधान है। अध्यात्म क्षेत्र की कोई ऐसी साधना नहीं, जिस में ध्यान का स्थान न हो। योग-शास्त्र ही नहीं, आज का मनोविज्ञान भी ध्यान को महत्त्व देता है और उस का प्रयोग भी करता है। यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र सभी साधनाओ में ध्यान के विविध रूपों का विधान किया गया है। जप में भी ध्यान को स्थान मिलता है। तप, ध्यान और जप का साधना में, जो प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उन से ज्ञात होता है कि ध्यान को साधना का मुख्य अग सभी देशों के और सभी कालों के साधको ने स्वीकार किया है।

वर्तमान युग के महान् दार्शनिक और विचारक एवं भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने ध्यान के विषय में कहा है, 'ध्यान चेतना की वह अवस्था है, जहाँ समस्त अनुभूतियाँ एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती हैं, विचारो मे सामजस्य आ जाता है, परिधियाँ टूट जाती हैं

और भेद-रेखाएँ मिट जाती है। जीवन और स्वतन्त्रता की इस अखण्ड अनुभूति मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता। जीवात्मा परमात्मा बन जाता है।'

ध्यान आत्मा की शक्ति :

पण्डित श्रीमलजी महाराज ने भी ध्यान के सम्बन्ध में अपने एक निबन्ध में कहा है, 'ध्यान आत्मा की एक शक्ति है। ध्यान के बिना ध्येय की पूर्ति एवं प्राप्ति नहीं की जा सकती है। ध्याता ध्यान से ध्येय-रूप बन जाता है।' इस कथन से ज्ञात हो जाता है कि ध्यान कि साधना में कितनी गहरी आस्था थी उन की। वे स्वयं भी प्रतिदिन ध्यान किया करते थे। स्वाध्याय और ध्यान तो उन की साधना के मुख्य अग थे ही। प्रातः जल्दी उठ कर सब से पहले वे ध्यान ही किया करते थे। स्वाध्याय और ध्यान के कारण उन का मन बडा प्रसन्न रहता था। स्वाध्याय के कारण उन को बहुत से ग्रन्थ अन्त तक कण्ठाग्र थे। ध्यान का प्रभाव भी उन के मन पर स्पष्ट था।

सन् १९६७ जब मै कलकत्ता से बम्बई वर्षावास के लिए जा रहा था, तब पूना में २४ दिनों तक पण्डितजी महाराज के पास मे रहा था। लग भग ११–१२ वर्ष के बाद हम मिले थे। परन्तु तब में और आज की स्थिति मे बहुत अन्तर था। इन दिनों में उन का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। कमर में और पैरों मे दर्द बना ही रहता था। मोतियाबिन्दु के कारण उन की दृष्टि भी मन्द पड गई थी। प्रातः प्रतिदिन मैं उन्हे बाहर ले जाया करता था। बाहर ताजा हवा में उन्हे बडी प्रसन्नता होती थी। आते-जाते हमारी अनेक विषयो पर बातचीत भी होती रहती। मेरे पास भी कहने को बहुत कुछ था और उन के पास भी सुनाने को बहुत था।

पण्डितजी की ध्यान-साधना :

वातचीत के प्रसंगवश मैं ने पण्डितजी महाराज से पूछा– 'आजकल आप ध्यान नहीं करते हैं क्या?' 'करता तो हूँ', उन्हों ने कहा, 'परन्तु अव पहले जैसा नियमित रूप से नहीं चल पाता है। क्यों कि कमर का दर्द बहुत परेशान करता है, कभी-कभी तो बैठना भी बडा कठिन हो जाता है। फिर पैरों में भी दर्द वना रहता है। अव लम्बे समय तक बैठ कर एव स्थिर हो कर ध्यान करने की शक्ति शरीर में नहीं रही है। स्वाध्याय तो अभी भी नियमिन रूप से चलता ही है।' मैं ने देखा कि वे चलते-चलते भी मन में कुछ पढते जाते थे।

यह ध्यान की शिक्षा आप को कहाॅ से और प्रेरणा किस से मिली? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में उन्हों ने कहा– 'मेरे पूज्य गुरुदेव से ही मुझे यह प्रेरणा मिली है। श्रद्धेय आचार्य जवाहरलालजी महाराज के सम्बन्ध में और ध्यान शक्ति के विपय में उन्हो ने मुझे वहुत-सी बातें कहीं। ध्यान करने की प्रेरणा का मूल स्रोत उन के गुरुदेव ही थे। ध्यान की साधना के विपय में उन के स्वयं के ही वहुत से अनुभव थे। उन्हो ने ध्यान के विषय मे कहा था :

१. "ध्यान करने से मन शान्त और प्रसन्न रहता है। मनोवल में भी वृद्धि होती है। अनुभूति वढती जाती है।

२. जव मन विखर जाता है, तव ध्यान की साधना से उसे केन्द्रित किया जा सकता है।

३. ध्यान से मनुष्य की मानसिक शक्ति वढ जाती है। ध्यान आत्मा की एक अद्भुत शक्ति है। ध्यान जीवन का वल है।"

ध्यान और मौन :

ध्यान से मन की शक्ति और मौन से वाणी की शक्ति बढती है। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में ध्यान और मौन—दोनों का ही अत्यन्त महत्त्व रहा है। ध्यान और मन की साधना आज भी अपने विविध रूपों में चालू है। बहुत से सन्त आज भी सप्ताह में एक दिन मौन रहते हैं, और प्रतिदिन ध्यान की साधना भी करते हैं। मेरे स्वयं के पूज्य-गुरुदेव श्रद्धेय उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज ध्यान और मौन दोनों की साधना करते हैं।

जैन परम्परा का मूल, तप :

प्राचीन युग में भी साधक दीर्घकाल तक ध्यान और मौन की साधना किया करते थे। भगवान् महावीर की तप, ध्यान और मौन की साधना का विवरण केवल जैन-शास्त्रो में ही नहीं, बौद्ध-ग्रन्थों मे भी उपलब्ध होता है। भगवान् बुद्ध ने तो बोधिसत्त्व की प्राप्ति ध्यान के बल पर ही की थी। बौद्ध साहित्य में ध्यान की साधना पर अत्यन्त जोर डाला गया है। एक समय भारतीय साधना के इतिहास में ध्यान का इतना व्यापक प्रचार हो गया था कि साधकों का ध्यान तप से हट कर ध्यान और योग पर चला गया। मुख्य रूप से इस का प्रभाव बौद्ध एव वैदिक परम्परा पर पडा था। यही कारण है कि पतंजलि ने तप की अपेक्षा योग एवं समाधि को अधिक महत्त्व दिया था। परन्तु जैन-परम्परा मे तप का परित्याग न करते हुए भी ध्यान पर विशेष बल दिया गया। जैन धर्म की साधना मे ध्यान, योग और समाधि की ओर लक्ष्य रखते हुए भी तप का गौरव कम नहीं हुआ। आज भी जैन साधना मे तप का महत्त्व बहुत अधिक है। तप के भेदो में ही ध्यान की एक अवस्था विशेष ही है। ध्यान को एक तपविशेष ही माना गया है।

जैन आगमों में ध्यान के दो भेद हैं– शुभ और अशुभ । अशुभ के दो भेद-आर्त और रौद्र । शुभ के दो भेद– धर्म और शुक्ल । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में ध्यान के अन्य प्रकार से भी चार भेद किए हैं– पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत । श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायों में ध्यान के दोनो रूपो को स्वीकार किया है । इन के भेद-प्रभेदो का विस्तार के साथ वर्णन आज भी उपलब्ध है । परन्तु आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में पहले के चार भेदो को ही स्थान दिया है, अगले चार भेदों को नहीं । ध्यान के विषय में जैन-परम्परा में ध्यान-शतक जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना का भी प्रयास होता रहा है ।

योग पर ग्रन्थ :

वैदिक परम्परा में पातंजल योग सूत्र में और उन के व्यास भाष्य में ध्यान को योग के अंग के रूप में स्थान मिला है । समाधि योग का अन्तिम परिणाम एव फल माना गया है । योग-सूत्र के व्यास भाष्य मे ध्यान के भेदो का और ध्यान मे आनेवाले विघ्नों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

बौद्ध परम्परा मे विशुद्धिमार्ग, समाधिराज और दशभूमि-शास्त्र आदि ग्रन्थो में ध्यान का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन कर के उस के भेद-प्रभेदों का भी वर्णन किया गया है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ध्यान की साधना का भारत के सभी सम्प्रदायों में प्राचीन काल से ही प्रचार और प्रसार रहा है, और आज भी प्रचलित है ।

◎ ◎

१५

हिन्दी साहित्य के महान् उपन्यासकार, कहानीकार और दार्शनिक निबन्धकार जैनेन्द्रकुमार ने एक बार गान्धीजी के विषय मे कहा था, 'गान्धीजी को मूलतः मै सच्चा आदमी मानता हूँ। सच से डिगना किसी कीमत पर उन्हे मान्य नहीं हो सकता था। सत्य के प्रयोग की राह मे ही राजनीति उन के जीवन में आई। राजनीति आई, राजनेता का दायित्व और धर्म नहीं आया। भारत के जीवन में अनायास उन्हें ऐसा राजनीतिक नेता बनना पडा कि छुटकारा न था। किन्तु इस सारे प्रयोग में उन के लिए धर्म-नीति ही प्रधान रही। उन्हो ने साफ कहा कि 'मैं धार्मिक आदमी हूँ, राजनीतिक नहीं हूँ, राजनीति धर्म के श्वास के बिना निरा छल और छद्म है।'

राजनीति और गांधीजी :

मैं समझता हूँ, गांधीजी की इस से अधिक सुन्दर परिभाषा और उन के व्यक्तित्व की व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती। गान्धीजी पहले धार्मिक थे फिर बाद में राजनीतिक। राजनीति और धर्म मे गान्धीजी इतना ही अन्तर करते थे कि उन की राजनीति धर्म-मूलक थी,

धर्म-शून्य नहीं। धर्म-शून्य राजनीति के साथ में गान्धीजी ने कभी समझौता नहीं किया था। दूसरे शब्दों में कहना हो, तो कहा जा सकता है कि गान्धीजी ने धर्म को राजनीति में ला कर खडा कर दिया। जो धर्म केवल व्यक्तिगत था, अथवा सम्प्रदायों की दीवारो में बन्द पडा था, उस धर्म को गान्धीजी ने उन्मुक्त वातावरण मे ला कर खडा कर दिया। अथवा निरकुश राजनीति पर धर्म का अंकुश लगा दिया।

शान्ति और राजनीति :

राजनीति का उद्देश्य है, समाज और राष्ट्र में अशान्ति एवं उपद्रवों को उत्पन्न न होने देना। यदि हुए हो, तो उन्हें शान्त कर देना। कोई भी राज्य अशान्ति में अपनी प्रगति और विकास नहीं कर सकता। धर्म का लक्ष्य भी व्यक्ति, परिवार, समाज एवं देश मे शान्ति की स्थापना करना ही है। शान्ति की स्थापना के लिए राजनीति को तलवार पकडनी पडती है, परन्तु धर्म के पास तो प्रेम की शक्ति का ही आधार है। जिस सत्य और अहिंसा से व्यक्ति अपना व्यक्तिगत कल्याण प्राप्त करता था, गांधीजी ने उस सत्य और अहिंसा को समूचे राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाने का आधार माना। अर्थ स्पष्ट है कि धर्म का प्रवेश गान्धीजी ने राजनीति में करा दिया। सत्य और अहिंसा धर्म तो पहले भी था, पर उस के प्रयोग तथा उपयोग का क्षेत्र बदल दिया गया। गान्धीजी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभापा मे वात नहीं सोचती। संघर्ष की भापा उस के लिए नितान्त असंगत है। इस विश्लेषण से गाधी नीति की आधार शिला दो है—

१. ध्येय : सत्य। क्यों कि ध्येय और कुछ हो नहीं सकता। सत्य को ही गांधीजी ने परमेश्वर कहा है।

२. धर्म : अहिंसा। क्यों कि इस ध्येय को मानने से, जो व्यवहार धर्म प्राप्त हो सकता है, वह अहिंसा ही है।

धर्म और राजनीति में एक दूसरा भी भेद है— अधिकार और कर्तव्य का। धर्म में कर्तव्य मुख्य है, तथा राजनीति में अधिकार एवं सत्ता ही मुख्य है।

समाजवाद और पूँजीवाद :

आज की विश्व-राजनीति के क्षेत्र में दो वाद प्रबल हैं— समाजवाद और पूँजीवाद। दोनों के अशुभत्व को छोड कर और दोनो के शुभत्व को ग्रहण कर के जो वाद हो सकता है, वही गांधीवाद कहा जाता है। गांधीवाद भी आर्थिक विषमता को ही मिटाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उस का सिद्धान्त समाजवाद से भिन्न है। गाधीवाद वर्ग-सघर्ष को मान्यता देने की अपेक्षा सर्वोदय को मान्यता देता है। वह पूँजीपति को मिटाने के लिए सर्वहारा वर्ग को सचेत नहीं करता। सब का उदय हो, इस भाव से समाज के सभी लोगों को प्रयास करने की वह प्रेरणा देता है— वह किसी के विनाश में से विकास नहीं चाहता। सर्वोदय में किसी एक व्यक्ति का अथवा वर्ग का उदय अभीष्ट न हो कर, सभी क ही अभीष्ट है— यही गांधीवाद है.।

गांधीवाद का आधार :

गाधीवाद का आधार अध्यात्म-वाद है। केवल राजनैतिक नहीं, उस में मनुष्य की नैतिकता को भी महत्त्व दिया गया है। मानव का मानव पर विश्वास हो, सब पर-हित के भाव से प्रभावित हो, तब वर्ग-भेद स्वतः मिट जाएगा, उस के लिए हिंसा मूलक क्रान्ति नहीं करनी पडेगी। अपनी इस भावना के साथ गाधीवाद ने समाज और देश के चारित्र को

सँवारने का प्रयत्न किया है। गांधीवादी दर्शन की मान्यता है कि सत्य और अहिंसा के अभाव में मानव की मानवता ही कुंठित हो जाएगी। अतः वह आध्यात्मिक दृष्टि से मानव के विकास का पक्षपाती है। सादा, सरल जीवन को ही उस ने आदर्श माना है। गांधीवाद मशीनों का विरोधी है। मशीनो के कारण मानव का श्रम व्यर्थ हो जाता है और फिर अपने आप शोषण बढने लगता है। अहिंसा की दृष्टि से कुटीर उद्योग को गाधीवाद ने अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। गाधीवाद और समाजवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि गाधीवाद आध्यात्मिक भाव-प्रधान दर्शन है और समाजवाद भौतिक भाव-प्रधान। समाजवाद क्रान्ति के लिए हिंसा का समर्थन करता है, गांधीवाद नहीं। अहिसा मूलक गांधीवाद के विषय में कवि पन्त कहते हैं—

"मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता
निश्चय हम को गाधीवाद।

सामूहिक जीवन विकास की
साम्य योजना है अविवाद॥"

सर्वोदयवाद और सन्त विनोबा :

आज राष्ट्र-सन्त विनोबा सर्वोदय के प्रचार एवं प्रसार में संलग्न हैं। इस में से राजनीति दूर हो गई है, लोकनीति आई है। गांधीजी ने सर्वोदय सिद्धान्त की योजना को मान्यता दी। गाधीजी की ही परम्परा में विनोबा भावे ने आर्थिक स्वतंत्रता दिलाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्हों ने भूदान-यज्ञ की अभिनव योजना को प्रस्तुत ही नहीं की, उस के अनुकूल आन्दोलन भी खडा किया।

पञ्चशील और नेहरूजी :

गाधीजी के राजनैतिक उत्तराधिकारी पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने विश्व के समस्त तटस्थ राष्ट्रों का पंचशील के सिद्धान्त के आधार पर एकीकरण करने का प्रयत्न किया। पचशील की आवाज एक बार तो भारत की अध्यात्म भूमि में उठ कर संसार के समस्त भूखण्डों में व्याप्त हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा और सत्य मूलक गाधीवाद, सर्वोदय मूलक भूदान-यज्ञ और विश्व-रंगमच पर मैत्रीभाव की आवाज बुलन्द करनेवाला नेहरू का पचशीलवाद भारत की राजनीति के मूल आधार रहे हैं।

गांधीवाद और पण्डितजी :

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज को गांधीवाद के विचार-संस्कार उन के पूज्य गुरुदेव आचार्य जवाहरलालजी महाराज से सहज ही प्राप्त थे। पण्डितजी ने गाधीवादी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। यद्यपि राजनीति में कभी उन्हों ने सक्रिय योग नहीं दिया था, तथापि अपने विचारो में वे गाधीवादी दर्शन का आदर करते थे। सर्वोदय और पचशील पर भी उन्हों ने अपने निबन्धों में अपने ढंग से विचार किया है— समर्थन किया है। भूदान यज्ञ के विषय में भी उन के विचार उन की डायरी में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। पण्डितजी सदा खादी के वस्त्र ही ग्रहण करते थे। अपने व्याख्यानो एव भाषणो में भी वे समय-समय पर गांधीवाद, सर्वोदयवाद और भूदान-यज्ञ के सम्बन्ध में मर्मस्पर्शी विचारों को अभिव्यक्त करते थे।

मैं समझता हूँ कि उन्हो ने धर्ममूलक राजनीति में ही राष्ट्रहित एव देश-विकास की योजना में आस्था रखी थी। मुझे याद है कि एक बार

शायद पूना में ही गांधीवादी विचार धारा के सक्रिय समर्थक एवं राष्ट्रसन्त सन्तबालजी से भी वे बडे प्रेम के साथ मिले थे और विभिन्न विषयों पर बातचीत भी की थी। पण्डितजी महाराज विचारों में सदा स्वतन्त्र थे।

जीवन

१६

एक था राजा। उस ने अपने राज्य के एक विद्वान् लेखक से कहा, 'तुम मेरा इतिहास लिखो। अपनी मृत्यु से पूर्व मैं अपने जीवन में अपना इतिहास सुनना चाहता हूँ।' विद्वान् चतुर था। जीवन का इतिहास तीन शब्दों में लिख कर ले आया, 'जन्म, जीवन और मरण।' अन्त-हीन काल का इतिहास केवल तीन शब्दों में बान्ध कर रख दिया गया। इस से अच्छा, और इस से बढ़कर इतिहास हो भी क्या सकता था। सभी कुछ समा गया है इस में।

समझता हूँ, भली-भाँति समझता हूँ– आने के शब्दों को जन्म कहा है, रहने के क्षणों को जीवन, और जाने के क्षणों को मरण। यह जीवन का इतिहास नहीं है– यह तो इतिहासो का भी इतिहास है। जन्म का इतिहास मरण है, मरण का इतिहास जन्म है, और दोनों का इतिहास ही जीवन का इतिहास है। कवि दिनकर ने जीवन को क्या समझा था–

"इस चार दिनों के जीवन को,
मैं तो कुछ नहीं समझता हूँ।
करता हूँ वही, सदा जिस को,
भीतर से सही समझता हूँ॥"

भीतर के सत्य को जीवन की तुला पर तोलना, कितना सरल है, कितना कठिन है। सच कह दूँ, कठिन कुछ भी नहीं, सब कुछ सरल ही है। भीतर के सत्य को समझना कठिन और उसे तोलना आसान है। चार क्षण का जीवन भी जब जीवन है, तब क्या चार दिनों का जीवन, जीवन न होगा? जीवन अमृत है, फिर भले ही वह चार दिनों का हो अथवा चार क्षणों का हो। जन्म से निकल कर मौत की मजिल पर पहुँचने से पहले हम जो कुछ समझ पाते हैं, हम जो कुछ कर पाते हैं, क्या यह जीवन की सार्थकता नहीं है। मरण के इस सागर में जीवन की एक भी लहर मरणशील मानव के लिए क्या मधुर वरदान नहीं है? काश, इस सत्य को हम परख पाते?

मैं वह हूँ, जो मरण में भी जीता हूँ, और जीवन में भी मर कर अमर हो जाता हूँ। जीवन की सरिता के दो तट हैं- एक जन्म और दूसरा मरण। तटों का नाम सरिता नहीं है, दो किनारों के मध्य में प्रवाहित होनेवाला जल ही सरिता है। जन्म भी एक अन्त है और मृत्यु भी एक अन्त है। इन दो अन्तों का मध्य ही जीवन है। मृत्यु भय है और जीवन अभय। कवि ने कहा है—

"जीवन उन का नहीं युधिष्ठिर,
जो उस से डरते है।
वह उन का जो चरण रोप,
निर्भय हो कर लडते हैं॥"

अभी कुछ दिनों पहले की बात है। मैं बैठा लिख रहा था। एक भाई बोला- क्या कर रहे हैं? मैं ने कहा- इतिहास लिख रहा हूँ। उस भाई का अगला प्रश्न था- किस का? मैं बोला- अपने अभिन्न मित्र श्रीमलजी महाराज का और अपना भी, और तुम्हारा भी। वह

चकराया, बोला– तीनों का इतिहास एक ही कैसे होगा। मैं ने कहा– तीनों का ही क्या, समस्त मनुष्यो का एक ही इतिहास है– जन्म, जीवन और मरण। आना, कुछ रुकना, और फिर चले जाना। जिसे कुछ अन्तर कहा जा सके, वह इतना ही है– कुछ जीवन की वीणा की साँसों के तारो में अपना सगीत गा चुके हैं और कुछ अभी गा रहे हैं। आखिर कुछ दिनों पहले जानेवालो में और कुछ दिनों बाद जानेवालों में भेद भी क्या है?

जीवन-तरु की डाली पर सब को आना है और सब को विदा भी होना है। कोई पहले आया, पीछे गया। कोई पीछे आया, पहले चल गया। आ कर, रह कर, चले जाना–यही तो जग का नाटक है। इस नाटक के हम सभी पात्र हैं– जानेवाले भी और रहनेवाले भी।

मैं लेटा-लेटा समाचार पत्र पढ रहा था। एक जवान आया, जवानी के जोश में पूछ बैठा–जीवन सत्य है, या मृत्यु? मैं ने कहा–आपने क्या सोचा है? वह झट से बोल उठा– मैं, मैं तो जीवन को सत्य समझता हूँ। मैं बोला– आप जीवन को जितना सत्य समझते हैं, मैं मृत्यु को उतना ही सत्य मानता हूँ। क्यों कि–

"प्रलय-वृन्त पर डोल रहा है।
यह जीवन दीवाना।
अरे, मौत का निःश्वासों से
होगा मूल्य चुकाना॥

जिस दिन माँझी आएगा,
ले चलने को उस पार सखे।
यह मोहक जीवन देना,
होगा उस को उपहार सखे॥"

मैं यह मान कर चलता हूँ– जीवन की और मृत्यु की इस से अधिक सुन्दर व्याख्या नहीं हो सकती और नहीं की जा सकती। फिर भी हम हैं कि जीवन मदिरा के नशे में मत्त हो कर क्षर को अक्षर समझने की भूल करते ही जा रहे हैं। चन्द दिनो की चान्दनी के प्रकाश के पार खडा अन्धकार आने को आतुर है–

"इस चान्दनी बाद आएगा,
यहाँ विकट अन्धियाला।
यही बहुत है छलक न पाया,
जो अब तक यह प्याला॥"

आना जिसे जन्म कहा जाता है, वह अपने हाथ में नहीं है। जाना, जिसे मृत्यु कहा जाता है, वह भी अपने हाथ में कहाँ है? अपने अधिकार की वस्तु तो बस जीवन ही है। उस को अच्छा भी बना सकते हैं, बुरा भी। तलवार से रक्षा भी की जाती है, और हत्या भी। एक उर्दू के कवि ने कहा था–

"मौत क्या है जिन्दगी की दूसरी तस्वीर है।
जिस ने इस रुख से इसे देखा वही कामिल हुआ॥"

दुनिया में जिन्दा रहने की कला यही है। जब मृत्यु भी जीवन का ही एक दूसरा रूप है, तब उस से डरने की बात क्यो सोचें? सिक्का दोनो ओर से सिक्का ही रहता है। उस की कीमत एक ओर से नहीं, दोनो ओर से है। फिर अभी तो सिक्के की जो बाजू अपने पास है, उस का आनन्द क्यों न लें? दूसरी बाजू के आने से पूर्व ही उस का विचार क्यों? कवि जोश बहुत सुन्दर बात कहता है–

"गाए जा मस्ती के तराने,
ठडी आहे भरना क्या?

मौत भी आए तो मर भी लेंगे,
मौत से पहले मरना क्या ?"

एक मस्त योगी :

जीवन के इस सत्य को साकार करनेवाले पण्डित श्रीमलजी महाराज के जीवन-संस्मरणों की एक लम्बी परम्परा है। जीवन और मृत्यु के खेल को खेलने की कला उन के पास थी। जिन्दगी के मैदान में मस्ती ले कर आए थे, मस्ती में रहें, और मस्ती के साथ गए भी। जब जीवन जीना ही है-और वह जीने को ही मिला है, और जीना भी है-फिर रो कर क्यों जिएँ, हँस कर क्यों न जिएँ? जिस घटना को टाल नहीं सकते, छोड नहीं सकते, जिस से बच कर निकलने के सब प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं, उस के साथ टकराने में ही आनन्द है। शुभ हो अथवा अशुभ-प्राप्त को भोगने में ही जीवन की मुक्ति का रहस्य भरा है।

मै पण्डितजी का जीवन लिख रहा हूँ। मुझे लिखता देख कर लोग यही समझते हैं। परन्तु मैं जीवन नहीं लिख रहा हूँ, जीवन को समझने का, जीवन को जानने का प्रयत्न कर रहा हूँ। क्यों कि मेरा विश्वास है, जीवन लिखने की वस्तु नहीं है, वह तो जानने की, समझने की वस्तु है-पर समझदारी के साथ जीने की वस्तु। जब किसी के जीवन को लिपिबद्ध करने का प्रश्न मेरे सामने आता है, तब मुझे संकोच होता है। इस लिए कि जिस को समझा ही नहीं, उसे लिखूँ भी तो कैसे ? पण्डितजी के सम्बन्ध में मैं इस प्रकार कैसे कह सकता हूँ कि मैं ने उन के जीवन को नहीं परखा ? जीवन को यदि सही अर्थ में लिया जाए तो मुझे कहना है, मेरे जीवन में और उन के जीवन में कुछ भी अन्तर मैं पाता नहीं हूँ। इस अभिप्राय में मैं स्वय को, स्वय

से, स्वयं के लिए, स्वयं में लिख रहा हूँ। व्यक्ति वही लिख पाता है, जो कुछ वह स्वय में है।

एक मुसीवत का अनुभव करता हूँ– कदम-कदम पर जीवन-चरित्र का अर्थ लोग यह समझते हैं कि किसी के जीवन का जन्म से ले कर मृत्यु तक का लेखा लिखना और वह भी सन एवं तारीख से। शायद इस अर्थ में मेरे इस प्रयत्न को जीवन-चरित्र कह सकना उपयुक्त नहीं है। मेरा अपना विचार है– वह जीवन नहीं, इतिहास होता है। मेरे इस प्रयास को इतिहास समझने की भूल न की जाए। क्यों कि मै पण्डितजी के जीवन का इतिहास नहीं, उन की जीवन-वाटिका में से कुछ सुरभित एवं सुन्दर सुमनो का संचय कर के संस्मरण रूप एक महकता गुलदस्ता ही प्रस्तुत कर रहा हूँ।

◎ ◎

१७

समाज के विकास के लिए अथवा समाज के कल्याण के लिए प्रत्येक युग में किसी न किसी युग-पुरुष का अवतार होता ही है, जो अपने जीवन की पवित्रता से, अपने जीवन की दिव्यता से और अपने जीवन की महानता से अपने आसपास के समाज को तथा अपने युग के ससार को सही दिशा का बोध पाठ पढाता है। युग-पुरुष उसे कहा जाता है, जो अपने जमाने के अन्ध-विश्वासो को, अन्ध-परम्पराओ को और मूढतापूर्ण रूढिवाद को उखाड कर फैंक देता है। अपने विचारों के साथ में अपने आचार में भी क्रान्ति कर देता है। वह अपने युग के विरोधों से और विरोधाभासो से तब तक लडता ही रहता है, जब तक उस के तन में प्राण-शक्ति है, मन में तेज और उस की वाणी में ओज है। युग का देवता अपने विकट संकटों में भी मुस्कराता है, परन्तु अपने युग के असत्य पक्ष से वह जीवन भर लडता ही रहता है। असत्य के साथ वह कभी समझौता नहीं करता। जितनी आस्था उसे स्व-कल्याण में रहती है, उतनी ही निष्ठा उसे पर-कल्याण मे भी रहती है। समाज की संस्कृति का वह समादर करता है, पर व्यक्ति की विकृति से वह तब तक टक्कर लेता रहता है, जब तक उस के जीवन

मे अपने विचारों के प्रति वफादारी बनी रहती है। अपने पथ के शूलों को भी वह फूल समझ कर अपनी आगे बढने की प्रगति को वह अवरुद्ध नहीं होने देता है। जग जीता बढनेवालों ने– उस के जीवन का यह एक मूल मन्त्र रहता है, महान् आदर्श रहता है। इस प्रकार के आदर्शवादी युग-पुरुप का उस के युग के हमराही पहले तो कदम-कदम पर उस का विरोध एवं अवरोध करने में अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं। परन्तु जब वे यह समझ लेते हैं कि इस तूफान को रोका नहीं जा सकता, तब वे उस के सामने नत-मस्तक हो कर, अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर के उस का अनुकरण व अनुगमन भी करने लगते हैं। क्यों कि वह जो कुछ सोचता है, जन-कल्याण के लिए। वह जो कुछ बोलता है– जन-सुख के लिए। वह जो कुछ करता है– जन-मंगल के लिए। जग के प्राण-प्राण के प्रति उस के मानस में स्नेह एवं सहानुभूति रहती है। समाज के जहर के प्याले को स्वयं पी कर जो समाज को सदा अमृत ही बाँटता है, उसे मैं युग-पुरुप कहता हूँ। कवि दिनकर के शब्दों में—

"सब की पीडा के साथ व्यथा,
अपने मन की जो जोड सके।
मुड सके जहाँ तक समय, उसे
निर्दिष्ट दिशा में मोड सके॥
युग पुरुप वही सारे समाज का,
विहित धर्म-गुरु होता है।
सब के मन का जो अन्धकार,
अपने प्रकाश से धोता है॥"

कवि द्वारा कथित युग-पुरुप की इस परिभाषा में वह सब कुछ आ ही गया है, जो युग-पुरुप बनने के लिए आवश्यक है।

मैं समझता हूँ— और जैसा कि मैं ने समझा है— युग-पुरुष बनाया नहीं जा सकता, वह तो स्वय ही बना जाता है। युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। उस के विचारों मे युग का विचार प्रतिबिंबित होता है। उसकी वाणी में युग कि वाणी के स्वरों का झंकार होता है। उस के कर्म में युग का आचार प्रकट होता है। अपने समय की समग्र समस्याओं का समाधान उस में रहता है। पूर्व में बने बनाए रास्तों पर चलने में उस का क्रान्तिकारी मन तैयार नहीं होता। वह तो अपने अनुभवों के आधार पर अपना रास्ता स्वयं खोजता है, और उस का वह रास्ता ही कुछ समय बाद विरोधो के उपशान्त होने पर जन-जन के जीवन का गन्तव्य पथ बन जाता है। एक बात मैं और कह देना चाहता हूँ कि युग-पुरुष सहृदय अवश्य होता है, पर निरा भावुक नहीं। वह आशावादी तो हो सकता है, पर कोरा कल्पनावादी नहीं। जिस धरती के मृत्कणों में से उस का जीवन पनपा है, वह उसी धरती पर रहनेवाले मनुष्यों के सुख-दुख की कहानी सुनना पसन्द करता है। मानव की धरती से सुदूर और ऊँचे आकाश में रहनेवाले देवो की बात में उसे अभिरुचि नहीं। जब हम वर्तमान में जीवित रह कर भी अनागत भविष्य में साँस लेने का प्रयत्न करते हैं, तब निश्चय ही हम पलायनवादी बन जाते हैं। और यह पलायनवाद ही हमारे जीवन की सब से बडी कमजोरी होती है। उमरखैयाम अपनी मधुशाला नामक पुस्तक में कहता है—

"सुना मैं ने कहते कुछ लोग—
मधुर जग पर मानव का राज।
और कुछ कहते जग से दूर—
स्वर्ग में ही सब सुख का साज॥

मे अपने विचारों के प्रति वफादारी बनी रहती है। अपने पथ के शूले
को भी वह फूल समझ कर अपनी आगे बढने की प्रगति को वह
अवरुद्ध नहीं होने देता है। जग जीता बढनेवालो ने– उस के जीवन
का यह एक मूल मन्त्र रहता है, महान् आदर्श रहता है। इस प्रका
के आदर्शवादी युग-पुरुष का उस के युग के हमराही पहले तो कदम
कदम पर उस का विरोध एवं अवरोध करने मे अपनी पूरी ताकत लगा
देते हैं। परन्तु जब वे यह समझ लेते हैं कि इस तूफान को रोका नहीं
जा सकता, तब वे उस के सामने नत-मस्तक हो कर, अपना सर्वस्व
उसे समर्पित कर के उस का अनुकरण व अनुगमन भी करने लगते हैं
क्यों कि वह जो कुछ सोचता है, जन-कल्याण के लिए। वह जो
कुछ बोलता है– जन-सुख के लिए। वह जो कुछ करता है– जन
मंगल के लिए। जग के प्राण-प्राण के प्रति उस के मानस में स्नेह एवं
सहानुभूति रहती है। समाज के जहर के प्याले को स्वयं पी कर जो
समाज को सदा अमृत ही बाँटता है, उसे मैं युग-पुरुष कहता हूँ। कवि
दिनकर के शब्दो में—

> "सब की पीडा के साथ व्यथा,
> अपने मन की जो जोड सके।
> मुड सके जहाँ तक समय, उसे
> निर्दिष्ट दिशा में मोड सके॥
> युग पुरुष वही सारे समाज का,
> विहित धर्म-गुरु होता है।
> सब के मन का जो अन्धकार,
> अपने प्रकाश से धोता है॥"

कवि द्वारा कथित युग-पुरुष की इस परिभाषा में वह सब कुछ आ
ही गया है, जो युग-पुरुष बनने के लिए आवश्यक है।

मैं समझता हूँ— और जैसा कि मैं ने समझा है— युग-पुरुष बनाया नहीं जा सकता, वह तो स्वय ही बना जाता है। युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। उस के विचारों मे युग का विचार प्रतिबिंबित होता है। उसकी वाणी में युग कि वाणी के स्वरों का झंकार होता है। उस के कर्म में युग का आचार प्रकट होता है। अपने समय की समग्र समस्याओं का समाधान उस में रहता है। पूर्व में बने बनाए रास्तों पर चलने में उस का क्रान्तिकारी मन तैयार नहीं होता। वह तो अपने अनुभवों के आधार पर अपना रास्ता स्वय खोजता है, और उस का वह रास्ता ही कुछ समय बाद विरोधों के उपशान्त होने पर जन-जन के जीवन का गन्तव्य पथ बन जाता है। एक बात मैं और कह देना चाहता हूँ कि युग-पुरुष सहृदय अवश्य होता है, पर निरा भावुक नहीं। वह आशावादी तो हो सकता है, पर कोरा कल्पनावादी नहीं। जिस धरती के मृत्कणों में से उस का जीवन पनपा है, वह उसी धरती पर रहनेवाले मनुष्यो के सुख-दुख की कहानी सुनना पसन्द करता है। मानव की धरती से सुदूर और ऊँचे आकाश में रहनेवाले देवो की वात में उसे अभिरुचि नहीं। जब हम वर्तमान में जीवित रह कर भी अनागत भविष्य में साँस लेने का प्रयत्न करते हैं, तब निश्चय ही हम पलायनवादी बन जाते हैं। और यह पलायनवाद ही हमारे जीवन की सब से बडी कमजोरी होती है। उमरखैयाम अपनी मधुशाला नामक पुस्तक में कहता है—

"सुना मैं ने कहते कुछ लोग—
मधुर जग पर मानव का राज।
और कुछ कहते जग से दूर—
स्वर्ग में ही सब सुख का साज॥

दूर का छोड प्रलोभन, मोह,
करो जो पास, उसी का मोल।
सुहाने भर लगते हैं प्राण,
अरे ये दूर–दूर के ढोल॥"

पण्डित श्रीमलजी महाराज एक निश्चित अर्थ में युग-पुरुष थे, औ जो युग-पुरुष होता है, वह युग-द्रष्टा भी होता ही है। जीवन का व्यापक और उदार दृष्टिकोण ही युग-पुरुष और युग-द्रष्टा की सच्ची कसौटी होती है। यह कहना मेरे लिए सरल न होगा कि यदि आज पण्डितजी जीवित होते, तो वे अपने को युग-पुरुष अथवा युग-द्रष्टा कहलाना पसन्द करते कि नहीं? भले ही वे स्वीकार न भी करते, तब भी उन का व्यक्तित्व और कृतित्व इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है। व्यक्ति न भी बोले, तो भी उस का व्यक्तित्व स्वयं बोल उठता है। उस के जीवन का कृतित्व क्या छुपा रह सकता है?

मातृ-भक्ति

मैं पूना को पण्डितजी महाराज की साधना भूमि कहता हूँ। क्यों कि पूना में उन का बार-बार आगमन होता रहा था। उन की पूज्या माताजी महासती सूरजकुंवरजी अपनी रुग्ण अवस्था के कारण पूना में लम्बे समय तक रही हैं। उन की सेवा करना पण्डितजी अपना कर्तव्य ही नहीं, परम-धर्म समझते थे। क्यों कि मानव की धरती पर माँ की ममता से बढ कर अन्य कोई भी ममता का केन्द्र नहीं हो सकता है। जन्म देने-वाली माता और फिर साथ में संयता साध्वी। पण्डितजी के हृदय में अपनी पूज्या एवं साध्वी माता के प्रति अगाध आस्था, सीमाहीन श्रद्धा और उन के प्राण-प्राण में व्याप्त अपार भक्ति-भावना थी। मैं ने देखा है कि सादडी, सोजत और मीनासर के सम्मेलनों के प्रसंग पर अथवा

जोधपुर और कुचेरा के वर्षावासों के प्रसंग पर माताजी की अस्वस्थता के समाचारों को सुनकर वे अत्यन्त अधीर एवं व्याकुल हो जाते थे। उन की इस गम्भीरता एवं व्याकुलता की स्थिति से सहज ही समझा जा सकता था कि उन के मन में माता की ममता का कितना महान् मूल्य था? माता और ममता के अटूट सम्बन्ध का उन्हें स्पष्ट बोध था। कवि दिनकर के शब्दो में पण्डितजी कहा करते थे—

"नारी की पूर्णता पुत्र को,
स्वानुरूप करने में।
करते हैं साकार पुत्र ही,
माता के सपने को॥"

निश्चय ही पूज्या माताजी ने अपने नारीत्व को पूर्ण कर लिया था। क्यो कि उन का प्रिय पुत्र सर्वथा ही उन के अनुरूप सिद्ध हो चुका था। अपने ही रूप में, अपने ही वेश में और अपने ही संयम-पथ का अनुगमन करते हुए पुत्र को देख कर उन के मन में कितना उल्लास, कितना हर्ष और कितना असीम आनन्द होता होगा? कहने की अपेक्षा, यह अनुभूति की वस्तु ही अधिक है। और फिर पुत्र-पुत्र क्या, पुत्ररत्न ही कहना अधिक उपयुक्त होगा–इस प्रकार का मिला कि जिस ने ममता भरी माता के एक नहीं, सभी सपनों को साकार कर के दिखला दिया। पुत्र को पा कर माता धन्य थी, और ममता भरी माँ को पा कर पुत्र भी धन्य था। रत्न की खान से ही रत्न निकला करता है। क्यो कि पत्थरो को जन्म देने वाली खान कभी भी रत्नो को कैसे जन्म दे सकती है? ऋषि सम्प्रदाय में दीक्षिता माता श्री सूरजकुँवरजी की भक्ति और उन के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा ही पण्डितजी महाराज को दूर-दूर से पूना में खैंच लाती थी। इसी लिए मैं कहता हूँ कि पूना पण्डितजी की

साधना-भूमि रहा है। क्यों कि अधिकतर यहीं पर उन्हों ने माता की सेवा-भक्ति की और यहीं पर उन्हों ने साहित्य-साधना और संघ एवं समाज-सेवा भी की।

एक ही नगर की, एक ही धरती पर :

यह भी कितना विचित्र संयोग मिला कि पूना की जिस पवित्र भूमि-पर माता ने जीवन के अन्तिम क्षणों में सन्थारे की साधना के साथ में अपने साधक जीवन की परिसमाप्ति देखी, उस के पुत्र, समाज के नेता, और पूना-संघ के सर्वस्व रूप पण्डितजी ने भी पूना की उसी धरती पर जीवन की चरम जागृति में सन्थारे की साधना के साथ में अपने इस जीवन की लीला का अन्तिम रूप में पटाक्षेप कर दिया। एक ही नगर की, एक ही धरती पर ममता भरी माता और उस का प्यार भरा प्यारा पुत्र—अनन्त, अनन्त काल के लिए, अनन्त निद्रा में विलीन हो गए हैं। अपने पुत्र में अपना ही प्रतिविम्ब देखनेवाली आज न वह माता रही है, और न अपनी माता के मधुर स्वप्नों को साकार करनेवाला वह पुत्र ही रहा है। परन्तु उन की कहानी आज भी है और आगे आनेवाले भविष्य में भी रहेगी।

अपनी कहानी, अपनी कलम से :

पण्डितजी महाराज की जन्मभूमि कहाँ थी? उन का जीवन कैसा था? उन्हो ने दीक्षा कब ली और किस के पास ली? दीक्षा के पूर्व उन के परिवार-परिजन की क्या स्थिति थी? किन संयोगो में उन की दीक्षा हुई और कहाँ पर हुई? इन सब प्रश्नो का उत्तर मैं स्वय न दे कर, उन की डायरी के पन्नों पर उन के जीवन और उन के परिजनों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा मिला है, उसी को मैं यहाँ पर उद्धृत कर रहा

हूँ। पण्डितजी महाराज ने स्वयं अपनी कलम से जो स्वयं अपने जीवन की कहानी लिखी है, वह उन्हीं के शब्दों में सुनिए एव पढिए—

"महाराष्ट्र प्रान्त के अहमदनगर जिले के और शेवगॉव ताल्लुके के एक साधारण एवं छोटे से गॉव तेल कुडगॉव में रहनेवाले गुगलिया परिवार में ५-७-१९११ को मेरा जन्म हुआ था। इस गॉव में हमारे परिवार को छोड कर ओसवालों के अन्य घर नहीं है। सारा परिवार धर्म के संस्कारों से सस्कृत रहा है। धन-धान्य, आदर-सत्कार और मान-सम्मान की दृष्टि से गुगलिया परिवार सम्पन्न एव सुखी रहा है। गॉव के अन्य सभी किसान लोग इस परिवार से प्रेम-भाव रखते हैं। सुख-दुख में उन का साथ देते रहे हैं। सब गॉववाले गुगलिया परिवार को अपना ही समझ कर प्रेम व्यवहार करते हैं।

मेरे पिताजी का नाम मानमलजी गुगलिया था। मेरे जन्म के पूर्व ही उन का स्वर्गवास हो चुका था। पिता का स्नेह पाने में मैं सर्वथा वंचित ही रहा। यह कितना बडा दुर्भाग्य था मेरे जीवन का, कि न मुझे मेरे पिता देख सके और न मैं अपने पिताजी को। मेरे पिताजी के दो विवाह हुए थे। पहली माँ से मेरी बडी बहिन सक्करबाई और मेरे बडे भाई दानमलजी थे। दानमलजी के तीन पुत्र हैं–गोकुलचन्द, गेन्दमल और चन्दनमल, और एक पुत्री। दूसरी माँ से मैं अकेला ही था। बस, यह छोटा-सा परिवार ही मेरा परिवार कहा जा सकता है।

मेरी माता सूरजबाई ने दीक्षा कब ली, मुझे कुछ भी पता नहीं था। सुना है कि जिस समय माँ ने दीक्षा ली, उस समय मेरी अवस्था पॉच वर्ष की थी। माता का प्यार भी मुझे अधिक नहीं मिल सका। जब माँ घर में थी, तब तक मैं ने प्यार की कीमत ही नहीं समझी। जब दुलार समझने का और पाने का समय आया, तब मॉ घर में नहीं रही। यह

कितना बडा दुर्भाग्य था मेरा कि माता के वात्सल्य से भी मुझे वंचित ही रहना पडा।

मेरे बाबा, मेरे पिताजी के बडे भाई, भिवराजजी गुगलिया ने मुझे खूब प्यार किया, मुझे खूब प्रेम दिया, मुझे खूब दुलार किया। पिता और माता– दोनों के प्यार की कमी को मेरे बाबा ने पूरा किया। मुझे अच्छा खिलाते, अच्छा पहनाते। मेरी बाल हठ की सभी इच्छाओं को पूरी करने के दायित्व को वे भली-भाँति समझते थे। उन के प्रेम ने कभी भी मुझे पिता और माता की स्मृति को ताजा नहीं होने दिया। माता-पिता जो कुछ कर सकते थे, उस से कहीं अधिक मेरे बाबा भिवराजजी ने मेरे लिए किया। बाबा ही मेरे पिता थे, बाबा ही मेरी माता थे।

मुझे याद है, मेरे बाबा भिवराजजी के तीन पुत्र थे– चुनीलालजी, पन्नालालजी और मोहनलालजी। मोहनलालजी ने हैदराबाद में पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी। चुनीलालजी का पुत्र हीरालाल हैं, जो आज भी कुडगाँव में ही रहता है। पन्नालालजी के दो पुत्र हैं– हस्तीमल और धनराज। हस्तीमल गुगलिया अहमद-नगर में एक सफल वकील है। धनराज इंजिनीयर है। पन्नालालजी के एक पुत्री भी थी– इंद्रकुँवरबाई। आज इन्द्रकुँवरबाई साध्वी है। ऋषि-सम्प्रदाय में माताजी महाराज के परिवार में ही उस ने दीक्षा ली थी। उस ने शास्त्रों का अध्ययन खूब गहरा किया है और बोलने की भी खूब अच्छी कला इन को आती है। माताजी महाराज की सेवा कर के उन्हों ने अपने जीवन को सफल किया है। यह हमारे गुगलिया परिवार की कहानी है।

पाटील की चिचोंडी में मेरे मामा बाजीरावजी रहते हैं। ये तीन भाई थे, पर सब से बडे बाजीरावजी ही हैं। मेरी माता सूरजकुँवरबाई सब

पण्डित जी का जीवन दर्शन

गुलाबी बचपन

अरुणोदय

वसन्त

सन्ध्या

卐

से छोटी बहन थी। मैं जब लगभग सात वर्ष का था, तब मैं अपने मामा के गाँव में भी कुछ समय तक रहा था। प्यार और प्रेम की वहाँ कमी नहीं थी। खाने-पीने की भी खूब मौज थी। फिर भी वहाँ पर मेरा मन नहीं लगा। मुझे तो अपने बाबा भिवराजजी की खूब याद आती थी। आखिर मेरा हठ देख कर मामा ने मुझे तेलकुडगाँव भेज दिया। बाबाजी भी मुझ को खूब याद किया करते थे। सच कह दूँ, तो बाबा के सिवा कहीं पर भी मेरा मन लगता ही नहीं था। मेरे बाबा मुझे कभी-कभी कहानी भी सुनाया करते थे, जो मुझे अच्छी लगती थी।

मेरी फूफी के पुत्र सूरजमलजी कोठारी ने और उन के बडे भाई ने भी भानस-हिवडा में पूज्य जवाहरलालजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी। यह बात भी मुझे बाबाजी ने ही कही थी। सूरजमलजी मेरे भाई ही थे। परन्तु उन की दीक्षा के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी पता नहीं था। बाबा भिवराजजी ने ही मुझे समय-समय पर अपने परिवार के लोगों का परिचय कराया था।

मैं समझता तो कुछ नहीं, फिर भी कुछ अस्पष्ट-सा विचार मेरे मन में आने लगा था। मैं सोचा करता था कि मेरे परिवार में से बहुत से लोगों ने दीक्षा ली है। दीक्षा क्या है? उस में क्या करना पडता है? इस प्रकार मैं सोचा करता था।

मेरा बचपन का नाम सिरेमल था। घरवाले और गाँववाले भी मुझे 'सिरू' कह कर ही पुकारा करते थे। मै अपने गाँव की पाटशाला में पढने भी जाया करता था। वहाँ मेरी बहुत से लडकों से मित्रता हो गई थी। पाठशाला में मैं मराठी पढा करता था। पर घर में तो हम लोग मारवाडी ही बोला करते थे। मुझे तो यह पता भी बहुत देर में लगा कि हम मूल में मारवाडी हैं, मराठा नहीं।

एक दिन जब मैं पाठशाला से घर आया, तो सुना घर में मेरी सगाई की बातें हो रही हैं। मैं तो इन बातों में कुछ समझता भी नहीं था, पर मेरे बाबाजी की इच्छा थी कि मेरी सगाई हो जाए तो अच्छा ही है। मुझ से एक बार बाबाजी ने पूछा, तो मैं ने सीधे शब्दों में यही कहा कि मुझे तो मालूम नहीं सगाई क्या होती है। सगाई और विवाह मेरे लिए उस समय में अपरिचित शब्द थे। उस समय मेरी अवस्था दस वर्ष के अन्दर ही थी, बाहर नहीं। मै तो पढने में, खेल-कूद में और खाने-पीने में मस्त रहता था।

जहाँ तक मुझे याद है—सन १९२२ की बात है। मैं अपने बाबा भिवराजजी के साथ में भानस-हिवडा गया था। वहाँ पर कुछ साधु महाराज थे। मेरे फूफा के लडके सूरजमलजी महाराज इन्हीं के साथ में थे, दर्शन किए, व्याख्यान सुना और फिर बाबा ने अपने गाँव आने की प्रार्थना की, जिसे स्वीकार कर लिया गया था।

मैं ने देखा कि कुछ दिनों के बाद ही वे सब महाराज हमारे कुडगाँव में पधार गए और मारुति के मन्दिर में ठहरे। इन महाराजो से पहले मेरा परिचय कुछ भी नहीं हो पाया था। हिवडा में दर्शन तो अवश्य किए, पर परिचय नहीं हुआ था। गाँव में मैं रोज दर्शन करता और व्याख्यान भी सुनता।

गुरुदेव का सत्-दर्शन :

राजस्थान के महान् ज्योतिर्धर आचार्य पूज्य जवाहरलालजी महाराज थे। उन के साथ में श्रद्धेय सूरजमलजी महाराज भी थे। अन्य सन्तों की उस समय मुझे कुछ भी स्मृति नहीं थी। उन के व्याख्यानों में गाँव के और गाँव के बाहर के भी बहुत लोग आते थे। व्याख्यान बडा

अच्छा होता था। पहले भी हमारे गाँव में साधु-साध्वी आते-जाते ही रहते थे। किन्तु मेरा किसी के साथ भी परिचय नहीं हो सका था।

एक बार बाबा मिश्रराजजी ने पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज से कहा— 'हमारे परिवार के कई लोगों ने दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण कर लिया है, पर यह अवसर मुझे नहीं मिला।' पूज्य श्रीजी ने कहा— 'तुम भी दीक्षा ले कर अपना कल्याण कर सकते हो।' बाबाजी बोले— 'मुझ जैसे बूढे को कौन दीक्षा देता है, महाराज।' पूज्य श्रीजी ने कहा— 'आप को दीक्षा हम दे सकते है, पर एक शर्त के साथ में।' मेरी ओर संकेत करते हुए पूज्यश्री ने कहा— 'यदि तुम्हारे साथ यह लडका भी दीक्षा ले, तो हम तुम को दीक्षा दे सकते हैं।' यह बात सुनते ही मैं ने अपने बाबा मिश्रराजजी से कहा— 'बाबा तुम दीक्षा ले लो, मैं भी तुम्हारे साथ में दीक्षा ले लूँगा। तुम्हारी सेवा करूँगा।' बाबाजी से मेरा बेहद प्रेम था ही। दीक्षा का अर्थ उस समय मैं इतना ही समझता था कि महाराज जैसे कपडे पहन कर उन के साथ में ही रहना। मेरी बात को पूज्य श्री ने पकड लिया था, और उस समय सभा में मेरे भावो की प्रशंसा भी की थी।

पूज्य-गुरुदेव वहाँ से विहार कर के अहमदनगर चले गए थे। मैं भी एक दिन अपने बाबाजी के साथ नगर गया। वहाँ पर दीक्षा लेने का निश्चय हो गया था। मेरे बडे भाई दानमलजी भी नगर आए थे। पूज्यश्री ने उन से भी मेरे लिए आज्ञा ले ली थी। पूज्य-गुरुदेव को चातुर्मास के लिए सातारा जाना था। मुझे और बाबाजी को आगे भेज दिया था। हम वहाँ पर श्री चन्दनमलजी मूथा के घर पर ठहरे थे। गुरुदेव के सातारा पधारने तक प्रतिक्रमण भी याद कर लिया था।

मेरी दीक्षा :

उस समय की बातें मुझे अब अधिक याद नहीं रहीं— इतनी याद

अवश्य है कि सातारा में बडे ही धूमधाम के साथ मेरे बाबाजी के साथ में मेरी भी दीक्षा हो चुकी थी। दीक्षा के अवसर पर हमारे गाँव से भी घरवाले आए थे। दीक्षा से पूर्व फिर पूज्य-गुरुदेव ने मेरे बडे भाई दानमलजी से आज्ञा प्राप्त कर ली थी। अब मैं साधु बन चुका था। मन में सोचता था– 'मेरी माता साध्वी बनी हैं, तो अब मैं भी साधु बन गया हूँ और वह भी अपने बाबाजी को साथ ले कर।'

पण्डितजी ने अपने गृहस्थ-जीवन के परिवार का परिचय संक्षेप में ही अपनी डायरी में दिया है। उन का बाल्य-काल कैसा था? उस समय उन के मन में किस प्रकार की विचार-तरगें उठा करती थी? बाल मन में प्रश्न उठते थे, किन्तु समाधान नहीं हो पाता था। जिज्ञासा जब समाधान न पा सके, तब तर्क-शक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अपने बाल-स्वभाव, अपने बाल-विचार और अपनी बाल-क्रियाओ का कितना सुन्दर और कितना मधुर वर्णन उन्हों ने अपनी सीधी-सादी भाषा में लिपि-बद्ध कर लिया है। शिशु का मानस किस दिशा में सोचा करता है? इस का यह बहुत अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। पूज्य जवाहरलालजी महाराज के परिचय में आने के बाद शिशु सिरेमल के जीवन में कितना बडा परिवर्तन आ गया था। गुरु को एक शिष्यरत्न मिला, तो शिष्य को भी एक अद्भुत एव जीवन का कलाकार गुरु मिल गया था। कांचन-मणि-संयोग इसी को कहा जाता है।

सन्त परिवार :

पण्डितजी महाराज का एक सन्त परिवार भी था और आज भी है। उन का अपना कोई शिष्य नहीं था। किसी को वे अपना शिष्य बनाते भी नहीं थे। उन का जीवन बिल्कुल मस्त था।

श्रद्धेय सूरजमलजी महाराज एक सरल स्वभावी सन्त हैं। संयम, तप

और सरलता– इन के जीवन की एक विशेषता ही है। पण्डितजी महाराज के मन में इन के प्रति अगाध श्रद्धा थी। श्री सूरजमलजी महाराज पण्डितजी का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। जैसे पिता अपने पुत्र को स्नेह करता है, और जैसे माता अपने पुत्र को दुलार करती है। मैं ने देखा है कि सूरजमलजी ने पण्डितजी को पिता का प्यार भी दिया था और माता का दुलार भी। इधर पण्डितजी भी सूरजमलजी महाराज की सेवा का खूब ध्यान रखा करते थे। आज प्रत्येक बात में पण्डितजी का स्मरण करते हुए वे अपनी मनोव्यथा को और पण्डितजी के वियोग की पीडा को दबा नहीं सकते। पर मनुष्य की यही एक बाध्यता है, विवशता रहती है– उसे सब-कुछ सहना पडता है।

श्रद्धेय चुनीलालजी महाराज के दर्शनों का मुझे सद्भाग्य नहीं मिल सका। इन का जीवन भी त्याग, सेवा और तपोमय था। एकान्त में बैठ कर स्वाध्याय एव धर्म-चर्चा में उन्हे बहुत रस था। पण्डितजी महाराज ने उन की खूब सेवा की थी और पण्डितजी महाराज को भी चुनीलालजी महाराज ने खूब प्यार किया था।

घोर तपस्वी श्री मगनमुनिजी वर्षो से पण्डितजी के साथ उन की सेवा में रहे हैं। पण्डितजी महाराज को वे अत्यन्त श्रद्धा की भावना से देखते थे। प्रत्येक प्रकार से उन की सेवा भी करते रहे हैं। आज उन को भी पण्डितजी के विनापूना कुछ सूना-सूना-सा लगता है। पण्डितजी के स्वर्गवास से पूर्व इन्हो ने पण्डितजी की एक आदर्श सेवा की है।

पण्डितरत्न सुमेरमुनिजी भी पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के शिष्य हैं। आप का व्याख्यान अत्यन्त मधुर एवं मनोमुग्धकारी होता है। सिद्धान्त-चर्चा में आप को विशेष रस आता है। जैन-शास्त्रो का पण्डित सुमेरमुनिजी ने गम्भीर अध्ययन किया है। अध्यात्म-शास्त्र के

परिशीलन में आप को बडा ही आनन्द आता है। वास्तव में आप एक अध्यात्म-योगी सन्त हैं। आप प्रकृति से शान्त, हृदय से उदार और व्यवहार से अत्यन्त मिलनसार हैं।

पण्डितरत्न, कलाकार, साहित्यकार और गम्भीर-चिन्तक मुनि श्री समदर्शीजी (मुनि श्री आईदानजी महाराज) भी पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के शिष्य हैं। मुनि समदर्शीजी स्थानकवासी समाज के प्रसिद्ध लेखक, विश्रुत समालोचक और गम्भीर विचारक सन्त हैं। आप ने अभी तक विभिन्न विषयों पर लगभग २०–२५ ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन किया है। आपकी सम्पादन कला तो समाज में प्रसिद्ध है। आचार्य श्रद्धेय जवाहरलालजी महाराज की विशेष कृति सद्धर्म-मण्डन का अभिनव शैली से सम्पादन आप ने ही किया था, फिर भी अपने नाम का व्यामोह नहीं रखा। श्रमण-संघ के महान् आचार्य श्रद्धेय आत्मारामजी महाराज के आचाराङ्ग सूत्र का लगभग १४–१५ सौ पेजो में सम्पादन आप ने ही किया था। लुधियाना रह कर श्रमण-संघ के उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज की अनेक पुस्तकों का सम्पादन मुनि समदर्शीजी की कलामयी लेखनी से हुआ। काशी पार्श्वनाथ जैनाश्रम में 'श्रमण' का और आगरा में 'श्री अमर-भारती' का सम्पादन भी आप कर चुके हैं। मुनि समदर्शीजी का सम्पूर्ण जीवन ही साहित्यमय रहा है और आज भी वे साहित्य की साधना में संलग्न हैं। पण्डितजी महाराज की आप पर विशेष कृपा थी। और आप के मन में पण्डितजी महाराज के प्रति अगाध एव अपरिमित श्रद्धा रही है और आज भी है।

अध्ययन प्रिय, कहानीकार, गीतकार और लेखक श्री विनोदमुनिजी (तोलारामजी) भी पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के शिष्य हैं। सेवा और साधना में आप को विशेष रस है। आप के उदीयमान् व्यक्तित्व

से समाज को अभी बहुत आशा है। आप के मधुर गीतो की कई पुस्तको का प्रकाशन हो चुका है। आप की सुन्दर कहानियो का एक सुन्दर संकलन अभी सन्मति-ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ है।

तपस्वी श्री किसनलालजी महाराज अत्यन्त सरल प्रकृति के सन्त हैं। संयम, तप और त्याग की साधना में संलग्न हैं। सेवा आप के जीवन का एक विशेष गुण रहा है। आप ने पण्डितजी महाराज की सेवा का खूब लाभ लिया है। आप पर पण्डितजी की विशेष कृपा थी।

पण्डित मुनि श्री नेमिचन्द्रजी महाराज भी पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के शिष्य है। सस्कृत, प्राकृत, अग्रेजी, हिन्दी, बंगला और गुजराती भाषा पर आप का असाधारण अधिकार है। साहित्य, दर्शन, धर्म, सस्कृति, समाज और इतिहास के आप एक विशिष्ट विद्वान् सन्त है। विभिन्न विषयों पर आप हजारों लेख लिख चुके है। राष्ट्र सन्त, महान् विचारक और गान्धी-दर्शन के विशेषज्ञ मुनि श्री सन्तबालजी के साथ भी बहुत वर्षोंतक आप रह चुके है। अब फिर श्रमण सघ में सम्मिलित हो गए हैं। पण्डितजी के साथ आप का अत्यन्त स्नेह, सद्भाव और मधुर सम्बन्ध था।

पूज्य माताजी महाराज श्री सूरजकुँवरजी त्याग एव वैराग्य की साकार मूर्ति थीं। आप का स्वभाव सरल था। सब के साथ आप का प्रेमपूर्ण व्यवहार रहता था। ज्ञान और दर्शन की आराधना मे तथा चरित्र की साधना में संलग्न रहती थीं। दीर्घ काल तक आप रोगों से आक्रान्त रहीं, पर मन में समाधि-भाव रहता था।

पूना संघ को आप की सेवा का खूब लाभ मिलता रहा। पण्डितजी भी आप के कारण ही बार-बार पूना पधारते रहे। यह कितना सुन्दर

सहयोग था कि जिस पथ को आप ने स्वीकार किया था, उसी पथ का अनुगमन एवं अनुसरण आप के तेजस्वी पुत्र मुनि श्रीमलजी ने किया। माताजी के शुभ संस्कारों का परिणाम ही वस्तुतः पण्डितजी महाराज का जीवन था। आप के प्रति उन के मन में अपार भक्ति थी।

महासती श्री प्रभाकुँवरजी महाराज का शान्त एव दान्त जीवन है। सेवा, त्याग, वैराग्य, स्वाध्याय और तप में आप सदा संलग्न रहती हैं। आप के मृदु व्यवहार से सभी सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहते हैं। आप का व्याख्यान वहुत ही सुन्दर होता है। वहनों को सदा ज्ञान सिखाती रहती हैं। आप की शिष्या महासती श्री मनोहरकुँवरजी भी आप ही के समान शान्त एव सरल प्रकृति की हैं। इन का जीवन भी त्याग एव तपस्यामय रहता है। आप को नया ज्ञान सीख कर दूसरों को भी सिखाने में वडा आनन्द आता है। श्री माताजी महाराज की और पण्डितजी महाराज की आप दोनो ने खूव सेवा की है। पण्डितजी महाराज की आप दोनों पर वडी कृपा थी। पूना-संघ को आप की प्रेरणा सदा मिलती ही रहती है।

महासती श्री इन्द्रकुँवरजी महाराज का जीवन एक आदर्श जीवन है। आप ने अपने जीवन का खूव विकास किया है। तप, त्याग एव वैराग्य आप के जीवन की विशेष साधना रही है। सेवा भी आप ने अपने जीवन में वहुत की है। अध्ययन, चिन्तन और ज्ञान के क्षेत्रों के विविध प्रकार आप से अपरिचित नहीं हैं। आगम-शास्त्रो का आप का ज्ञान खूव गहरा है। व्याकरण, साहित्य, धर्म, दर्शन, समाज और संस्कृति आदि विषयो का आप ने खूव अनुशीलन किया है।

आप की व्याख्यान शैली और लेखन कला भी वहुत सुन्दर है। आप के प्रवचन सुन कर जनता का मानस मुग्ध वन जाता है। आप

सती इन्द्रकुँवरजी का वर्षी-तप पारणा

बहुत ही मिलनसार प्रकृति की हैं। सब के साथ आप का प्रेमपूर्ण व्यवहार रहता है।

माताजी महाराज और पण्डितजी महाराज की आप ने खूब सेवा-भक्ति की है। पण्डितजी महाराज ससार पक्ष में आप के काका थे। गुगलिया परिवार की होने से आप का सेवा करने का कर्तव्य भी था। माताजी महाराज के सुन्दर संस्कारों का और पण्डितजी महाराज की शिक्षाओं का आप के जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पडा है।

आप की शिष्या ज्ञानकुँवरजी तो वास्तव में तप, त्याग और सेवा की साक्षात् मूर्ति ही हैं। माताजी और पण्डितजी महाराज की सेवा का आप को विशेष लाभ मिला है। सेवा और तप के साथ में ज्ञान साधना भी आप की चलती ही रहती है। प्रीतिसुधाजी ने अभी दीक्षा ली है। इन का जीवन भी तप, त्याग, सेवा एवं वैराग्यमय है।

◎ ◎

१८

यह प्रश्न, एक उलझन भरा प्रश्न है? प्रगति और उस का पथ? क्या प्रगति के लिए भी किसी निश्चित एवं निर्धारित पथ की आवश्यकता है? इस गहन प्रश्न की गहनता में मनुष्य जितना ही आगे बढता है, वह अपने आप को उतना ही खो देता है। सत्य यह है कि प्रगति का अपना कोई पथ नहीं हो सकता। जिस का पथ हो, वह प्रगति नहीं, केवल गति हो सकती है। तूफ़ान का क्या कोई पथ होता है? तूफ़ान स्वय ही अपना मार्ग है, और तूफ़ान स्वयं ही अपनी दिशा है। प्रगति स्वयं ही अपना पथ है। किसी भी पूर्व स्वीकृत पथ को अपनाना प्रगति नहीं है। प्रगतिशील मानव जिधर से भी चल पडता है, उस के लोहमय चरणों का चिन्ह ही उस के अनुगामी एव अनुगामियों के लिए एक प्रगतिशील पथ बन जाता है।

प्रगति की आज तक परिभाषा स्थिर नहीं हो सकी है। क्यों कि प्रगति स्वय ही अपनी एक परिभाषा है। इस का अर्थ-बोध करना आवश्यक है। जब मनुष्य अपने सान्त जीवन से पराङ्मुख हो कर, अनन्त जीवन की ओर अभिमुख हो कर प्रस्थान करता है, तब उस अभिनव मानव की वह नवीन दिशाप्रगति है। अभिनव युग का अभिनव मानव जब

अभिनव भावों का आदर अपने जीवन की धरती पर करने लगता है, तब उस के उस अक्षुण्ण पथ को हम प्रगति-पथ की संज्ञा प्रदान करते हैं। उस का विचार, युग का सिद्धान्त बन जाता है। उस की वाणी, युग की वाणी हो जाती है। उस का कर्म, युग का आचार बन जाता है। उस का निषेध, सब का निषेध और उस का विधान, सब का विधान। प्रगतिशील व्यक्तित्व अपने विचार में, अपने आचार में और अपनी जीवन जीने की पद्धति में अपना मान-दण्ड स्वय है। वह विचार में भी और व्यवहार मे भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो कर आगे बढता है।

जीवन का मूल्य बदलता है :

नवीन युग की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ जो बदल नहीं सकता– वह स्थितिवादी बन कर युग की प्रगति से पिछड जाता है। निरन्तर गतिशील सरिता की धारा से जो जलकण पिछड जाते हैं, इधर-उधर के गड्ढों में स्थिर हो कर बैठ जाते हैं, उन के भाग्य में सडना ही लिखा होता है। युग की प्रगति के साथ उस युग में साँस लेनेवाले मनुष्यो के जीवन के मूल्य भी बदल जाते हैं। जो विधान है, वह निषेध बन जाता है। जो कर्तव्य है, वह अकर्तव्य हो जाता है और अकर्तव्य कर्तव्य बन जाता है। क्यों कि जीवन-सरिता की धारा कभी तीव्र तो कभी मन्द होती रहती है– और युग द्रष्टाओं की दृष्टि में यह स्वाभाविक भी है। जीवन के सामान्य नियम विशेष बन जाते हैं और विशेष सामान्य। भगवान महावीर का यही अपवाद मार्ग है। जीवन, जीवन है। सभी सिद्धान्त जीवन के लिए होते हैं। उत्सर्ग और अपवाद प्रगति के प्रतीक हैं, अवगति के नहीं। प्रत्येक अपवाद उत्सर्ग मार्ग का ही पोषण करता है। एकान्त उत्सर्ग और एकान्त अपवाद में विश्वास करनेवाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं, मिथ्या दृष्टि होता है। क्यों कि वह अनेकान्त को न मान कर एकान्तवाद के गहन गर्त में

पड जाता है। एकान्त निषेध और एकान्त विधान, जीवन के किसी भी क्षेत्र में— विचार और आचार में लागू नहीं किया जा सकता, क्यों कि वह प्रगति का अवरोध बन कर जीवन के क्षेत्र से दूर चला जाता है। इस सम्बन्ध में श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपनी डायरी में लिखा है—

"ससार में जितने धर्म हैं, सब मनुष्यों के लिए हैं, मनुष्यों के भले के लिए हैं। याद रखो, मनुष्यो के लिए धर्म बनाए गए हैं। धर्मों के लिए मनुष्य नहीं पैदा किए गए। रोगी के लिए दवा बनाई जाती है, दवा के लिए रोगी नही बनाए जाते।"

"एकान्तवाद मनुष्य को किसी एक किनारे पर ले जा कर छोड देता है। समस्या का समाधान एकान्तवाद नहीं, अनेकान्तवाद से हो सकता है। दो अन्तों को छोडकर मध्यम पथ स्वीकार करना ही अनेकान्त एवं समन्वय का भव्य मार्ग है।"

पण्डितजी महाराज के इन कथनों से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। उन का प्रगतिशील मानस कभी भी और किसी भी प्रकार के अन्ध-विश्वास को स्वीकार नहीं करता था। अपने पूज्य-गुरुदेव आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने अपने युग में विचारो की जो क्रान्ति की थी, पण्डितजी ने मात्र उस का अनुगमन ही नहीं किया, बल्कि उस क्षेत्र में आगे बढे। जो व्यक्ति अपने युग की आवाज सुन कर अपने युग की माँग के अनुसार परिवर्तन नहीं कर पाता, वह प्रतिक्रियावादी व्यक्ति अपने युग को क्या दे सकता है?

दिल का दर्द :

भीनासर-सम्मेलन की बात है। पण्डित श्रीमलजी महाराज ने मुझ से कहा– 'एक तथाकथित बडे सन्त ने मुझ से कहा है कि 'सद्धर्म-

मण्डन' में स्वर्गीय आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने अपवाद के सम्बन्ध में, जो लिखा है, उसे निकाल देना चाहिए।' पण्डितजी महाराज ने बडे सन्त को कहा था—'उस में से कुछ निकालना और उस में कुछ नया जोडना– इन दोनों का ही हमें अधिकार नहीं है।' इस उत्तर को सुन कर वे चुप हो गए थे। पण्डितजी महाराज के स्थान पर यदि मैं होता, और मुझ से पूछा जाता, तो शायद मैं यही कहता कि 'पहले आप आगमों के उन पाठों को निकाल दें, जिन में अपवाद को भी वैसा ही मार्ग बताया है, जैसा उत्सर्ग को।'

मानव बुद्धि की यह कितनी जडता और कितनी हीनता है कि जो कुछ हमारे विचारों के अनुकूल न हो, उसे निकाल दिया जाए। इस से बढ कर विचारों का और कोई दिवालियापन नहीं हो सकता है, और न अपने मन के पूर्वाग्रहों की पराजय ही।

सदा प्रगतिवादी :

पण्डितजी महाराज का जीवन उषा-काल से लेकर सन्ध्या-काल तक प्रगतिशील रहा है। आगे बढना ही उन्हों ने अपने जीवन में सीखा था। अपने विचारो के प्रति वे पूर्णतः वफादार थे। भय और सकोच—ये दो शब्द तो उन के जीवन में थे ही नहीं। जो कुछ कहना, जो कुछ बोलना और जो कुछ करना—उसे छुपाना नहीं। स्पष्टवादिता के ये सुन्दर संस्कार उन को जन्म के साथ ही मिले थे। न स्वय किसी को दबाना और न दूसरे किसी से दबना– यह उन के जीवन का एक महान् सद्गुण था।

पण्डितजी का जन्म १९११ में हुआ था। उन की दीक्षा १९२२ में हुई थी। उन का स्वर्गवास १९६७ में हुआ था। इस का अर्थ है– उन की आयु केवल ५६ वर्ष की थी। उस में से यदि बाल्यकाल के

११ वर्ष निकाल दिए जाएँ, तो उन की दीक्षा-पर्याय केवल ४५ वर्ष की रहती है। इन ४५ वर्षों में उन्हों ने बहुमुखी अध्ययन भी किया था और अपने जीवन का सर्वतोमुखी विकास भी किया था। गुरु-सेवा, संघ-सेवा और जन-सेवा भी उन्हों ने अपने जीवन में खूब की थी। संयम और तप की साधना के साथ अध्ययन, प्रवचन और लेखन भी सदा प्रगतिशील बना रहा। जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र में प्रवेश किया, उस में उन्हें सफलता एवं सिद्धि अवश्य मिली। अपनी गुरु-भक्ति के कारण, अपने गुरु के वे प्रिय शिष्य हो गए थे। गुरु का जीवन भी प्रगतिशील रहा, तो शिष्य भी सदा प्रगतिवादी रहा। प्रगति, प्रगति को ही जन्म देती है।

◎ ◎

प्रवक्ता भी, लेखक भी :

१९

जैसे जल ढाल की ओर बहता है, वैसे ही मनुष्य के मन की शक्ति भी अनन्त की ओर वहती है। अनन्त की ओर जाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। हम देखते तो हैं, पर बाहर की ओर देखते हैं। जब तक हम अपने अन्दर नही देख सकेंगे, तब तक कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। बाहर के पट वन्द कर, अन्दर के पट खोल।

एक वार प्रश्नकर्ता ने किसी साधु को पूछा– 'आप साधु कैसे बन गए?' साधु ने कहा– 'आँखें खोल कर जग को देखा और स्वय को भी। सत्य की इस खोज के सिवा दूसरा विकल्प ही मेरे मन में नहीं रह गया था। सत्य का खोजी होना ही साधु बन जाना है। साधुता कहीं बाहर में नहीं, अपने अन्दर में ही है। जो उसे खोजता है, वह उसे पा जाता है।' अपने को अपने में पा जाने के अतिरिक्त अन्य साधुता है भी तो क्या?

मानवतावादी सन्त :

पण्डित श्रीमलजी महाराज एक मानवतावादी साधु थे। सम्प्रदायों की सीमा में बन्ध कर चलने को उन की दिव्य आत्मा को कभी स्वीकार

नहीं था। क्यों कि मानव बनने में ही उन का अटल विश्वास जागृत हो चुका था। पण्डितजी कभी-कभी कहा करते थे—

१. 'उसे पाना है, जो है। और उसे छोडना है, जो नहीं है। हम स्वय वन्द पडे हैं। सब में विखर जाना ही सच्चा धर्म है।

२. चित्त और चेतना में मैं कुछ भेद करता हूँ। चेतना की सत्ता से ही तो चित्त है, चित्त की सत्ता से चेतना नहीं। चित्त में रहना, विकल्पों में रहना है, और चेतना में रहना, विकल्प-विमुक्त हो जाना है। चित्त में चचलता का वास है, चेतना में स्थिरता का आवास है।

३. वाद, प्रतिवाद और विवाद– वाद में रहस्य जाना जाता है, प्रतिवाद में से द्वेष की आग प्रकट होती है और विवाद में से संघर्ष तथा युद्ध की भूमिका तैयार होती है।

४. प्रसार, प्रचार और उद्धार– प्रसार में विनय रहता है, प्रचार में अहंकार मिला रहता है और उद्धार में मनुष्य अपने को सब से ऊँचा और दूसरो को नीचा समझता है।

५. क्रिया, प्रक्रिया और प्रतिक्रिया– क्रिया में सहजता है, प्रक्रिया में नियमबद्धता है और प्रतिक्रिया में उल्टा चलना है॥ पण्डितजी की डायरी से मैं ने यहाँ पर पाँच सिद्धान्त उद्धृत किए हैं, केवल यह समझने के लिए कि उन की विचार करने की पद्धति क्या थी? अपने भाषणों और अपने लेखों में वे इन का प्रयोग किया करते थे। व्यक्तिगत वातचीत के प्रसंगों पर भी उन के मुख से इस प्रकार के लघु वाक्यों को मैं ने सुना है। उन की यह प्रकृति थी कि जो कुछ भी वे पढते थे, उस की नोंध लेते जाते थे। कभी-कभी यह नोंध विस्तार में होती, तो कभी-कभी अत्यन्त संक्षेप में होती। इन डायरियो में उन के चिन्तन की निधि है।

लेखन की रुचि :

मैं ने एक बार पण्डितजी को पूछा था– 'आप यह सब क्यो लिखते हैं ?' उन्हों ने कहा था– 'अच्छा वक्ता बनने के लिए और अच्छा लेखक बनने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार लिखना चाहिए। जैसे धनवान थोडा-थोडा धन जोड कर एक दिन लखपति और क्रोडपति बन जाता है, वैसे ही विचारो के संग्रह से मनुष्य विचारक बन जाता है।' मैं ने देखा है– आगम, वेद, पिटक, गीता, उपनिषद्, आचार्यों के ग्रन्थ, सन्तों की वाणी– सभी में से उन्हों ने अपने विचारों के अनुकूल सामग्री का सचय किया था।

कलम और वाणी :

पण्डितजी अपने युग के प्रवक्ता भी थे, और लेखक भी। परन्तु लेखक की अपेक्षा समाज में उन की ख्याति प्रवक्ता के रूप में ही अधिक थी। उन की वाणी में एक जादू था, एक आकर्पण था, एक प्रभाव था। भाव, भापा और शैली की दृष्टि से उन की अपनी एक पद्गति थी। प्रारम्भ में उन के व्याख्यानो का आधार जवाहर साहित्य रहा। उसी के आधार पर वे प्रवचन दिया करते थे। पर यह बात बहुत ही प्रारम्भ के दिनों की है। मैं ने उन से पूछा था– 'आपने व्याख्यान देना कब से प्रारम्भ किया और उन दिनों में आप के सामने क्या-क्या दिक्कतें आईं ?' पण्डितजी ने कहा– 'कब से प्रारम्भ किया, यह तो आज मुझे याद नहीं रहा। परन्तु अपने अध्ययन-काल में ही गुरुदेव के कहने पर कभी-कभी दिया करता था।' इसी प्रसग पर उन्हों ने अपने जीवन का एक बडा ही मधुर सस्मरण मुझे सुनाया था।

वक्ता कैसे बना ?

पण्डितजी ने कहा– 'मेरी मानाजी महाराज की अत्यन्त आग्रह भरी

प्रार्थना को सुन कर मुझे चार साधु साथ में दे कर, गुरुदेव ने कहा– 'जाओ, दो-तीन वर्ष के लिए महाराष्ट्र में घूम लो, अपनी माताजी से भी मिलना हो जाएगा।' गुरुदेव से मैं ने कहा– 'व्याख्यान कौन देगा? क्यों कि जो साधु मुझे दिए थे, उन में से एक भी व्याख्यान नहीं दे सकता था। दूसरे, मुझे स्वयं को भी उस समय व्याख्यान देना नहीं आता था।' मैं ने अपनी कमजोरी स्पष्ट कर दी। उन्हो ने मेरी ओर तेज नेत्रो से देखते हुए तेज स्वर में कहा– 'क्या तुम विद्या के बैल हो? इतना पढा है, उस का क्या करोगे?' मै तो उन के तीव्र स्वर को सुन कर कुछ सहम गया था। फिर मुझे अपने पास बैठा कर प्रेम से समझाया–

'तुझ में योग्यता है, उसे प्रकट क्यों नहीं करता? विद्या रूप वृक्ष के दो ही फल होते हैं– वक्तृत्व और लेखन। अभी तक तुझे एक भी नहीं मिला है। अपनी शक्ति पर विश्वास रख। मेरे से अलग रह कर ही तू व्याख्याता बन सकेगा। अभी जनता का सारा ध्यान मुझ पर केन्द्रित है। तू स्वतन्त्र हो कर घूमेगा, तो ध्यान तुझ पर ही रहेगा।'

पण्डितजी ने फिर आगे सुनाया–'मुझे गुरुदेव ने रास्ते के लिए तीस व्याख्यान तैयार करा दिए थे और नव्वे व्याख्यानों की नोंध चातुर्मास में भेजने को कहा। आदेश पा कर मैं महाराष्ट्र में आ गया था। वर्षावास था, अहमदनगर में। व्याख्यान देने का न अनुभव था और न कला। गुरुदेव से अलग होने का प्रसंग भी प्रथम ही था। एक सौ वीस व्याख्यानों की सामग्री पर्युपण से पूर्व ही समाप्त। मुझे कुछ भी सूझता नहीं था। क्या करूँ, क्या नहीं?'

पण्डितजी महाराज ने आगे कहा– 'फिर मै ने पूज्य गुरुदेव को सूचना दी। उन्हों ने अपने व्याख्यानों की दो मोटी-मोटी फाइले मेरे पास भिजवा दीं और कहा कि आवश्यकता हो तो और फिर मगा लेना।'

इस प्रकार के अन्य बहुत से संस्मरण पण्डितजी ने मुझे सुनाए थे। परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ देने में सकोच करना पडता है। हम देखते हैं कि आगे चल कर पण्डितजी कितने तेजस्वी एव ओजस्वी वक्ता सिद्ध हुए। उन की वाणी में इतना माधुर्य था कि जनता उन के प्रवचनों को सुन कर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, राजस्थान, मालवा और मेवाड सर्वत्र उन के सुन्दर एवं मधुर प्रवचनों की छाप आज भी जन-चेतना की स्मृति पर अंकित है और रहेगी।

पण्डितजी कवि भी थे :

पण्डितजी केवल प्रवक्ता ही नहीं थे, कवि, कहानीकार और लेखक भी थे। समय-समय पर उन के लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे है। जैन प्रकाश, श्रमण, अमर-भारती, जैन जगत् आदि पत्रों में उन के लेखक रूप को देखा जा सकता था। पण्डितजी ने कुछ गीत भी लिखे हैं– हिन्दी में भी और मराठी में भी। धीरे-धीरे उन सब के प्रकाशन की योजना चल रही है। पण्डितजी के लेखों में, कहानियों में, सस्मरणो में और कविता एव गीतों में भाव, भाषा और शैली– तीनो उत्कृष्ट हैं। उदात्त भाव, प्राजल भाषा और प्रवाहमयी शैली ही– साहित्य की प्राणशक्ति मानी जाती है, और वह पण्डितजी के लिखित साहित्य में उपलब्ध है। इस अर्थ में पण्डितजी एक सफल लेखक, कवि और साहित्यकार हैं, इस में जरा भी सन्देह नहीं। कुछ व्यक्ति लेखक होते है, पर प्रवक्ता नहीं। कुछ व्यक्ति कवि होते हैं, पर वक्ता नहीं। किन्तु पण्डित जी के उज्ज्वल व्यक्तित्व में, इन सभी गुणों का सुन्दर समन्वय और सामजस्य-पूर्ण समावेश हुआ है।

मै समझता हूँ, और जैसा कि मेरा अनुमान है, पण्डितजी की संचित सामग्री में लगभग एक दर्जन पुस्तके तैयार की जा सकती हैं। समय और साधना की आवश्यकता है।

मुझे प्रसन्नता है कि इस भगीरथ कार्य को पूना निवासी एवं पूना नगर के प्रसिद्ध कार्यकर्ता एवं साहित्यकार श्री कनकमलजी मुनोत, एम्. ए. ने प्रारम्भ कर दिया है। श्री मुनोतजी पण्डितजी महाराज के अत्यन्त निकटस्थ एवं अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति रहे हैं। पण्डितजी के प्रति उन की व्यक्तिगत श्रद्धा, मैत्री एवं आस्था रही हैं, और आज भी हैं। उसी आस्था के बल पर उन्हों ने इस योजना को उठाया है।

◎ ◎

२०

समाज में दो प्रकार के वर्ग हैं– एक रूढिवादी और दूसरा क्रान्तिकारी। रूढिवादी व्यक्ति सदा अपने अतीत की ओर ही देखता है। अतीत काल में उस के पूर्वजों ने जो कुछ अच्छा या बुरा किया था, उस के गीत गाने में ही वह मस्त बना रहता है। रूढिवादी व्यक्ति न अपने वर्तमान मधुर क्षणों का आनन्द ले पाता है, और न अपने भविष्य के लिए आशावादी दृष्टिकोण ही अपना सकता है। भविष्य की तो वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु वर्तमान में जी कर भी वह सदा अतीत में ही गमन करता रहता है। अपने में सब कुछ करने की शक्ति होने पर भी अपने पूर्वजो के खरे-खोटे संस्कारों के भार से उस का दिल और दिमाग इतना लगा रहता है कि कुछ भी नया सोचने की और कुछ भी नया करने की शक्ति उस में नि.शेप हो जाती है। इस के विपरीत क्रान्तिकारी व्यक्ति का जीवन एक इस प्रकार का जीवन है, जिस की उपमा स्वतंत्र रूप में और निरन्तर प्रवाहित सरिता की स्वच्छ जलधारा से दे सकते हैं। क्रान्तिकारी व्यक्ति अपने अतीत की उपेक्षा नहीं करता, वल्कि अतीत में जो कुछ सुन्दर और ग्राह्य है, उसे ग्रहण कर के, शेप जीवन में जो कुछ कूडा-कचरा वच जाता है, उस

में वह क्रान्ति की चिनगारी लगा देता है। क्रान्तिकारी व्यक्ति वर्तमान के जिन महत्त्वपूर्ण क्षणों में साँस लेता है, उन में से प्रत्येक साँस को महत्त्वपूर्ण और उपयोगी बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करता है। अपने वर्तमान युग में जितने भी उपयोगी नूतन विचार हैं, उन सभी का वह स्वागत करता है। क्रान्तिकारी व्यक्ति वर्तमान में जीवित रह कर भी भविष्य की सुन्दर कल्पना और मधुर आशा के भव्य आलोक से अपना मन और मस्तिष्क सदा भरा रखता है। इस प्रकार क्रान्तिकारी व्यक्ति अतीत, वर्तमान और अनागत सभी का अपने जीवन में सदुपयोग करता है। जो कुछ प्राप्त हो चुका है, उसी में वह सन्तुष्ट नहीं रहता, बल्कि जो कुछ अभी प्राप्तव्य शेष है, उस की प्राप्ति में निरन्तर संलग्न रहता है। क्रान्तिकारी व्यक्तियों का जीवन का लक्ष्य सदा विकट-संकट के पथ पर से ही गुजरता है। उन के युग का समाज और राष्ट्र, उन की सेवाओं के बदले में फूल नहीं, शूल ही प्रदान करता चला आ रहा है।

दार्शनिक स्पिनोजा :

मुझे यहाँ पर पाश्चात्य जगत् के महान् दार्शनिक एवं विचारक स्पिनोजा के जीवन का संस्मरण हो आता है। आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले यूरोप के हालैंड देश में स्पिनोजा का जन्म हुआ था। स्पिनोजा, जिस की तपस्या से प्रसूत जीवन दर्शन और तत्त्वज्ञान का ऋण मानव समाज पर अनन्त काल तक रहेगा, जब वह २५ वर्ष का था उस की यहूदी जाति के महाधीशों ने उस पर नास्तिक होने का आरोप लगाया था। केवल आरोप ही नहीं लगाया, बल्कि आवेश और क्रोध के क्षणों में उत्तेजित हो कर, अपने देश की सरकार से आदेश ले कर, उसे देश से बाहर भी निकल दिया था। अपने पवित्र देश की भूमि को, जिस के कण-कण से उस के शरीर को पोषण मिला था, जिस के मधुर

जल से उस ने अपनी प्यास को शान्त किया था, जिस के मधुर अन्न से उस ने अपनी भूख शान्त की थी, और जिस देश की स्वच्छ वायु में उस ने अपनी प्राण शक्ति का संचय किया था, आज उसी अपनी जन्मभूमि को छोडते हुए, अपनी ही जाति के धर्मान्ध एवं मठाधीश, सम्प्रदायवादी लोगों से उस ने कहा था–

'कोई भी मनुष्य न तो शरीर से यहुदी हो सकता है, और न विचारो से ही। मनुष्य न अकेला देह है, न अकेला आत्मा। अपने वर्तमान जीवन में वह देह और आत्मा का समन्वय रूप है। तुम मेरी देह को नष्ट कर सकते हो, परन्तु याद रखो, हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी तुम मेरी आत्मा के विचारों को नहीं मार सकोगे।' हम देखते हैं कि लगभग सौ वर्षों तक स्पिनोजा उपेक्षा के गर्त में पडा रहा। किन्तु उस की मृत्यु के बाद में उस को उस के देश के लोगो ने ही नहीं, समग्र यूरोप के लोगों ने दूसरा 'क्राइस्ट' कहा था। उस की समाधि बनाने को सारे यूरोप के कवि, लेखक, साहित्यकार और दार्शनिको ने चन्दा भेजा था। उस की समाधि पर लिखा है—

'यहाँ विश्व का महान् दार्शनिक स्पिनोजा सो रहा है, जिस के सम्मान में स्वय दर्शन-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र अनन्त काल तक नत मस्तक रहेगा।'

कितना गौरव था उस महान् विचारक का और उस महान् क्रान्तिकारी का। क्रान्तिकारी व्यक्ति का उस के अपने युग के व्यक्ति कभी भी आदर-सत्कार नहीं कर पाते। अपने युग में क्रान्ति की चिनगारी प्रज्वलित करनेवाले क्रान्तिकारी व्यक्ति को घृणा और द्वेष के जहर के प्याले मिलते रहे हैं। परन्तु जहर के प्याले पीनेवाले इन दीवानो ने अपने विचारो की वफादारी का तो पूरा ध्यान रखा और अपने विचारों

को निर्भीकता के साथ अभिव्यक्त भी करते रहे। भले ही उस के बदले में उसे कितनी भी दारुण वेदना क्यों न दी गई हो– अपने विचारों के दीवाने ये लोग कभी भी रूढिवाद, पन्थवाद, अन्ध-विश्वास और अपने युग की अन्ध-परपराओ के सामने न कभी झुके हैं और न कभी मिटे हैं। अपनी मृत्यु से पूर्व स्पिनोजा ने हालैंड के राजा को एक पत्र लिखा था—

'जीवन एक वहता झरना है, जो कभी रुकता नहीं है। मनुष्य एक क्यारी है, जिस को वह सींचता रहता है। यह मनुष्य पर ही निर्भर है कि वह जीवन से परितृप्ति ग्रहण करे। मेरे देश के प्रजाजनों और मेरे देश के राजा– मैं आप से अन्त में यही विनम्र अनुरोध करना चाहता हूँ कि ति क्षण अपने जीवन का स्वागत करने को तैयार रहे।'

पण्डितजी की उपेक्षा :

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज का जीवन एक क्रान्तिकारी जीवन था। एक युगान्तरकारी जीवन था। अपने जीवन में पण्डितजी ने वहुत कुछ देखा था, वहुत कुछ सुना था, और वहुत कुछ अनुभव भी किया था। उन के अनुभव की पूँजी में जहाँ हमें मधुरता कम मिल पाती है, वहाँ कटुता ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। उन के जीवन के जो संस्मरण समय-समय पर मुझे सुनने को मिले हैं, उन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन का निरादर, उन की उपेक्षा तथा उन के विचारों का तीव्रतम विरोध वाहर वालो की अपेक्षा घर वालों से ही अधिक हुआ था। हो सकता है कि इस के पीछे कुछ अंशों में उन के तेजस्वी जीवन के प्रति ईर्ष्या वुद्धि भी रही हो। कुछ भी क्यो न रहा हो, यह सत्य है कि अपने स्पष्ट विचारों के कारण और अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण रूढिवादी और पन्थवादी लोगों ने उन का जितना ही अधिक

विरोध किया था, उतनी ही अधिक तेजी के साथ नवयुग के नव तरुणों में वे उतने ही अधिक लोकप्रिय और श्रद्धा के भाजन बनते चले गए थे। पूँजीवादी लोगों से कभी भी उन की पटी नहीं। पूँजीवादी लोगों के हीन जीवन का उन्हों ने कभी समर्थन नहीं किया था। यही कारण था कि एक पूँजीवादी वर्ग सदा उन का विरोध करता रहा, और जहाँ तक बन सका उन्हे बदनाम करने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु उन लोगों के ये गर्हित प्रयत्न कभी भी सफल नहीं हो सके। कुछ पूँजीवादी लोगों ने उन्हे अपने पक्ष में करने के लिए कुछ प्रलोभन के टुकडे भी फेंके, परन्तु उस मस्त योगी ने न लोगो के प्रशसा के मधुर स्वर को सुना और न उन के निन्दा के कटु स्वरो की ओर ध्यान दिया। वे अपने विचारों की मस्ती में सदा अपने रास्ते पर आगे ही आगे बढते रहे। पण्डितजी महाराज का यह विचार था कि किसी भी मनुष्य के जीवन की उज्ज्वलता और पवित्रता धन के आधार पर नहीं हो सकती यदि उस की उज्ज्वलता और पवित्रता का कुछ आधार हो सकता है, तो वह है उस की धर्म भावना, त्याग भावना और सेवा भावना। मानव जीवन के मूल्यो का अवलोकन पण्डितजी सदा मानवतावादी दृष्टिकोण से ही आँका करते थे। मैंने देखा है कि गरीब और मध्यम वर्ग के लोगो के साथ उन का कितना प्रेम और सद्भाव था।

साम्यवादी शिष्य :

पण्डितजी के प्रवचनों को सुन कर और उन के लेखों को पढ कर तथा समाज की समस्त रूढियो का विरोध करने के कारण कुछ लोगो ने ही नहीं, बल्कि अधिकांश धर्मान्ध लोगो ने उन्हे साम्यवादी तक कह दिया था। उन के तेजस्वी गुरु के युग के धर्मान्ध लोगों ने जब उन के गुरु को गान्धीवादी कह दिया था, तब उस में क्या आश्चर्य है कि

पण्डितजी के युग के धर्मान्ध लोगों ने और पन्थवादी एवं सम्प्रदायवादी लोगों ने अपनी दुर्बुद्धि के कारण उन्हें साम्यवादी ही कह दिया हो।

एक वार की बात है, मैं ने हँसी-हँसी में पण्डितजी महाराज से कहा था– 'आप पुरातनवादी और पन्थवादी लोगो की दृष्टि में साधु नहीं हैं। लोग इस बात की चर्चा करते हैं कि पण्डितजी महाराज दीक्षा का विरोध करते हैं और आप के दीक्षा विरोध की बात समाज के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में पहुँच चुकी है।' मैं ने उस बातचीत के प्रसंग में पण्डितजी से यह भी कहा था– 'आप के सुधारवादी और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को लोग नास्तिकता और साम्यवाद की संज्ञा भी देने लगे हैं। क्या आप अपने आप को साम्यवादी कहलाना पसन्द करेंगे? और इस सम्बन्ध में वक्तव्य दे कर स्पष्टीकरण करने का विचार रखते हैं क्या?'

गान्धीवादी गुरु :

पण्डितजी महाराज ने एक मन्द मुस्कान के साथ कुछ क्षणो की मौन समाधि के वाद मुझ से कहा था– 'मेरे गुरुदेव को लोगो ने गान्धीवादी जब स्पष्ट कह दिया था, तब इस में क्या आश्चर्य है कि आज के कुछ धर्मान्ध लोग मुझे साम्यवादी कहते हैं? चाहे मुझे कोई समाजवादी कहे, साम्यवादी समझें अथवा नास्तिक मानें, इस से मेरा कुछ भी बनता-बिगडता नहीं है। मुझे तो साम्यवादी बनने में आपत्ति और भय नहीं लगता। क्यों कि भगवान् महावीर स्वयं ही इस विश्व के सब से बडे एवं सर्वतो महान् साम्यवादी थे। जो अपने युग की प्रत्येक विषमता का विरोध करता है और विषमताओं के स्थान पर समताओं को लाने का प्रयत्न करता है, तब लोग उस स्थिति में यदि साम्यवादी कहने लगें, तो मुझे इस में कुछ भी अपमान-जैसा अथवा बुरे-जैसा नहीं लगता है।

यह सच है कि दुनिया ने समझदार इन्सानों को न कभी समझने की कोशिश की है और न उन के विचारों के साथ अथवा उन के जीवन के साथ न्याय और नीति का व्यवहार किया है। मेरे सम्बन्ध में गैर-जवाबदारी के साथ जो कुछ भी कहा जाता है अथवा लिखा जाता है, तब मेरे मन में इस बात का दुख होता है कि ये लोग न भले को समझ पाते हैं और न बुरे को समझ पाते हैं। यह प्रसन्नता भी मुझे होती है कि मेरे विचारों का स्वागत और सत्कार करनेवाले लोगों की भी मेरे समाज में कमी नहीं है।' उन्हो ने एक तर्क देते हुए, अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा—'याद रखो, धर्मान्ध एव परम्परावादी लोग जीवन का आदर नहीं कर पाते, पर लाश का आदर वे अवश्य करते हैं।'

सन्तों का विरोध :

पण्डितजी महाराज के क्रान्तिकारी विचारों का विरोध गृहस्थ वर्ग तक ही सीमित नहीं था, परन्तु समाज के कुछ गद्दीधर साधु भी उन का प्रत्यक्ष और परोक्ष में विरोध करते रहते थे। इस विरोध में उन के विचारो के विरोध की भावना उतनी तीव्र नहीं थी, जितनी उन की प्रगति को देख कर ईर्ष्या बुद्धि थी। अनेक प्रसगों पर उन का बडे-बडे गद्दीधर साधुओं से कभी—कभी तीव्रतम विचार भेद भी हो जाता था। फिर भी पण्डितजी महाराज अपनी सयत भाषा और विवेक के साथ ही अपने विरोध में उठनेवाले प्रश्नो का समाधान हँसते—हँसते ही करते थे। सादडी, सोजत और भीनासर में होनेवाले सम्मेलनों में अनेक बार और अनेक प्रसंगो पर नूतन विचारवाले सन्तों पर होनेवाले प्रहारों का केवल निराकरण ही नहीं किया, बल्कि उन का शानदार जवाब भी दिया। आप जानते हैं कि नूतन और पुरातन का यह संघर्ष आज का नहीं है, युग-युग से चला आया है। समाज में सर्वत्र जहाँ-जहाँ पण्डितजी ने अपनी विहार-यात्राएँ की हैं, वहाँ सर्वत्र ही नूतन मानस के लोगों ने उन का सत्कार के साथ

स्वागत भी किया है। इस प्रकार पण्डितजी महाराज स्थानकवासी समाज में एक क्रान्तिकारी के रूप में सर्वत्र चिर-परिचित रहे हैं।

दीक्षा और पण्डितजी :

दीक्षा के सम्बन्ध में उन के विचार अत्यन्त ही स्पष्ट थे। उन्हो ने कभी भी योग्य दीक्षा का विरोध नहीं किया, पर वर्तमान में जिस विकृत रूप से दीक्षा ली जा रही है अथवा दी जा रही है, उस पद्धति और नीति का विरोध ही वे करते रहे। दीक्षा के सम्बन्ध में उन के ये विचार थे– 'शिष्य व्यामोह के कारण दीक्षा देने वाले गुरु, दीक्षा लेनेवाले की न परीक्षा करते हैं और दुर्भाग्य से उसे दीक्षा देने के बाद भी पढा-लिखा कर उसे योग्य बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया जाता है। दीक्षा देनेवालों का लक्ष्य अधिक से अधिक सख्या की ओर रहता है, उस की योग्यता की ओर नहीं। इस प्रकार की अयोग्य दीक्षा देने का अधिकार किसी भी साधु और साध्वी को न हो कर एक मात्र उस सम्प्रदाय के आचार्य को ही होना चाहिए।' इस दीक्षा के सम्बन्ध में सादडी सम्मेलन में अपने विचारों को निर्भीकता के साथ अभिव्यक्त करते हुए बाल-दीक्षा के विरोध में एक प्रस्ताव भी उन्हों ने प्रस्तुत किया था, जिसे सुन कर सभी गद्दीवर लोग उत्तेजित हो उठे थे। और कुछ घण्टों की गरमागरम चर्चा के बाद एक शब्द के संशोधन के साथ उन का वह प्रस्ताव पारित कर लिया गया था। पण्डितजी महाराज के विचारों की यह एक महान् विजय थी। मन में भावना न होने पर भी बाल-दीक्षा का समर्थन करनेवाले साधुओ ने उन के प्रस्ताव का कुछ विरोध कर के अन्त में उसे स्वीकार कर लिया था।

संस्था का विरोध :

पण्डितजी महाराज ने अपने जीवन में किसी भी संस्था को अपने

नाम पर खडा करने का प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में कभी प्रयत्न नहीं किया। उन में एक शक्ति थी, यदि वे चाहते तो एक नहीं, अनेक संस्थाओं को खडी कर सकते थे। परन्तु उन का विचार था कि किसी भी संस्था को खडी करना और उसे चलाना, यह भी एक प्रकार का बन्धन है और एक प्रकार का परिग्रह ही है। इस परिग्रह और उस के इस बन्धन में फँसने के विचार का जन्म पण्डितजी महाराज के मन और मस्तिष्क में कभी हुआ ही नहीं। वे अपने जीवन में सर्व प्रकार के परिग्रहो और बन्धनो से मुक्त रह कर ही अपने जीवन का आदर्श स्थापित करना चाहते थे। और उन के इस लक्ष्य में उन्हे शत-प्रतिशत सफलता भी मिली। और तो क्या स्वयं अपनी ही संप्रदायगत संस्थाओं से भी कभी उन का सम्बन्ध नहीं रहा। महाराष्ट्र, राजस्थान, मालवा और सौराष्ट्र में उन के भक्तो की कमी नहीं थी। यदि चाहते तो दूसरे साधुओ के समान अपनी भी संस्था वे बना सकते थे और उस का संचालन करने की शक्ति भी उन में थी। परन्तु इस प्रकार के बन्धन उन्हें प्रिय नहीं थे।

पदवी का विरोध :

पण्डितजी महाराज ने कभी भी अपने जीवन में किसी भी प्रकार के पद अथवा पदवी को स्वीकार करने की भावना को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। एक वार नहीं, दो वार उन की भूतपूर्व सम्प्रदाय ने भी उन्हे आचार्य पद देने की चर्चा चलाई थी। और इस प्रकार के प्रसग भी उपस्थित हो गए थे तथा उस के लिए वातावरण भी वन चुका था। परन्तु उन्हों ने आचार्य जैसे महान् पद तथा पदवी को स्वीकार करने से भी नम्रता के साथ इन्कार कर दिया था। भीनासर सम्मेलन में भी गुरुदेव ने उन्हे उपाध्याय पद अथवा प्रधान-मन्त्री पद स्वीकार करने के लिए आग्रह किया था। पर उन्हों ने वडी विनम्रता

के साथ मेरे गुरुदेव उपाध्याय अमर मुनिजी से कहा था– 'आप तो बन्धन मुक्ति का सन्देश देते जाते हैं, फिर आप मुझे इन पदों के बन्धन में बान्धने का प्रयत्न क्यो करते हैं? मैं किसी भी पद को स्वीकार न कर के आप के प्रत्येक कार्य में आप का सहयोगी और सहकारी बनकर ही रहना अधिक पसन्द करता हूँ।' कुछ राजस्थान के सन्तों ने उन्हें राजस्थान का मन्त्री पद लेने का भी आग्रह किया था, परन्तु पण्डितजी ने उन के प्रेमपूर्वक आग्रह को प्रेम के साथ ही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था।

◎ ◎

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज अपने जीवन में सदा से सिद्धान्त-वादी रहे थे। अपने को सिद्धान्त के सामने झुकाना उन्हे कभी पसन्द नहीं था। उन के जीवन में यदि नम्रता और कोमलता अत्यधिक थी, तथापि अपने सिद्धान्तो की रक्षा के लिए वे वज्र से भी अधिक कठोर वन जाते थे। व्यक्ति अपना हो अथवा पराया, अपने सिद्धान्तों की वली चढा कर, उन्हों ने कभी किसी से समझौता नहीं किया था। उन की इस सिद्धान्तवादिता के आधार पर ही लोगो के मन में उन के प्रति अपार श्रद्धा थी। एक दो नहीं, पचासों प्रसग पण्डितजी महाराज के जीवन में इस प्रकार के आए थे। जव इन के सिद्धान्तों की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ, तव अपने प्रियजनों को छोडने में भी उन्हें देर नहीं लगी। मैं समझता हूँ, अपने सिद्धान्त की रक्षा का भाव किसी साहसी व्यक्ति में ही हो सकता है। एक शायर ने कहा है—

" राहे-खुद्दारी से मर कर भी भटक सकते नहीं।
टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं॥ "

उत्सर्ग और अपवाद :

आज से लगभग आठ वर्ष पूर्व समाज में एक प्रश्न उठा था— उत्सर्ग और अपवाद। इस विषय को ले कर कुछ लोगो ने झूठा तूफान और ववंडर उठाया था। उन लोगों के पास अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए एक भी युक्ति और प्रमाण तो था नहीं, तब उन्हों ने गाली और अपशव्दो का दुर्व्यवहार ही प्रारम्भ कर दिया था। किसी भी सिद्वान्त को जब तक समझने की दृष्टि प्राप्त न हो, तब तक उस के रहस्यो को जाना नहीं जा सकता। भगवान महावीर की वाणी परम सत्य है। उस का एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द भी सत्य है। उस में असत्य जैसा कुछ भी नहीं है। फिर भी उस सत्य को समझने के लिए भगवान महावीर ने प्रमाण, नय और निक्षेप का मार्ग बतलाया है। इन तीनो के आधार पर ही सत्य का निर्णय किया जा सकता है। भगवान का प्रत्येक वचन सापेक्ष होता है। उस अपेक्षा को समझना ही नयवाद, अनेकान्त-वाद, सप्तभंगीवाद और निक्षेपवाद है। जब तक कोई व्यक्ति सप्त नय और सप्तभंगी के स्वरूप को भली-भाँति न समझ ले, तब तक जिन शासन में वह सत्य के निर्णय का अधिकारी नहीं माना जाता है। भगवान का वचन किस समय पर किस अपेक्षा से कहा गया है— उस सत्य को समझने का वैज्ञानिक पथ नयवाद और निक्षेपवाद है। नय और निक्षेप के विना भगवान के किसी भी वचन का निर्णय करना यह अज्ञान लोगों का एक प्रकार का दुःसाहस ही है। क्यों कि अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को, किसी एक गुण को और किसी एक पक्ष को ले कर निर्णय कर लेना और उसी को सत्य मान बैठना, यह मिथ्या-दृष्टि का काम है, सम्यग्दृष्टि का नहीं। क्यों कि सम्यग्दृष्टि सापेक्ष वचन को अपेक्षावाद के द्वारा ही समझने का प्रयत्न करता है। इस के

विपरीत मिथ्यादृष्टि, मताग्रही, हठाग्रही अपनी विपरीत बुद्धि में, अभिनिवेशवादी और रूढ-परम्परावादी दुर्बुद्ध व्यक्ति कभी भी किसी सत्य का निर्णय नहीं कर सकता। इस प्रकार के व्यक्ति को भगवान महावीर की भाषा में मिथ्यावादी, मिथ्यादृष्टि और कदाग्रही कहा गया है। प्रमाण और नय के द्वारा ही सत्य का निर्णय करना चाहिए। कहीं-कहीं पर शास्त्र के अर्थ का निर्णय करने पर निश्चय नय और व्यवहार नय का भी आधार लेना पडता है। नयवाद को छोड कर सत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है, जो करता है, उस व्यक्ति का यह दुःसाहस एवं नासमझी ही कही जाएगी।

उत्सर्ग और अपवाद दोनों को ही भगवान ने सम्यक् पथ कहा है। साधक के जीवन में कभी-कभी जब अपवाद का प्रश्न उपस्थित हो जाता है, तब परिस्थितिवश अपवाद का सेवन करनेवाला साधु, साधु ही रहता है, असाधु नहीं हो जाता। जब कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों का प्रतिपादन भगवान ने किया है और दोनों को एक-दूसरे का पूरक भी कहा है। इस स्थिति में उत्सर्ग को तो धर्म कहना और अपवाद को पाप मानना, यह जिन शासन में अश्रद्धा, अनास्था और सर्वथा विपरीत भाव ही कहा जाएगा। भगवान के वचनों में अनास्था और अश्रद्धा कर के विपरीत प्ररूपणा करनेवाला व्यक्ति जिन-शासन का द्रोही है। वह अपने संसार का अन्त नहीं करता, बल्कि संसार को अनन्त बना देता है। एकागी दृष्टिकोण को ले कर चलनेवाले ये राह भूले राही अपने जीवन के लक्ष्य को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। जो व्यक्ति बौद्ध और वैदिक धर्म को इस आधार पर मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि वे एकान्तवादी हैं। फिर उत्सर्ग और अपवाद में एकान्तवाद को ले कर चलनेवाले लोग क्या महा मिथ्यादृष्टि नहीं होंगे? पण्डित श्रीमलजी महाराज ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को ही धर्म के रूप में स्वीकार किया है। उत्सर्ग को

धर्म और अपवाद को पाप कहने का कभी भी उन्हों ने दुःसाहस नहीं किया। क्यो कि उन के पूज्य-गुरुदेव आचार्य जवाहरलालजी महाराज उत्सर्ग के ही समान अपवाद को भी भगवान की आज्ञा में मानते थे। और जो कुछ भगवान की आज्ञा में है, उस का प्रायश्चित्त और दण्ड शास्त्रीय दृष्टि से ग्रहण नहीं किया जाता है। इस शास्त्र सम्मत सत्य के लिए पण्डितजी महाराज को अनेक बार दुराग्रही लोगों के दुराग्रह का सामना करना पड़ा था। पण्डितजी महाराज एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। सिद्धान्त की रक्षा के लिए वे कभी किसी से समझौता नहीं करते थे। यह उन का स्पष्ट दृष्टिकोण था।

निशीथ चूर्णि :

एक बार की बात है। आगरा में निशीथ चूर्णि का प्रकाशन चल रहा था। उस के तीन भागो का प्रकाशन हो चुका था और चतुर्थ भाग का प्रकाशन चल रहा था। उस समय पण्डितजी महाराज का चातुर्मास पूना में ही था। पण्डितजी महाराज ने उस समय पूना से आगरा मुझे एक पत्र लिखा था, जिस में लिखा था– 'एक दुराग्रही वर्ग विशेप का व्यक्ति मेरे पास आया और बोला 'निशीथ चूर्णि के प्रकाशन के सम्बन्ध में आप का (श्रीमलजी महाराज का) अभिमत क्या है?' पण्डितजी महाराज ने उत्तर मे कहा था– 'निशीथ चूर्णि' हमारे जैन आगम-साहित्य का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अभी तक इस का प्रकाशन नहीं हुआ था और अब इस का प्रकाशन हो रहा है। यह बहुत ही हर्ष का विषय है।' पण्डितजी महाराज ने आगे कहा– 'इस के प्रकाशन से व्यक्ति, समाज सभी को लाभ है।' प्रश्न कर्ता ने, जो अपनी दुराग्रही बुद्धि ले कर ही पण्डितजी महाराज के पास आया था, पूछा– 'उस में जो उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा है, उस सम्बन्ध में आप के क्या

विचार है?' पण्डितजी महाराज ने कहा–'मैं उत्सर्ग और अपवाद दोनों को धर्म मानता हूँ। दोनों को संयम स्वरूप ही स्वीकार करता हूँ।' पण्डितजी महाराज ने आगे कहा–'मेरे गुरुदेव आचार्य जवाहरलालजी महाराज भी दोनों को धर्म रूप में स्वीकार करते थे। अपवाद को अधर्म मान कर उस का प्रायश्चित्त लेने की बात उन्हो ने कभी नहीं कही थी। इस आधार पर मैं उत्सर्ग और अपवाद दोनों को संयमी जीवन का अग समझता हूँ। 'निशीय चूर्णि' के प्रकाशन में भी मैं पाप नहीं मानता। जब पहली बार पूज्य अमोलकऋपिजी महाराज ने बत्तीस आगमो का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था, तब उस का भी इसी प्रकार विरोध किया गया था। परन्तु आज सभी लोग पूज्य अमोलक-ऋपिजी महाराज के शास्त्र पढकर ज्ञान प्राप्त करते हैं और उन का उपकार मानते है। भविष्य मे 'निशीय चूर्णि' के सम्बन्ध में भी आनेवाली पीढी इस महान् ग्रन्थ को और महत्त्वपूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करनेवाले लोगों का उपकार ही मानेगी। क्यों कि साहित्य की साधना किसी भी प्रकार का पाप नहीं है, बल्कि एक धर्म ही है।'

'निशीय चूर्णि' के प्रकाशन को ले कर समाज के कुछ दुराग्रही, हठी और उद्दड लोगो ने बडा बवडर और तूफान उठाया था। उस समय लुधियाना में होनेवाली कान्फ्रेन्स की जनरल मीटिंग में भी इस 'निशीथ चूर्णि' के प्रकाशन के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास करने का खूब प्रयत्न किया था। परन्तु वह सफल नहीं हो सका। इस के बाद देहली और बबई में होनेवाली कान्फ्रेन्स की जनरल मीटिंग में भी इस प्रश्न को उठाने का षड्यन्त्र रचा गया था, परन्तु उन उद्दंड लोगो को किसी भी मोर्चे पर सफलता नहीं मिली, सर्वत्र पराजय हुई।

अल्पारम्भ और महारम्भ :

पण्डितजी महाराज ने एक बार मुझे कहा था–'जिस प्रकार आज

उत्सर्ग और अपवाद को ले कर लोग तूफान और बवंडर उठा रहे हैं, उसी प्रकार मेरे पूज्य-गुरुदेव के युग में भी कुछ आग्रही एवं हठी लोगों ने कृषि एवं खेती को लेकर बडा तूफान उठाया था। उस समय मेरे गुरुदेव को इन अन्ध-परम्परावादियों से काफी संघर्ष लेना पडा था। कृषि एवं खेती को शास्त्र में आर्यकर्म एवं अल्पारम्भ माना गया है। परन्तु नासमझ लोग इस को महारम्भ की कोटि में मान कर विरोध करते रहे।' पण्डितजी महाराज ने इस सम्बन्ध में आगे कहा था– 'मेरे पूज्य-गुरुदेव के इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार थे कि कृषि में महारम्भ नहीं हो सकता। कृषि-कर्म को महारम्भ कहना और अनार्य कर्म कहना, यह जैन-सिद्धान्त के विपरीत है। कुछ लोग अपने अज्ञानवश खेती को अनार्य-धन्धा कहते हैं। पर यदि प्रज्ञापना सूत्र को निकाल कर देखा जाए तो विदित होगा कि खेती अनार्य-धन्धा नहीं है, पर आर्य-धन्धा है। अगर इसे अनार्य-धन्धा ठहराया जाएगा, तो लोगों का जीवित रहना कठिन हो जाएगा।

लोगो ने कृषि-कर्म को महापाप और खेती करनेवाले को महापापी मान लिया है। पर खेती से उत्पन्न होनेवाले अन्न को पाप मान लिया जाए, तो कैसी विडम्बना खडी होगी! लोग असत्य भाषण, मायाचार, धोखा और जुआँ खेलना, अत्यधिक ब्याज लेना अल्पारम्भ मानते हैं और खेती करने में महापाप मानने में संकोच नहीं करते। यह उन की भयकर भूल है।'

नूतन और पुरातन :

मैं समझता हूँ, नूतन और पुरातन का यह संघर्ष आज का नहीं, पुरातन युग से चला आ रहा है। और जब तक मनुष्य की विचार शक्ति रहेगी, तब तक नये–पुराने विचारो का संघर्ष चलना ही रहेगा।

जिस विचार को आज हम नया समझते हैं और नया समझ कर उस का विरोध करते हैं, वही विचार आनेवाले काल में पुराना हो जाता है और लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। प्राचीन युग में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर को भी अपने कुछ नवीन विचारो के लिए पुरातनवादियो से संघर्ष करना पडा था। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा था–'जो कुछ नया है, उस का इस आधार पर विरोध मत करो कि वह नया है और प्राचीन का आदर इस आधार पर मत करो कि वह युग-युग से चला आ रहा है। प्राचीनता और नवीनता के आधार पर किसी भी वस्तु का निर्णय लेना उचित नहीं है। सोचना तो यह चाहिए कि हमारे जीवन में उपयोगी क्या है और जो कुछ हम ग्रहण कर रहे हैं, वह हमारे जीवन का विकास कर सकेगा या नहीं?'

मैं यहाँ पर इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धसेन के कुछ तेजस्वी विचार प्रसग वश उपस्थित कर रहा हूँ—

१. 'पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वह विचार की कसौटी पर वैसी ही सिद्ध होती है? यदि समीचीन सिद्ध हो, तो हम उसे समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, प्राचीनता के नाम पर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती है, तो केवल मरे हुए पुरुषों के झूठे गौरव के कारण हाँ में हाँ मिलाने के लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस सत्य-प्रियता के कारण यदि विरोधी विरोध करते हैं, तो करते रहे।

२. पुरानी परम्पराएँ अनेक प्रकार की हैं, उन में परस्पर विरोध भी है। अतः विना समीक्षा किए प्राचीनता के नाम पर यो ही झटपट निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिए यही प्राचीन व्यवस्था ठीक है, अन्य नहीं, यह बात केवल पुरातन-प्रेमी जड ही कर सकते हैं।

३. आज जिसे हम नवीन कह कर उडा देना चाहते हैं, वही व्यक्ति के मरने के बाद नई पीढी के लिए पुराना हो जाएगा, जब कि प्राचीनता इस प्रकार अस्थिर है, तब विना विचार किए, पुरानी बातो को मानना कौन पसन्द कर सकता है ?

४. कितनी ही असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनता के नाम पर प्रशंसित हो रही हैं और चल रही हैं। परन्तु आज के मनुष्य की प्रत्यक्ष सिद्ध, बोध-गम्य और युक्ति-युक्त रचना भी नवीनता के कारण दूर-दराई जा रही है। यह तो प्रत्यक्ष के ऊपर अतीत की स्मृति की विजय है। मैं इस को मात्र स्मृति मूढता ही कहता हूँ।'

पण्डितजी महाराज ने कहा था– 'अति प्राचीन युग में अपने नूतन विचारो के कारण जो स्थिति आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की थी, वही स्थिति आज के युग में मै ने अपने पूज्य-गुरुदेव की देखी, और आज उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज की देख रहा हूँ। जैन परम्परा के दीर्घ इतिहास में जो क्रान्ति की चिनगारी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने प्रज्वलित की थी, वही क्रान्ति की चिनगारी इस युग में तेजस्वी आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने और इस युग के विराट विद्वान् उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज ने प्रज्वलित की है।' पण्डितजी महाराज ने आगे कहा था– 'मेरा विचार है कि जवाहर-साहित्य और अमर-साहित्य युग-युग तक स्थानकवासी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता रहेगा और राह-भूले लोगों को राह बताता रहेगा।'

नूतन विचारवादी :

मे समझता हूँ, पण्डितजी महाराज के इन विचारों में कुछ भी विरोध जैसा नहीं है। उन के स्वय के विचार भी बडे ही क्रान्तिकारी थे। अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण से ही पण्डित श्रीमलजी महाराज

को अपने घर के अन्दर भी और बाहर भी तीव्र सघर्ष करना पडा था। 'वालको पर अत्याचार' और 'जैन दीक्षा और वर्तमान अवस्था' इन पुस्तकों में उन्हों ने अपने विचार व्यक्त किए थे। उसका कटु विरोध हुआ था। इस के वे भुक्तभोगी थे। उन के क्रान्तिकारी विचारों को सहन न कर सकने के कारण ही कुछ धर्मान्ध एवं मूढमति लोग उन्हे नास्तिक भी कह दिया करते थे। इस प्रकार किसी भी क्रान्तिकारी का किसी भी युग की जनता ने आदर-सत्कार किया हो अथवा पूर्णतया सम्मान किया हो, यह देखने को नहीं मिलता। पुरातनवाद पर जब नूतनवाद करारी चोट करता है, तब यह निश्चित है कि कुछ पुरातन-वादी लोगो के स्वार्थों पर आघात पहुँचता है और इन आघातों को न सह सकने के कारण ही वे लोग प्राचीनता के नाम पर नवीनता के विरोध में तूफान और ववंडर उठाया करते हैं।

ध्वनिवर्धक यन्त्र :

आज के युग में ध्वनिवर्धक-यन्त्र (लाउड स्पीकर) को ले कर भी समाज एक तूफान उठ रहा है। श्रमण-सघ में भी इस को ले कर दो पक्ष चल रहे हैं। सादडी सम्मेलन से पूर्व भी कुछ क्रान्तिकारी तरुण सन्त अपनी विराट् सभाओं में ध्वनिवर्धक-यन्त्र का उपयोग एव प्रयोग करते रहे थे। पजाव के कुछ साधुओ को छोड कर अधिकाश साधु ध्वनिवर्धक-यन्त्र का प्रयोग करते रहे थे और आज भी कर रहे हैं। परन्तु मारवाड़ के क्षेत्र में यह एक नवीन चीज थी। उस में विजली का प्रयोग होता है, इसी को ले कर उस का विरोध सादडी से ले कर भीनासर-सम्मेलन तक होता रहा। इस वीच में नूतन और पुरातन पक्षों में समन्वय का पर्याप्त प्रयास किया गया था, दुर्भाग्य वश वह सफल नहीं हो सका। यह प्रश्न सादडी से ले कर भीनासर-सम्मेलन तक अवर में ही लटकना

रहा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, भीनासर-सम्मेलन के प्रसंग पर लाउड-स्पीकर के समर्थक श्रावक वर्ग ने अपना एक विशाल जुलूस निकाला था, और अपने तीव्र स्वर में लाउड-स्पीकर का समर्थन करते हुए आया था, जहाँ साधु मण्डल की सभा चल रही थी। उन्हों ने इस बात पर जोर दिया था कि लाउड-स्पीकर का प्रयोग खुल जाना चाहिए। मुझे यह भी स्मरण है कि ध्वनिवर्धक-यन्त्र की समीक्षा को ले कर कान्फ्रेन्स के प्रमुख व्यक्ति, जिन में बंबई महासंघ के प्रमुख व्यक्ति भी सम्मिलित थे, उन्हों ने साधु-मण्डल की सभा में आ कर समस्त साधु-प्रतिनिधि-मण्डल के सामने यह प्रार्थना की थी कि ध्वनिवर्धक-यन्त्र की समस्या को आप लोगों को इस सम्मेलन में हल कर ही लेना चाहिए। इस वातावरण का यह परिणाम निकला कि भीनासर-सम्मेलन में उपस्थित समस्त साधु-प्रतिनिधि-मण्डल ने फिर से इस विषय को हाथ में लिया और लगभग ४-५ घण्टे की चर्चा के बाद इस के सम्बन्ध में कुछ संशोधन के साथ में और कुछ शर्त के साथ बोलने के पक्ष में प्रस्ताव पास कर लिया गया था। यह प्रस्ताव उस समय के उपाचार्य पूज्य गणेशीलालजी महाराज, वाचस्पति मदनलालजी महाराज (जो सम्मेलन के शान्तिरक्षक एक अध्यक्ष थे) की अध्यक्षता में ही एक या दो साधुओं का विरोध रहते हुए भारी बहुमत से लाउड-स्पीकर में बोलने के पक्ष में भीनासर की भूमि पर प्रस्ताव पास हो चुका था। जब प्रस्ताव पास हो चुका, तब इस का सीधा अर्थ यही था कि श्रमण-संघ के प्रतिनिधि-मण्डल ने और उस के वरिष्ट नेतागणो ने लाउड-स्पीकर बन्दी को दूर कर के लाउड-स्पीकर में बोलने के द्वार को सदा के लिए खोल दिया है। परिणाम स्वरूप भीनासर-सम्मेलन के तुरन्त बाद ही कुछ सन्तों ने उस का उपयोग प्रारम्भ कर दिया था। और उस वर्ष की वीर-जयन्ति के अवसर पर तो भारत के विभिन्न प्रान्तों में इस का

उपयोग और प्रयोग हो चुका था। परन्तु खेद है कि प्रस्ताव पास करने के बाद भी फिर इस का विरोध प्रारम्भ किया गया। जिस प्रस्ताव को हम पारित कर चुके थे, उस का फिर से विरोध करना यह स्पष्ट ही एक अव्यावहारिक कार्य है।

पण्डितजी की नीति :

ध्वनिवर्धक-यन्त्र के सम्बन्ध में पण्डित श्रीमलजी महाराज कुछ वर्षों तक मौन रहे। इस का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि वे बोलने के पक्ष मे नहीं थे। परन्तु इस का अर्थ केवल इतना ही लगाना चाहिए कि वे इस के विरोध में उठनेवाली आवाज का अन्तिम परिणाम देखना चाहते थे। श्रमण-संघ के सगठन में उन का अटूट विश्वास था। किसी कारण श्रमण-संघ को चोट न पहुँचे, यह समझ कर ही वे इस का उपयोग एवं प्रयोग नहीं कर रहे थे। शायद यह भी संभव हो सकता है कि मारवाड में इस के लिए वातावरण न पा कर उन्हो ने इस का उपयोग न किया हो। परन्तु महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विशाल नगर पूना में पण्डित श्रीमलजी महाराज ने ध्वनिवर्धक-यन्त्र का प्रयोग किया था। उन के स्वर्गवास से पूर्व जो संवत्सरी पर्व मनाया गया था, उस में पर्युषण पर्व के आठों ही दिन पण्डितजी महाराज ध्वनिवर्धक-यन्त्र पर ही बोले थे। पूना-संघ ने भी उन के स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए उन से बोलने का प्रस्ताव पास किया था।

पण्डित श्रीमलजी महाराज के विरोध में कुछ वरिष्ठ सन्तो की ओर से विरोध की मन्द-मन्द आवाज आई थी। परन्तु उन्हों ने उन वरिष्ठ सन्तो के चरणो में यह निवेदन दिया था—

'जब भीनासर सम्मेलन में बोलने का प्रस्ताव पास हो चुका है, तब नहीं बोलने का कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। फिर भी मे जब

आप से मिलूँगा, तब इस का स्पष्ट विचार कर लेंगे। इस सम्बन्ध में जो समिति बनी है, वह समिति बोलनेवाले अन्य सन्तो के सम्बन्ध में जो निर्णय करेगी, वह निर्णय मुझे भी मान्य होगा।'

ध्वनिवर्धक-यन्त्र के बारे में पण्डितजी महाराज के विचार प्रारम्भ से ही स्पष्ट थे। फिर भी उन्हों ने जब उस की उपयोगिता समझी, तब उस का उपयोग कर लिया था। किसी भी वस्तु की उपयोगिता कहाँ तक है और कितनी है, इस बारे में पण्डितजी महाराज अत्यन्त जागरूक रहते थे। यदि किसी वस्तु की उपयोगिता नहीं है और किसी समय उस की आवश्यकता नहीं है, फिर भी उस का उपयोग करते रहना, यह एक प्रकार का अतिवाद ही होगा। मैं समझता हूँ, दोनो तरफ ही अतिवाद चल रहा है। बोलनेवाले भी अतिवाद कर रहे हैं और न बोलनेवालों का आग्रह भी चरम सीमापर पहुँच चुका है। इन दोनो का मध्यम मार्ग यही हो सकता है कि आवश्यकता पडने पर बोला जाए। यदि आवश्यकता नहीं है, तब बोलने के लिए उस का प्रयोग एव उपयोग क्यो किया जाए?

श्रमण-संघ और पण्डितजी :

श्रमण-संघ के सम्बन्ध में पण्डितजी महाराज के जो विचार अन्तिम समय तक रहे थे, इस सम्बन्ध में पण्डितजी महाराज की डायरियो से पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उन की एक डायरी तो पत्र-व्यवहार से ही भरी हुई है, जो उन्हो ने समय-समय पर उपाचार्यश्रीजी की सेवा में और श्रमण-संघ के अन्य वरिष्ट सन्तों की सेवा में लिखे हैं। इन पत्रों पर से श्रमण-संघ के सम्बन्ध में उन का क्या दृष्टिकोण था, यह भली-भाँति जाना जा सकता है। श्रमण-संघ के भविष्य के विषय में पण्डितजी महाराज के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की योजनाएँ थीं। उन योजनाओं

को वे श्रमण संघ में लागू करना चाहते थे। उन की यह भी अभिलाषा थी कि एक बार स्वास्थ्य ठीक हो जाए, तब श्रमण-संघ के एकीकरण के लिए कुछ परिश्रम किया जाए। श्रमण-संघ की वर्तमान अवस्था देख कर उन के मन में खेद होता था। इस सम्बन्ध में जब उन से कभी बातचीत हुई, तब उन्हों ने अपने हार्दिक भावो को स्पष्ट रूप से मेरे सामने रखा था, और समय-समय पर उन से सम्बन्धित अन्य लोगो के समक्ष भी वे अपने विचार निर्भीकता के साथ रखा करते थे। समाज के सगठन में उन्हें अटल एवं अडिग विश्वास था। स्थानकवासी-समाज की उन्नति और विकास वे हार्दिक भाव से चाहते थे। श्रमण-संघ के सम्बन्ध में जब कभी कोई उलझन भरी समस्या उन के सामने उपस्थित होती थी, तब बडी गम्भीरता के साथ उसे सुलझाने का उन्हों ने प्रयत्न किया था। उन की डायरी के पन्नो में, जो उन्हों ने स्वय अपने हाथ से लिखे हैं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि श्रमण-सघ के संगठन को स्थिर बनाने के लिए उन्हो ने उपाचार्यश्रीजी के अतिरिक्त श्रद्धेय पन्नालालजी महाराज, श्रद्धेय हस्तीमलजी महाराज तथा उस समय के उपाध्याय और आज के श्रमण-सघ के तेजस्वी आचार्य आनन्दऋषिजी महाराज एव उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज आदि सन्तो से श्रमण-सघ के सम्बन्ध में जो पत्रव्यवहार किया था, वह आज भी सुरक्षित है। इन सब पत्रों को प्रगट करने का अभी समय अनुकूल नहीं है। क्यों कि कुछ बाते इन पत्रों में इस प्रकार की भी हैं, जो किसी को व्यक्तिगत चोट पहुँचा सकती है।

आचार्य जवाहरलालजी : एकता के प्रतीक :

स्थानकवासी परम्परा के परम तेजस्वी और ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने अपनी पुस्तक 'जवाहर विचार सार' में

वाद उदयपुर चातुर्मास मे जब कान्फ्रेन्स का डेप्युटेशन आया था, तब संघ हित के लिए स्वर्गीय गुरुदेव ने अजमेर-सम्मेलन की कार्यवाही को स्वीकार कर के डेप्युटेशन का सम्मान रखा था। इसी प्रकार श्रीजी भी यदि संघ-हित के लिए कान्फ्रेन्स की विनती को मान्य कर श्रमण-संघ से सम्बन्ध–विच्छेद न करें, तो सभी तरह से अच्छा रहेगा।' पण्डित श्रीमलजी महाराज अपने आगे के पत्रों में भी उपाचार्य श्री के चरणों में यही निवेदन करते रहे–'भले ही आप अपने स्वास्थ्य के कारण से उपाचार्य पद पर न भी रहे, तब भी मेरा नम्र निवेदन है कि आप श्रमण-संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद न करें।' पण्डितजी महाराज ने पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चरणों में लिखा था– 'जिस सम्प्रदाय का विलीनीकरण श्रीजी ने स्वय ही सादडी-सम्मेलन में किया और श्रीजी के नेतृत्व में ही श्रमण-संघ रूप कल्पवृक्ष को जन्म दिया और उसका पालन-पोषण भी हुआ, उस विलीन सम्प्रदाय को फिर से स्थापन करना है, तो मैं समझता हूँ कि यह कार्य श्रीजी के व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं होगा।'

सुझाव की उपेक्षा :

परन्तु पण्डित श्रीमलजी महाराज के इस नम्र निवेदन पर ध्यान नहीं दिया गया, बल्कि उस की घोर उपेक्षा भी की गई। फिर भी पण्डितजी महाराज ने अपनी वात स्वीकृत न होने पर भी अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खोया नहीं था। उपाचार्य श्रीजी के प्रति उन के मन में सदा श्रद्धा एव निष्ठा का भाव वना रहा था। पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में पण्डित प्रवर मुनिश्री नाना-लालजी महाराज को चुनने से पूर्व एक डेप्युटेशन पण्डितजी महाराज की सेवा में भेजा था, जिस मे चार व्यक्ति थे। उन चारों व्यक्तियो

के साथ पण्डितजी महाराज ने उत्तर में पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चरणो में जो कुछ निवेदन किया था, वह इस प्रकार था—

'चारो सदस्यों की बातो को सुनने पर और विचार करने के पश्चात् मुझे जॅचता है कि वैधानिक रूप से बने हुए श्रमण-सघ के टूटने की अधिकृत घोपणा जब तक नहीं होती है, तब तक श्रीजी ने श्रमण-संघ से मतभेद होने के कारण उपाचार्य का पद एव श्रमण-संघ से त्याग-पत्र दे दिया है, फिर भी जिस सम्प्रदाय को स्वयं ने ही विलीन किया है, उस विलीन भूत सम्प्रदाय को फिर से वही रूप दे कर समाज के सामने श्रीजी का आना मेरी दृष्टि से ठीक नहीं है।'

संगठन में निष्ठा:

मैं समझता हूँ, उन के पत्रो के इन उद्धरणों से पाठक यह भली-भॉति समझ सकेंगे कि समाज के एकीकरण एव संगठन में उन का कितना अधिक गहरा प्रेम था। श्रमण-संघ के एकीकरण के लिए उन्हे जो कुछ प्रयत्न करना चाहिए था, उस से अधिक प्रयत्न किया था। परम श्रद्धेय पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज ने जब अपने उत्तराधिकारी के रूप मे पण्डित प्रवर श्री नानालालजी महाराज को घोपित कर दिया, उन्हें अपना युवाचार्य बना दिया था, उस के बाद भी पण्डितजी महाराज का पत्र-व्यवहार उन से निरन्तर रहा था। पण्डितजी महाराज ने अपने एक पत्र में उस समय के युवाचार्य और वर्तमान में आचार्य श्री नानालालजी महाराज को ही एक पत्र दिया था—

'लालचन्दजी ने आप के समाचार मुझ से कहे हैं। मैं तो आप को यही लिखता हूँ कि आप की तरफ से यही प्रयत्न होता रहना चाहिए कि जिस से संघ में शान्ति रहे। सघर्प में किसी तरह का लाभ नहीं होता है।'

श्रद्धेय पण्डितजी महाराज ने श्रमण-संघ के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट दृष्टिकोण भले ही प्रकट रूप में कभी अभिव्यक्त न किया हो, परन्तु उन्हों ने समय-समय पर श्रमण-संघ के वरिष्ठ सन्तो के साथ जो पत्र-व्यवहार किया था, उस में पूज्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज, उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज, प्रवर्तक पन्नालालजी महाराज और उपाध्याय हस्तीमलजी महाराज के नाम भी अंकित हैं। उस समय इन को पण्डितजी महाराज ने पत्र लिखे थे। उन में भी पण्डितजी महाराज की एक ही भावना अभिव्यक्त होती है कि श्रमण-संघ किसी भी प्रकार से अखण्ड बना रहे। परन्तु खेद है कि उन का यह सत् प्रयत्न समाज के दुर्भाग्य से सफल नहीं हो सका। इस का खेद उन्हें अन्त तक रहा।

दिल की बात :

मैं जिस समय कलकत्ता से बम्बई वर्षावास के लिए जा रहा था, उस समय पण्डितजी महाराज से श्रमण-संघ के सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई थी। पण्डितजी महाराज ने उस बातचीत के प्रसंग में एक बार कहा था – 'श्रमण-संघ के विरोधी लोग जो श्रमण-संघ के विरोध में शिथिलाचार का नारा लगाते हैं, वह सर्वथा सत्य नहीं है।' उन्हो ने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा था– 'कुछ भूलें हुई हैं, और कुछ घटनाएँ इस प्रकार की घटी हैं, जिन का घटना समाज के लिए एक गहरी चोट हो सकता है। पर उसे सुलझाने की भावना से न सुलझा कर, और अधिक उलझाने का प्रयत्न करना, इस बात को सिद्ध करता है कि कुछ लोग अपनी अलग सत्ता स्थापित करने के लिए अन्दर से प्रयत्नशील हैं। अपनी स्वतंत्र प्रभु सत्ता स्थापित करने के लिए उन्हे शिथिलाचार की ओट में शिकार खेलने का अवसर प्राप्त

हो गया है।' पण्डितजी महाराज ने अपनी बातचीत में आगे कहा था– 'वास्तव मे मतभेद तो नूतनवाद और प्राचीनतावाद को ले कर है। नूतन और पुरातन के इस सघर्ष को शिथिलाचार की संज्ञा दे कर अपना नारा बुलन्द कर के जनता की दृष्टि में वे अपने को पवित्र सिद्ध करना चाहते हैं। वास्तव में श्रमण-संघ से निकलने का अन्य कोई उपाय न देख कर शिथिलाचार की आड में वे सब लोग धीरे-धीरे फिर अपनी भूतपूर्व सम्प्रदाय के आचार्य बनने के स्वप्न देख रहे हैं। मैं नहीं समझता कि जिन सम्प्रदायों का इन सभी लोगों ने परित्याग कर दिया था, अब फिर से स्वीकार कर ने में इतनी अधिक तत्परता क्यो रखते हैं?'

एक तीखा तर्क :

पण्डितजी महाराज ने एक बडी ही जोरदार बात उस समय कही थी। उन्हों ने कहा था– 'जो लोग अपने को उत्कृष्ट और शुद्धाचारी समझते हैं, उन लोगों में– जो अभी श्रमण-संघ में हैं, जो अभी श्रमण-संघ से अलग हो रहे हैं और जो कभी श्रमण-संघ में मिले ही नहीं– ये सभी लोग अपना एक अलग स्वतत्र संघ क्यों नहीं स्थापित कर लेते? अपना एक अलग स्वतंत्र उत्कृष्ट और शुद्ध साधुओं का श्रमण-सघ स्थापित कर लें और फिर जन-चेतना के समक्ष अपने सपनों के अनुसार एक आदर्श स्थापित कर सकें, तो बडा सुन्दर होगा। परन्तु दुर्भाग्य है समाज का कि अलग होनेवाले ये लोग भी परस्पर मिलकर बढने की भावना नहीं रखते, बल्कि अपनी अलग सत्ता स्थापित कर ने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस से प्रमाणित होता है कि शिथिलाचार का नारा केवल एक नारा ही है, उस की आड में स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने की भावना ही प्रबल है।

विरोध में भी समन्वय :

मैं ने इसी बातचीत के प्रसग मे पूछा था– 'आप श्रमण-संघ में हैं और परम श्रद्धेय गणेशीलालजी महाराज ने अपनी भूतपूर्व सम्प्रदाय को फिर से स्वीकार कर लिया है और उस की व्यवस्था के लिए अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने ही योग्यतम शिष्य नानालालजी महाराज को घोषित कर दिया है, इस सम्बन्ध मे आप क्या सोचते हैं?' उन्हों ने कहा था– 'मै ने प्रयत्न तो किया कि पूज्य श्रीजी श्रमण-संघ से पृथक् न हो, पर मेरा वह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। भले ही आज वे श्रमण-संघ में न रहे हों, परन्तु उन के प्रति मेरे मन में अगाध आस्था और अनन्त निष्ठा रही है। अपने स्वर्गीय गुरुदेव के बाद मैं ने पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज को ही हृदय से गुरु के रूप में स्वीकार किया था। और अपने जीवन की सन्ध्या तक मैं उन के प्रति व्यक्तिगत रूप में वफादार बना रहना चाहता हूँ। श्रमण-संघ में रहना यह मेरा अपना व्यक्तिगत विचार है। जिस श्रमण-संघ को मैं ने अपने जीवन में एक बार स्वीकार कर लिया है, उसे अन्त तक स्वीकार ही किए रहूँगा। श्रमण-संघ में रह कर भी यदि मैं व्यक्तिगत रूप मे उन के प्रति आस्था एव निष्ठा रखता हूँ, तो यह कुछ बुरा नहीं है। यह मेरा अपना व्यक्तिगत विचार है।'

◎ ◎

२२

भारतीय-संस्कृति और भारतीय-परम्पराओ में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र सम्बन्ध माना जाता है। गुरु और शिष्य दोनों एक-दूसरे के प्रति समर्पण की भावना को ले कर ही जीवन-यात्रा में अग्रसर होते हैं। शिष्य गुरु के चरणों में अपना मन और मस्तिष्क, हृदय और बुद्धि तथा जीवन और उस की समग्र उपलब्धियों के साथ अपने तन को भी गुरू के चरणो में अर्पित कर देता है। शिष्य के इस सर्वतोमुखी समर्पण में से ही गुरु के हृदय में भी समर्पण की एक पवित्र भावना उत्पन्न होती है कि मेरे पास जो भी, जितना भी ज्ञान है, वह सम्पूर्ण मैं अपने शिष्य को समर्पित कर डालूँ। गुरु अपनी सम्पूर्ण ज्ञान निधि शिष्य के जीवन पात्र में उडेल कर रिक्त होना चाहता है। किन्तु वह उतना ही अधिक फिर से भर जाता है। देनेवाला कभी रिक्त एव शून्य नहीं हो सकता। युग-युग से गुरुओ ने अपने सुयोग्य शिष्यों को उन्मुक्त भाव से अपने ज्ञान का अक्षय भडार लुटाया है। और आज भी गुरु अपनी इस परम्परा को निभाते ही चले आ रहे हैं। गुरु एक ऐसा दाता है, जो अपने जीवन के किसी भी क्षण से कुछ भी देने से इन्कार नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में इस सत्य को हमें ध्यान में रखना ही होगा

कि लेनेवाला शिष्य योग्य होना चाहिए। गुरु के हृदय के द्वार तभी खुलते हैं, जब उन के जीवन में उन्हें जागृत शिष्य मिल जाता है।

जीवन का देवता :

भारतीय-धर्म परम्परा में गुरु को जीवन का देवता कहा गया है। गुरु उस महामेघ के समान होता है, जो सर्वत्र समान भाव से बरसता है। गुरु उस सूर्य के समान होता है, जो अपना आलोक उन्मुक्त भाव से बिखेरता है। गुरु की आत्मा सागर से भी गंभीर और हिमगिरी से भी अधिक उत्तुंग होती है। भारतीय-परम्परा में गुरु जन-जन के जीवन का तेजस्वी देवता होता है। श्री साने गुरुजी ने गुरु शब्द की परिभाषा और उस में छुपे गम्भीर रहस्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

'गुरु शिष्य के जीवन का निर्माता होता है। भारतीय-संस्कृति में गुरु, ज्ञान, विवेक और बुद्धि का समुज्ज्वल प्रतीक है। गुरु अपने शिष्य को संपूर्ण भूतकाल दिखा देता है, वर्तमान से परिचय करा देता है और भविष्य का दिशा-दर्शन करा देता है। गुरु का अर्थ है— अब तक का संपूर्ण ज्ञान।'

श्रमण-संस्कृति गुरु का ज्ञान के देवता के रूप में पूजन करती आई है। गुरु की पूजा, बुद्धि की पूजा है। गुरु की पूजा, अनुभव की पूजा है। गुरु की पूजा, सत्य की पूजा है। शिष्य के जीवन का पात्र जितना गहरा एवं विशाल होगा, उतना ही वह अपने गुरु से ग्रहण एवं धारण कर सकेगा। शिष्य विनम्र भाव से, विनीत भाव से, अपने अहंकार को भूल कर, योग्य पात्र बन कर, जब गुरु चरणों में आ पहुँचता है, तब गुरु की आत्मा शिष्य को अनुभवार्जित विपुल ज्ञान देने को तडप उठती है। गुरु की वाणी निकलती है—

"मैं अपनी सारी श्रुत-साधना और अपनी सारी चारित्र्य-साधना तुम

में उडेल देना चाहता हूँ। तू मेरी श्रुत-साधना का अधिकृत उत्तराधिकारी है।" शिष्य के जीवन का वह क्षण कितना मधुर होता होगा, जब गुरु अपने शिष्य पर प्रसन्न हो कर अपनी साधना का सारा सारतत्त्व सौंप देता है।

कृष्ण और अर्जुन :

गुरु और शिष्य के मधुर सम्बन्धो की एक दीर्घ परम्परा भारतीय इतिहास में परिलक्षित होती है। वैदिक-परम्परा में राम और वशिष्ठ का गुरु-शिष्य सम्बन्ध कितना मधुर था। राम जिज्ञासा है और गुरु वशिष्ठ उस के समर्थ समाधान। इस मधुर सम्बन्ध का आनन्द योग-वाशिष्ठ के अध्ययन तथा मन्थन से जाना जाता है। गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन गुरु-शिष्य के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अर्जुन जब मोहमुग्ध हो जाता है, कर्तव्य-विमुख हो जाता है, तब वह कहता है– 'शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्।' मैं आप का शिष्य हूँ, राह भूल गया हूँ, किधर जाऊँ, किधर न जाऊँ? आप मुझे जीवन की सही दिशा बतलाइए। गीता क्या है? अपने सात्त्विक स्नेह-युक्त शिष्य को सही दिशा-दर्शन।

बुद्ध और आनन्द :

बौद्ध-परम्परा में बुद्ध और आनन्द का गुरु-शिष्य भाव कितना मधुर, कितना सुखद था। भगवान बुद्ध के सहस्रों शिष्यो में आनन्द ही भगवान बुद्ध को यथार्थ रूप में समझ सके थे। बौद्ध-साहित्य में अनेक प्रसग इस गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध की मधुर झाँकी प्रस्तुत करते हैं। यदि आनन्द न होता, तो बौद्ध-धर्म में सभवतः नारी साधना का विलोप ही दृष्टिगोचर होता। क्यों कि अपने प्रिय शिष्य आनन्द की

प्रार्थना पर ही बुद्ध ने अपने संघ के द्वारा नारी साधना के लिए उन्मुक्त किए थे।

महावीर और गौतम :

जैन परम्परा के आगम-साहित्य में और आगमोत्तर-साहित्य में भी भगवान महावीर और गणधर गौतम के गुरु-शिष्य के भाव की मधुरिमा आबाल-वृद्ध में प्रसिद्ध है। आगम-साहित्य के बहुविध पृष्ठों पर महावीर और गौतम के गुरु-शिष्य सम्बन्ध के मनमोहक चित्र यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं। गणधर गौतम भगवान महावीर के प्रधान शिष्य थे। दोनों ने एक-दूसरे की आत्मा को, एक-दूसरे को आत्मसात् हो कर पहचाना था। गौतम प्रश्न हैं और महावीर उत्तर। गौतम शंका है, महावीर समाधान। गौतम जिज्ञासा है, महावीर ज्ञानमय निर्मल ज्योति। गौतम याचक है, महावीर मुक्त भाव से दाता। गौतम समस्या है, महावीर समाधान। विविध रूपों में, विविध प्रसंगो पर महावीर और गौतम के विशाल, विपुल और समुज्ज्वल गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को हम एकत्र नहीं, इधर-उधर बिखरा हुआ पाते हैं। वस्तुतः जीवन के इन पावन-प्रसंगों पर से ही हम महावीर और गौतम के मधुरतम गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की मोहक झाँकी देख पाते हैं। मैं समझता हूँ, श्रमण-परम्परा के दीर्घ इतिहास में गौतम जैसा शिष्य और महावीर जैसे गुरु विरल ही रहे हैं।

ज्योतिर्धर गुरु और प्रतिभाधर शिष्य :

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में हमारी प्राचीन परम्परा के जो सिद्धान्त रहे हैं, उन सिद्धान्तों के अनुसार जब गुरु और शिष्यों के जीवन को परखा जाता है, तभी सच्चे गुरु और सच्चे शिष्य की परीक्षा हो पाती है? मैं नहीं समझता कि इस कसौटी पर कस कर परखे

जाने वाले गुरु-शिष्य युग-युग की दीर्घ परम्परा में अनुत्तीर्ण हो पाते है? परन्तु ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज और उन के प्रियतम शिष्य प्रतिभाधर पण्डितजी महाराज गुरु-शिष्य की एक ऐसी जोडी थी, जिस के ज्ञान की अन्य जोडी मध्य काल के इतिहास में हमें उपलब्ध नहीं होती है। पण्डित श्रीमलजी महाराज अपने जीवन के गुलाबी बचपन से ले कर और अपने जीवन की अन्तिम सन्ध्या की अन्तिम साँस तक अपने गुरु के प्रतिशत-प्रतिशत उपकृत और वफादार रहे हैं। एक शिष्य को जिस साँचे में ढलना चाहिए था, उसी साँचे में ढल कर उन्हों ने अपने गुरु की इच्छा को पूर्ण किया था। अपने जीवन को गुरु के चरणो में संपूर्ण रूप से अर्पित करने के बाद श्रीमलजी महाराज अपने जीवन में उसी पथ पर अग्रसर होते रहे, जो जीवन-पथ उन के तेजस्वी गुरु के चरणों से चिन्हित हो चुका था। शिष्य का अर्थ भारतीय-परम्परा में अन्तेवासी भी किया जाता है, जिस का अर्थ है, जीवन के प्रत्येक क्षण में गुरु के समीप बने रहना और गुरु के शरीर की छाया की तरह सदा उन के साथ रहना। मैं समझता हूँ, शिष्य में जो समर्पण की वृत्ति होनी चाहिए, वह पण्डितजी में पूर्णत. थी। गुरु ने भी अपने इस योग्यतम शिष्य को प्राचीन युग की और अपने वर्तमान युग की ज्ञान की प्रत्येक शाखा से परिचित करा दिया था। ज्योतिर्धर आचार्य श्री के पास अपनी नूतन और पुरातन जो भी ज्ञान की पूँजी थी, उसे सर्वतो भावेन अपने इस योग्य शिष्य के जीवन-पात्र में तथा उस के मन और मस्तिष्क में उडेल दी थी। गुरु के पास जो भी कुछ ज्ञान राशि की पूंजी होती है, उस पर एक मात्र अधिकार विनीत शिष्य का ही हो सकता है। विनीत शिष्य माँगता नहीं है, बिना माँगे उसे सब कुछ मिल जाता है। योग्य गुरु मिले और वे अपने योग्य शिष्य को ज्ञान प्रदान न करें, यह कभी संभव ही नहीं हो

सकता। अनन्त आकाश में जब मेघों की गर्जना होती है, तब मयूर अपना नृत्य न करें, यह कथमपि सम्भव नहीं है। स्वाति नक्षत्र के उदय-काल में सागर की सतहपर तैरने वाली सींप के मुँह में जब जल कण पड जाता है, तब वह अपना मुख बन्द कर के सागर की ऊपरी सतह से नीचे गहराई में जा कर चुपचाप बैठ जाती है और उस में मोती बन कर तैयार हो जाता है। जीवन के सागर के ऊपरी सतह पर तैरने वाले इन शिष्यों की बुद्धि रूपी सींप में गुरु रूप स्वाति नक्षत्र के ज्ञान का जल कण जब पड जाता है, तब वे अपनी जीवन की गहराई में उतर कर अपने अनुभवों के आधार पर उस ज्ञान रूप मोती का परिपाक कर के जन कल्याण के लिए प्रदान कर डालते हैं। जिस प्रकार दीपक से दीपक की ज्योत जलती है, वही सत्य गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में लागू पडता है। ज्योतिर्धर जवाहर जीवन की प्रज्ज्वलित ज्योति थे और उस ज्योति से अपने आप को ज्योतित किया पण्डित श्रीमलजी महाराज ने। मैं समझता हूँ, मध्यकाल के इतिहास में गुरु और शिष्य का इतना मधुर सम्बन्ध अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो सके। गुरु और शिष्य का यह मधुर इतिहास आज इतिहास ही बन कर रह गया है।

पण्डितजी महाराज :

पण्डित श्रीमलजी महाराज ने अपने तेजस्वी गुरु से जो कुछ ज्ञान की कुंजी प्राप्त की थी, उस से उन्हों ने अपने जीवन को भी आलोकित किया था और समाज और राष्ट्र के अन्धकार को दूर कर प्रकाश से भर देने का प्रयत्न किया था। वे इस प्रयत्न में कितने सफल रहे, इस का वास्तविक समाधान भविष्यत् कालीन पीढी के इतिहासकार ही भली भाँति दे सकेंगे। परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि अपने गुरु रूप

महासागर से जो कुछ भी प्राप्त किया था, उसे दूसरो को देने में पण्डितजी ने कभी संकोच नहीं किया। उन्मुक्त भाव से जो कुछ मिला था, उसे उन्मुक्त भाव से जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्रदान करते रहे। आज इस वर्तमान युग में जब कि तेजस्वी गुरु और उन का प्रियतम शिष्य इस संसार में नहीं रहे हैं, फिर भी हमारे मन में इतना धैर्य है कि उन के भौतिक अभाव में उन दोनो के आध्यात्मिक भाव, जो साहित्य के रूप में संरक्षित हैं, युग-युग तक जन-जीवन का पथ आलोकित करते रहेंगे।

◎ ◎

२३

स्थानकवासी समाज की दिव्य परम्परा के इतिहास में आज तक कितने ही युग-पुरुष हो चुके हैं। ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज उन सब में सर्वोच्च युग-पुरुप हो चुके हैं। श्रद्धेय आचार्य श्रीजी के साक्षात् दर्शन का सद्भाग्य मुझे नहीं मिल सका, परन्तु उन के जीवन के सम्बन्ध में मैं ने भारत के जिन–जिन प्रान्तों में परिभ्रमण किया है, वहाँ-वहाॅ के श्रावकों के मुख से उन के जीवन के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ मै सुनता चला आया हूँ, उस पर से मेरे हृदय में ज्योतिर्धर आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा, अगाध आस्था और उन के जीवन के प्रति सदा से मेरी आदर बुद्धि रही है। पण्डित श्रीमलजी महाराज ने सयय–समय पर, जब कभी मेरा उन के साथ मिलन हुआ, तब ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज के जीवन के जो आन्तरिक संस्मरण सुनाए हैं, वे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु आज उन ससमरणों को लिपिबद्ध करने से कुछ लाभ नहीं तथा प्रसग भी नहीं है। मैं यहाँ पर उन के जीवन के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत नहीं कर रहा हूॅ, उन के पावन एवं उज्ज्वल विचारों के सम्बन्ध में ही मै यहाॅ पर प्रकाश डालना चाहता हूॅ। श्रद्धेय आचार्य श्रीजी के विचार उन की प्रवचन पुस्तक

'जवाहर किरणावलियों' में तथा उन के जीवन चरित्र के द्वितीय भाग 'जवाहर विचार सार' में प्रत्येक प्रेमी पाठक को उपलब्ध हो सकते हैं।

मै स्वयं भी अपने व्याख्यानों में उन्हीं के विचारों का आधार लेता रहा हूँ। स्पष्ट भाषा में कह दूँ, तो मेरे व्याख्यानों का प्रारम्भ ही पूज्य श्री के प्रवचनों के आधार पर ही हुआ था। अपने जीवन के प्रारम्भ में मुझे जवाहर-साहित्य पढने को मिला था। स्थानकवासी-परम्परा में जवाहर-साहित्य से पूर्व किसी भी अन्य स्थानकवासी साधु के प्रवचन निकले हो, यह मुझे ज्ञात नहीं होता। ज्योतिर्धर जवाहर ने स्थानकवासी समाज में जिन क्रान्ति के विचार बीजो का वपन किया था, आज उस का प्रत्यक्ष फल स्थानकवासी-परम्परा को प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध हो रहा है। मैं तो यह दावे के साथ कह देना चाहता हूँ कि आज इस तरुण पीढी के जितने भी तरुण साधु एव साध्वी वर्ग हैं, उन सब के विचार अल्प एवं अधिक रूप में पूज्यश्री के विचारों से प्रभावित रहे हैं। मेरे विचार में शायद ही कोई ऐसा साधु एव साध्वी हो, जिस ने व्याख्यान की कला का अभ्यास करने में परम श्रद्धेय पूज्य श्री जवाहर-लालजी महाराज के विचारो का अल्प या अधिक रूप में आधार ग्रहण न किया हो।

समन्वय वाद :

स्थानकवासी-परम्परा के जिस युग में स्थानकवासी समाज की चेतना प्रसुप्त अथवा अवरुद्ध थी, उस समय ज्योतिर्धर आचार्य ने उसे प्रबुद्ध बनाया था और उन के विचारो के अवरुद्ध द्वार को खोल कर विचार क्षेत्र को सर्वथा उन्मुक्त बना दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि उन्हों ने भगवान महावीर के मुख्य–मुख्य सिद्धान्तों के आधार पर समग्र गान्धी विचारधारा को आत्मसात् कर लिया था। यही कारण है कि

आप ने गान्धी के विचारो का आध्यात्मिक पक्ष ले कर जैन धर्म के साथ उस का समन्वय साधने का सफल प्रयत्न किया था। उन के सम्पूर्ण विचारो की तो नहीं, किन्तु कुछ विचारो की झॉकी मै यहॉ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

ज्योतिर्धर जवाहर ने अपने विचारों के क्षेत्र में एव समाज के जीवन में जो सब से वडी क्रान्ति की थी, उस का आधार उन की असाम्प्रदायिक बुद्धि थी। एक सम्प्रदाय विशेष के पद पर विभूषित हो कर भी उन की मूल विचार धारा सदा सम्प्रदायवाद के विरोध में ही रही थी। उन्हो ने कहा था—

पन्थवाद पर चोट :

'लोगों में साम्प्रदायिक भेद-भाव इतना अधिक घुसा हुआ है कि उसने कदाग्रह का रूप धारण कर लिया है। इस से श्रद्धा एवं भक्ति का ह्रास हो रहा है। वहुत से लोग सम्प्रदाय या पन्थ के नाम पर लड कर खून-खराबी करने में आनन्द मानते हैं। ससार का कोई भी पन्थ इस प्रकार के आचरण का विधान नहीं करता। यही नहीं वरन् एक या दूसरे रूप में सभी पन्थ का विरोध करते हैं। लोग अपने-अपने सम्प्रदाय की सुशिक्षाओं पर ही ध्यान दें, तब भी उन्हे विदित हो जाएगा कि वे अपनी सम्प्रदाय की रक्षा के लिए जो व्यवहार दुरभिनिवेश के वश हो कर करते हैं, उस से सम्प्रदाय की रक्षा नहीं होती, किन्तु उस का पतन होता है, उस की जड खोखली बनती है। इस प्रकार वे अपनी ही सम्प्रदाय के शत्रु बनते हैं। ऐसे लोग अपने पन्थ की प्रतिष्ठा को कलंकित करते हैं।'

मैं विचार करता हूँ कि आचार्य श्री ने सम्प्रदाय के विरोध में जो अपनी आवाज बुलन्द की है, उस से वहुत वडी शिक्षा ले कर मनुष्य

अपने जीवन के विद्रोह को दूर कर के समभाव की स्थापना कर सकता है। पर यह निश्चय है कि बहुत से हठाग्रही लोग, पन्थवादी दृष्टिवाले व्यक्ति और अपने को पत्रकार कहने वाले कुछ लोग उन की इस शिक्षा से कुछ भी लाभ नहीं उठा सके है। आचार्य श्री ने अपने विचारो की परिधि बहुत व्यापक बनाई थी। राष्ट्र-धर्म के सम्बन्ध में उन के विचार थे–

राष्ट्र भावना :

'जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति-प्रगति होती है, मानव-समाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सपत्ति का सरक्षण होता है, सुख एवं शान्ति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढती है, और अत्याचारी–पर-राष्ट्र या स्व-राष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह कार्य राष्ट्र-धर्म कहलाता है।'

उस समय खादी को ले कर भी लोगो में बडा सघर्ष चल रहा था। खादी के सम्बन्ध में उन्हो ने अपने विचार इस प्रकार अभिव्यक्त किए थे–

सही समझ :

'जहा तक तुम गृहस्थ हो, वहाँ तक महारम्भ का त्याग करने के लिए अल्पारम्भ का आश्रय लिए बिना नहीं चल सकता। किसी मासाहारी को मांस भक्षण त्यागने का उपदेश दिया जाए, तो यह नहीं कहा जा सकता कि तुम भूखों मर जाओ। उसे तो यही कहना होगा कि तुम्हारा जीवन यदि शुद्ध और सात्त्विक आहार से टिक सकता है, तो अशुद्ध मासभक्षण का त्याग करो। मास का त्याग करने वाले को आखिर

अन्न का आधार तो चाहिए ही। गान्धीजी महारम्भ का त्याग कराते हैं। जो स्वयं महारम्भ का त्याग करता है और दूसरों से त्याग कराता है, वह अहिंसक है। इस बात को भली-भाँति समझ कर खादी के और चरवी लगे कपडों में से जिस में महारम्भ हो उन का विवेक के साथ त्याग कर देना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।'

आचार्य श्री जी ने अपने समय के धनिक वर्ग को सम्बोधित करते हुए साम्यवाद से सावधान रहने की बात कहते हुए कहा था–

साम्यवाद का खतरा :

'धनिको! सावधान रहो, अपने धन में से गरीबों को हिस्सा दे कर, यदि उन्हे शान्त न करोगे, उन की सेवा न करोगे, तो साम्यवाद फैले विना नहीं रहेगा। सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो जाएगी कि गरीब लोग धनवानो के गले काटेंगे। उस समय हाय-हाय मच जाएगी।'

ज्योतिर्धर जवाहर ने कृषि एवं खेती को अल्पारम्भ एवं आर्य कर्म वताते हुए कहा था—

कृषि आर्य कर्म :

'लोगों ने कृषि-कर्म को महापाप, खेती करने वाले को महापापी मान लिया है। पर खेती से उत्पन्न अन्न खाने को भी पाप मान लिया जाए, तो कैसी विडम्बना होगी। लोग असत्य, माया, धोखा और जुआँ खेलने में अल्पारम्भ मानते संकोच नहीं करते, यह उन की भयकर भूल है। खेती अनार्य-धन्धा नहीं है, वरन् आर्य-धन्धा है।'

आचार्य श्री ने अपने विचारों के द्वारा गान्धी युग के चर्खे के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला था—

चर्खा सुदर्शन है :

'चर्खा भारतवर्ष का सुदर्शन चक्र है। इस के द्वारा भारत का बहुत कुछ उत्थान होना सम्भव है। इस समय आप के समाज में चर्खे का प्रवेश नई घटना है। कौन जानता है कि दैवी शक्ति क्या कार्य कराना चाहती है? पर इस में जरा भी सन्देह नहीं कि समाज में चर्खे का प्रवेश होना शुभ लक्षण है।'

ज्योतिर्धर आचार्य ने नारी-जाति के उत्थान और प्रगति के लिए भी अपने प्रवचनो में समय-समय पर जो कुछ कहा था, वह नारी-जाति की पवित्रता और महिमा के सर्वथा अनुकूल ही था—

नारी गौरव :

'स्त्रियों को हीन समझ लेने से ही आज भारत के प्राचीन गौरव से लोग हाथ धो बैठे है। राष्ट्र में चैतन्य आना स्त्रियो की उन्नति पर ही निर्भर है। कुछ लोगो ने स्त्री-समाज को पंगु समझ रखा है। यही कारण है कि यहाँ सुधार आन्दोलनो में पूरी सफलता नहीं मिलती। यदि स्त्रियो को इस प्रकार तुच्छ न समझ कर उन्हे उन्नत बना दिया जाए, तो जो सुधार आन्दोलन आज अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल होते हैं, फिर उन्हें असफल होने का संभवतः कोई कारण न रहे।' आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो में उस समय स्त्री-शिक्षा पर पर्याप्त मात्रा में बल दिया था।

नूतनता का विरोध :

एक बार बातचीत के प्रसंग में पण्डित श्रीमलजी महाराज ने कहा था कि उस युग में मेरे पूज्य-गुरुदेव जवाहरलालजी महाराज के विचारों का तीव्रतम विरोध हुआ था। कुछ स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ की

पूर्ति के लिए और पूज्य-गुरुदेव के जीवन को अपमानित करने के लिए वहुत कुछ निन्दा-बुराई की थी, तथा अपमान जनक शब्दो का प्रयोग भी किया था। दूसरो की बात तो क्या, स्वयं हमारी ही सम्प्रदाय के रूढिवादी पुराने लोग भी अन्दर-अन्दर में पूज्य-गुरुदेव के नूतन विचारों का विरोध करते रहे थे, पर खुल कर सामने आने का उन में साहस नहीं था।

ज्योतिर्धर जवाहर और कलमधर कविजी :

पण्डित श्रीमलजी महाराज ने कहा था– 'प्रत्येक युग में क्रान्तिकारी पुरुष का प्रतिरोध और विरोध होता ही रहा है। आज के युग में उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज की जिस हीन पद्धति से और हीन कोटि के विचारों से अश्लील आलोचना की जा रही है, क्रान्तिकारी महान् पुरुषो के जीवन में यह कोई नई बात नहीं है। मेरा विश्वास है कि आज तक की स्थानकवासी परम्परा के इतिहास में ज्योतिर्धर जवाहर और कलमधर कविजी के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ, जिस के जीवन काल में उसे इतने तीव्र विरोध और अवरोध के आघात सहन करने पडे हो। जीवित पुरुष का यही लक्षण है कि उस के युग की जनता सदा उस का विरोध करती रहे। इस विरोध को मै महापुरुष का लक्षण ही मानता हूँ।'

◎ ◎

२४

फूलो से प्यार सभी करते हैं, पर पण्डितजी ने फूलों में रह कर भी सदा काँटों से ही प्यार किया। विद्रोही व्यक्ति अपने युग के समाज की अन्ध-परम्परा के विरुद्ध अपने विद्रोह की आवाज को बुलन्द करता है, तब उस को नास्तिक, धर्म-भ्रष्ट, धर्म-द्रोही, पापी आदि शब्दो द्वारा बदनाम किया जाता है। जब क्रान्ति की आवाज तेज होती जाती है, और जनता उसे सुनने लगती है, तब दूसरे नारे प्रारम्भ हो जाते हैं–धर्म डूब गया, पाप बढ़ गया, और समाज रसातल में चला गया। धर्म की रक्षा के नाम पर समाज के भोले लोगों के मन में भय पैदा किया जाता है। किन्तु जब विद्रोह के आन्दोलन की शक्ति तीव्रतर हो जाती है, तब रूढ़िवादी वर्ग को अपनी प्रतिष्ठा का भय सताने लगता है। उस समय वह समाज की रक्षा की चिन्ता छोड़ कर मात्र अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा में जुट जाता है। युग-युग से विद्रोह का यही रूप रहा है, और आज भी चल रहा है।

धर्म और पन्थ :

धर्म एक प्रकार का आलोक है, और पन्थ अन्धकार एवं उन्माद होता है। धर्म सिद्धान्तो के संघर्षों में न उलझ कर इस वात पर वल देता है कि व्यक्ति स्वयं अनुभव करे और आगे बढे। जव तक धर्म आत्मा में न उतरे, तव तक जीवन में आलोक नहीं आता, कोरा उन्माद रहता है। इस उन्माद की प्रतिक्रिया को ही विद्रोह एवं क्रान्ति कहा जाता है, जो फूलो पर नहीं, कॉटों पर चलता है। जव समाज का अधिकतर भाग शिव की पूजा को भूल कर केवल शव की पूजा को ही धर्म मान वैठने का हठाग्रह करता है, तव अन्दर से ही विद्रोह की आग पैदा हो जाती है–इस जीवन-ज्वाला को ही विद्रोह कहते हैं।

एक रूपक :

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक सुन्दर रूपक लिखा है– कवि प्रश्न करता है—

'प्रदीप क्यो बुझ गया ?'

'मैं ने हवा के झोंको से वचाने के लिए उसे अपनी चादर से ढक दिया। उसे शुद्ध पवन न मिलने के कारण, वुझ गया।'

कवि फिर प्रश्न करता है—

'फूल क्यो मुरझा गया ?'

'मै ने उसे तोड कर अपनी छाती से चिपका लिया और वह मुरझा गया।'

रूढिवादी लोगो ने धर्म के प्रदीप को अपनी अन्ध-श्रद्धा की चादर से ढक दिया है। स्वच्छ पवन के अभाव में वह वुझ रहा है। धर्म का फूल तो जीवन की डाली पर ही खिल सकता है, उसे तोड कर जडता की छाती से चिपकाने की आवश्यकता नहीं है।

पण्डितजी का विद्रोह :

पण्डितजी महाराज कहा करते थे—'हम आत्मा की पूजा को भूल कर शरीर की पूजा में लग गए हैं। हम जीवन के इस सत्य को नहीं समझ पाते कि व्यक्ति की उलझन समाज की उलझन है, और व्यक्ति की समस्या समग्र विश्व की समस्या है। समस्या के विलीन हो जाने पर ही समाधान द्वार पर आ जाता है। जिस का स्व नहीं मरता है, वह सर्व को कैसे पा सकेगा। सर्व को पाना ही तो धर्म है। जब हमारा स्वत्व सर्वस्व में बिखर जाएगा, तब हम सच्चे अर्थों में धर्मशील बन सकेंगे। 'अति' सभी बुरी है, फिर भले ही वह व्यक्ति में हो, समाज में हो अथवा साधना में हो। सत्य तो अतियो के मध्य में रहता है, क्यो कि सत्य सभी अतियो के अतीत की वस्तु है। इसी आधार पर मैं कहता हूँ—फूल का रास्ता तीखे काँटो में से हो कर ही जाता है। जिसे फूलो से प्यार हो, वह पहले नुकीले काँटो से प्यार करना सीखे।'

शिव और शव :

यह पण्डितजी के जीवन का विद्रोही रूप है। पन्थ और परम्परा के किसी भी विकृत रूप को उन्हों ने स्वीकार नहीं किया। उन का अन्तर मानस सब प्रकार के जडतामय बन्धनो से विद्रोह करता रहा। सत्य के शिव की उन्हो ने सदा पूजा की थी, परन्तु अन्ध-विश्वासो के शवो की पूजा का वे तीव्र स्वर से विरोध करते रहे थे—

'मैं नवजीवन का गायक हूँ,
मुक्त पवन-सा मेरा जीवन।
मुझे न पलभर बाँध सकेगे,
ये रूढिवाद के बन्धन॥'

पुरातन नहीं, नूतन :

जो कुछ उपयोगी नहीं है, जीवन को जो प्रेरणा न दे सके, इस प्रकार के किसी भी जड क्रिया-काण्ड के अर्थ-शून्य नियमो के पालन में उन्हे आस्था नहीं थी। जो फूल वासी हो जाता है, उस से देवता की पूजा नहीं की जा सकती। वासी फूल न शोभा के लिए है और न पूजा के लिए। वासी फूल धूल मे मिल जाने के लिए ही है—

'प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न वासी फूल।
मिलेंगे वे आ कर अतिशीघ्र,
आह, उत्सुक है, उन की धूल॥'

अकेले ही चलो :

अपने जीवन के लक्ष्य की ओर वे नित्य–निरन्तर आगे बढ़ते ही रहे। भले ही पन्थ अपरिचित हो, उस पर चलनेवाला प्राण भी अकेला हो, रास्ते में कदम-कदम पर विछे तीखे शूल हों, पर लौटना कभी स्वीकार नहीं था। मनोबल संकटो में भी मुस्कराता है—

'पन्थ होने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण–हारे,
अन्य हैं जो लौटते,
दे, शूल को सकल्प सारे॥'

मानव का आशावाद :

पण्डितजी मानवतावादी थे– विचार मे भी और आचार में भी। जिस मानव की धरती पर वे पैदा हुए, उस मानव-समाज के प्रति उस

का क्या कर्तव्य है, इसे वे भली-भाँति समझते थे। मानव बनकर जीना उन्हे पसन्द था। राह मे दूसरा हमराही मिले या न मिले। सुख हो या दुख हो। अपने लक्ष्य पर पहुँचने मे वे आशावादी थे—

'साथी, इस कर्तव्य जगत में,
मानव बन कर जीना होगा।
अपने सुख-दुख के प्यालों को,
जैसे भी हो, पीना होगा।
चलते चलो, करो जो करना,
व्यर्थ निराशा से डरते हो॥'

पण्डितजी अपने जीवन में शत-प्रतिशत आशावादी थे। अपने जीवन में तो कभी उन्हों ने निराशा का मुँह नहीं देखा था। दूसरे कितने ही निराश व्यक्तियों के जीवन के अन्धकार को उन्हों ने दूर किया था। उन के जीवन का एक ही नारा था— जब तक किनारा न मिल जाए, तब तक चलते ही रहो—

'बढ जाते हैं जब चरण,
स्वय पथ बन जाता है।
चल पडती है जब नाव,
किनारा मिल जाता है॥'

रास्ते की परेशानी :

पण्डितजी का विश्वास था कि रास्ते की परेशानी से परेशान हो कर बैठने से क्या काम चल सकता है? नहीं, यह तो एक कायरता ही है। यदि मनुष्य के संकल्प मे शक्ति हो, तो पर्वत की चट्टान भी उस के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकती—

'तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानो के ऊपर चढ कर।
मार रहा है घूँसे कस कर,
तोड रहा है तट चट्टानी॥'

मेरा नीड भी अखरता है :

पण्डितजी सदा अपनी मस्ती में रहते थे। न किसी का गम, न किसी का रज। जो मिला, खा लिया; जो मिला, पी लिया और जो मिला, पहन लिया। इस प्रकार का मस्त जीवन अभी तक मुझे किसी दूसरे सन्त के जीवन में देख ने को कम मिला। टाट विछा कर मस्ती से नीन्द लेना, उन का सहज स्वभाव था। एक सन्त में जो मस्ती चाहिए, वह उन में थी। उन की इस फक्कडाना मस्ती को देख कर कुछ साधु और कुछ गृहस्थ भी उन से ईर्ष्या किया करते थे। पण्डितजी हँस कर कहते—

'जग ने ऊँचा महल वनाया,
पर, मैं ने कुछ बुरा न माना।
फिर उस को क्यो अखरा मेरा,
किसी डाल पर नीड वनाना॥'

धर्म के रहस्य को समझो :

श्रद्धेय पण्डितजी महाराज धर्म के मूल तत्त्वो के प्रति अवश्य ही वफादार थे। परन्तु धर्म के नाम पर जो अन्ध-विश्वास, रूढिवाद पनप रहा था, उन का विद्रोह उसी के प्रति था। उन के विद्रोह का रूप एक इस प्रकार का रूप था, जिसे उन के निकट वालों ने इस का स्पष्ट अनुभव किया था। पण्डितजी का विचार था, सन्त के जीवन के लिए प्रेरक तत्त्व धर्म होना है और नेता के लिए पन्थ। धर्म आत्मा की ज्योति है, और पन्थ उस का आवरण। विकास कर के मनुष्य को ईश्वर

नहीं होना है, पर उस नश्वर पर जो पर्दा पड गया है, बस उसी को हटाना है। अपने साधना जीवन में वे उसी लक्ष्य को ले कर आगे बढ रहे थे। साधक के जीवन में सत्य की जब तक जिज्ञासा उत्पन्न न हो, तब तक वह साधना के मार्ग पर दृढता के साथ अग्रसर नहीं हो सकता। वर्षों तक साधना के पथ पर गतिशील रहने पर भी सत्य यदि ज्ञात नहीं हो सका है, तब शास्त्र-ज्ञान भी उस के जीवन में क्या परिवर्तन कर सकता है? लोचन विहीन व्यक्ति के सामने जब दर्पण रख दिया जाता है, तब उस के लिए उस का कुछ भी उपयोग नहीं होता। एक बधिर व्यक्ति के समक्ष मधुर वाद्यों की झंकार और गीतो की मधुर-ध्वनि हो रही हो, तब भी वह अपने अन्दर में शून्यता का ही अनुभव करता है। मैं समझता हूँ, पन्थवादी व्यक्ति भी इसी प्रकार का अन्धा और बधिर हुआ करता है। कभी-कभी अपनी मस्ती में आ कर पण्डितजी महाराज अध्यात्मयोगी सन्त आनन्दघनजी के इस पद्य को बडी सुन्दरता के साथ गाते थे—

'आतम ज्ञानी श्रमण कहावे
बीजा तो द्रव्य-लिंगी रे।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकाशे,
आनन्दघन मति सगी रे॥'

धर्मान्ध व्यक्ति का मन बाहर के द्रव्य लिंग पर ही अटक कर रह जाता है। वह धर्म के अन्तर रहस्य को न कभी समझने का प्रयत्न करता है, और न उस की आवश्यकता ही समझता है। वस्तुगत रहस्य को समझने के लिए जिस अन्तर निरीक्षण की आवश्यकता है, वह परम्परावादी व्यक्ति के पास नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में उस की परम्परा को न माननेवालो के लिए और अन्ध-विश्वासों

किनारा छोडना ही होगा। परन्तु पन्थवादी व्यक्ति और दूसरों से प्रभावित हो कर चलनेवाला व्यक्ति शायद ही इस सत्य को समझ सके। अपने को अपने में प्राप्त करनेवाला व्यक्ति न दूसरे से प्रभावित ही होता है और न स्वय ही दूसरों को अपने प्रभाव में लेने का प्रयत्न ही करता है। दूसरों से प्रभावित होना, यह आत्म-हीनता का भाव है। और दूसरों को प्रभावित करना, यह आत्म-अहंता का भाव है। हीनता और अहंता दोनो ही मनुष्य के अन्तर-मानस की प्रज्ज्वलित ज्वालाएँ हैं। इन ज्वालाओ से बचने का एक ही उपाय हो सकता है कि साधक स्वयं अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक से अपने जीवन की गन्तव्य दिशा का निर्णय करें।

अन्धा और बधिर :

यह कितनी विचित्र बात है, जो व्यक्ति हमारी सम्प्रदाय का है, हमारे पन्थ का है, उस के बुरे से बुरे दुर्गण को भी हम पन्थवाद के आवरण से ढॅक देते हैं। अपने वर्ग से भिन्न वर्ग का कोई भी व्यक्ति कितना भी बडा हो, कितना भी सद्गुणी हो, उस के सद्गुणों का आदर न कर के हम उस के जीवन का निरादर इसी आधार पर करते रहते हैं कि वह हमारे वर्ग का नहीं है। इस बुद्धि की जडता से, मन की मुग्धता से और हृदय की विचारशून्यता से ही पण्डितजी का विद्रोही मन अन्त तक विद्रोही बना रहा। किसी भी पन्थवादी धर्मान्ध व्यक्ति से उन्हो ने अपने जीवन में भयकर से भयकर कष्ट आने पर भी और विकट सकटों के क्षणो में भी समझौते का प्रयत्न नहीं किया और पन्थवादी मूढ मान्यताओं के सामने झुकने का तो उन्हों ने स्वप्न में भी संकल्प नहीं किया। यही कारण है कि वहुत से पन्थवादी लोग कभी-कभी उन का अपमान और निरादर भी कर दिया करते थे। पर

शकर की भाँति उन्हों ने सदा ही अपमान और तिरस्कार का विपपान कर के इस युग को अमृत ही प्रदान किया था–

'अखिल विश्व का विप पीते हो,
सृष्टि जिएगी फिर से।
कहो अमर शीतलता इतनी,
आती तुम्हें किधर से॥'

नये कर्म-युग के शंकर :

युग-युग से युग-पुरुषों ने अपने युग में अपनी जनता के लोगो से सदा से अनादर और तिरस्कार ही प्राप्त किया है। मुझे तो इस विश्व में एक भी विश्व-पुरुप अथवा क्रान्तिकारी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस ने अपने युग के लोगो से घृणा और विद्वेप का विपग्रहण न किया हो। परन्तु इतिहास इस सत्य का साक्षी रहा है कि विपपान करनेवालो ने ही ससार को मुक्त भाव से अमृत प्रदान किया है। प्रत्येक युग के विद्रोही लोगों से एक ही प्रश्न पूछा गया है– 'क्या तुम्हारे अन्दर दूसरो के विप को पचाने की शक्ति है?' निश्चय ही जिस पुरुप में यह शक्ति होती है, वस्तुत: वही उस युग का शंकर बन सकता है, दूसरा नहीं–

'मुझ को बस इतना बतला दो,
क्या कालकूट पी सकते हो?
रे, नये कर्म-युग के शकर!
क्या मर कर फिर जी सकते हो?'

विराट् और विशाल :

मैं समझता हूँ, किसी भी क्रान्तिकारी एवं विद्रोही की परिभाषा इस से अधिक सुन्दर नहीं हो सकती। जग में रह कर अपनों को प्यार

करनेवालों की कमी इस जग में कभी नहीं रही। पर निश्चय ही दूसरों को अपना मान कर प्यार करना आसान काम नहीं है। मैं समझता हूँ, जिन लोगों की दृष्टि केवल अपने तक ही अवरुद्ध रह जाती है, अपने मन की दीवार को पार कर के जिस की दृष्टि संपूर्ण समाज और संपूर्ण राष्ट्र में परिव्याप्त नहीं हो जाती है, वह व्यक्ति किसी भी प्रकार अपने मन की सीमाओंको विशाल नहीं बना सकता। अपने लोगो में प्रेम की भावना फैला कर जीनेवालों की तुलना पशु से ही की जा सकती है। परन्तु जिस ममता से हम अपनो को देखते हैं, उसी ममता से दूसरों को भी देख सकें, यही जीवन की सब से बडी साधना है–

'क्या अपने की परिभाषा में,
सीमित है परिवार तुम्हारा ?
क्या न सुनी यह मधुमय वाणी
है कुटुम्ब संसार तुम्हारा ॥'

कमल और पंक :

धर्म की अन्तरात्मा किसी भी पन्थ, सम्प्रदाय और वर्गविशेष के मन्दिर, मस्जिद और मठो में बन्द नहीं है। धर्म की अन्तरात्मा व्यक्ति के स्वच्छ, पावन एव उन्मुक्त जीवन में ही प्रगट होती है। मैं समझता हूँ, धर्म का अर्थ है– कीचड से कमल की ओर जाना। कीचड भी वहीं है, कमल भी वहीं है, पर दोनों में कितना भेद है। धर्म कमल है, पन्थ और सम्प्रदाय कीचड। धर्म को केवल मुख में ही मत रखो, उसे भी भोजन के समान पेट में जाने दो। उसे अपनी धमनियो के कण-कण में परिव्याप्त होने दो। याद रखो, रोटी के टुकडे को मुख में रखे रहने से पेट नहीं भरता है। आज के धर्म और पन्थों ने अन्तरात्मा के धर्म को अपनी वाणी तक ही सीमित रखा है। उसे अन्तर में उतारने

का कभी प्रयत्न नहीं किया जाता। यही कारण है कि आज तक के इतिहास में जडवादी लोग एव परम्परावादी लोग जडता और मूढता के कुहासे को ही धर्म मानते रहे हैं। उस के अन्दर में छुपे हुए धर्मरूपी सूर्य तक उन की पहुँच ही नहीं होती है। वर्षों से साधना करते रहने पर भी क्या कारण है कि हमारे अन्तर के जीवन के विकार और विकल्प वैसे के वैसे बने रहते हैं, नष्ट होने नहीं पाते।

विजय और सफलता :

श्रद्धेय पण्डितजी महाराज अपने जीवन में इसी आधार पर पन्थवादी और अन्ध-विश्वासी लोगो के तिरस्कार के भाजन बने रहें। क्यो कि उन्हों ने अपनी वाणी में उस स्वर को मुखरित किया था, जिसे लोग सुनने को तैयार नहीं थे। पन्थवादी भक्त अपने गुरु की उसी बात को स्वीकार करते है, जो उन के सर्वथा अनुकूल हो, प्रतिकूल बात को और अपने मन की कल्पित मिथ्या-धारणाओं के विपरीत वे किसी भी सत्य को और सत्यवादी को ठुकराने के लिए सदा तैयार बैठे रहते है। जिस विद्रोही में, क्रान्तिकारी मे और सुधारक में अपनी नैतिकता का मनोबल न हो, तो परम्परावादी लोगों के अन्ध-विश्वासों की आंधी और तूफान में वह जम कर खडा नहीं रह सकता। परन्तु पण्डितजी महाराज का जीवन इस का अपवाद था। जिस विद्रोह की चिनगारी को, जिस क्रान्ति की ज्वाला को विरासत के रूप में उन्हों ने प्राप्त किया था, उसे उन्हों ने जीवनभर प्रज्ज्वलित रखा। उसे न मन्द होने दिया और न बन्द। यही उन के विद्रोही रूप की मै सबसे महान् विजय मानता हूँ, यही उन के जीवन की सफलता है।

◎ ◎

विपादमय अतीत की और अन्धकारमय भविष्य की चिन्ता सहसा मनुज के मानस को व्याकुल कर देती है। यहाँ एक क्षण के वाद की वात भी अनिश्चित है। अपने दिल की प्यास लिए कितने प्रियजन चले गए। पर हाय री जीवन की तृष्णा, हम उसे संजोए अब भी बैठे हैं। संसार में कहीं इस दुनिया के लिए और कहीं उस दुनिया के लिए दौड़-धूप मची है। दार्शनिकों के समान वात भी करें, तो क्या लाभ? क्या दार्शनिकों का मुँह भी मौत ने वन्द नहीं कर दिया? विद्वानों की वात सुनना वेकार है, निश्चित केवल यह है कि जीवन वीता जा रहा है। जन्म के साथ ही मृत्यु का प्रारम्भ हो जाता है, और मृत्यु के साथ ही जन्म का प्रारम्भ भी।

काल और नियति :

फूल जो एक बार खिलता है, सदा के लिए मुरझा जाता है। जीवन भर मगज पच्ची कर के यही तो मनुष्य सीखता है कि वह कितना

अन्तिम विदा

श्री. कनकमल मुनोत, श्री. चन्द्रभान डाकलिया.
महाराष्ट्र के महसूल मन्त्री श्री. बालासाहब देसाई, श्री. मोतीलाल कांकरिया.
सघपति श्री. झुंबरलाल फर्नावट, आदि

असहाय है। न उस के हाथ में अपना जीवन है और न मरण। इस का रहस्य नहीं खुलता कि मनुष्य इस संसार में क्यों आता है, और क्यो यहाँ से चला जाता है। कर्म का चक्र और मनुष्य की मृत्यु— सदा एक अनबूझ पहेली रही है। काल और नियति अपना रहस्य कहाँ खोलते हैं? युग-युग से मनुष्य मरता आया है, आज भी मर रहा है, और भविष्य में भी मरता रहेगा। इस जग में हम नहीं रहे, तो हमारे साथी रहेंगे। हम रहते हैं, तो हमारे साथी चले जाते है— ससार का कभी न मिटनेवाला यह अभंग क्रम है— भले ही हमने समझा न हो। जानेवाला भले ही सुखी हो जाए, पीछे रहनेवालों के भाग्य में तो वेदना के स्वरों में विलाप के बेसुरे गीत ही बच रहते हैं। निश्चय ही जीवन भी एक रहस्य है, तो मृत्यु भी एक रहस्य है।

संयोग और वियोग :

कोयल के गीत और बुलबुल के तराने सदा किसने सुने हैं? संयोग का व्यय और वियोग का उत्पाद-दोनो एक क्षणभावी हैं। जिस क्षण में वियोग का उत्पाद होता है, उसी क्षण सयोग का व्यय भी निश्चित है। खेद इसी बात का है कि, इस सत्य को देख कर भी अन-देखा और सुन कर भी अन-सुना कर देने की हमारी आदत पड गई है। कवि दिनकर ने जीवन की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए, बहुत सुन्दर कहा है—

> 'फूलो पर आँसू के मोती,
> और अश्रु में आशा।
> मिट्टी के जीवन की छोटी,
> नपी-तुली परिभाषा॥'

क्षणध्वंसी संसार :

मिट्टी के जीवन का जन्म जिस धरती में से होता है, अन्त में उसी में समा कर, उसी में बिखर जाने को और मिट कर मिल जाने को मृत्यु कहा जाता है। जीवन में जन्म तो एक वार ही होता है और मृत्यु तो क्षण-क्षण में हो रही है। सरिता की जो धारा वह कर आगे बढ गई, वह फिर लौट कर क्या कभी अपने उद्गमस्थान पर अपने उसी रूप में आ सकती है? एक व्यक्ति नदी की एक ही जलधारा में दो वार डुवकी नहीं लगा सकता। इस क्षणध्वसी संसार में सभी कुछ क्षणवर्ती है—जन्म भी, जीवन भी और मरण भी। धन भी, जन भी और अपना तन भी। इस ममता भरी दुनिया में दुख 'इसी वात का है कि हम 'अपने प्रिय-जन के वियोग के आघात की चोट को वरदास्त नही कर पाते।

एक साल होता आया है, पर आज भी काल की इतनी दीर्घता पार कर के भी मैं अपने अभिन्न मानस साथी को—पण्डित श्रीमलजी महाराज को—कहाँ भूल पाया हूँ? और, जीवनसन्ध्या के अन्त क्षणों में भी भूल सकूँगा—इस प्रकार का विश्वास मै अपने में नहीं पा रहा हूँ। हर चीज में प्रेमी अपने प्रेमी की छवि का ही अवलोकन करता है। जो दिल में है, वही वाहर नजर आता है।

चेतना की कुण्ठा :

मेरा पीछला वर्षावास वम्बई के कान्दावाडी स्थानक में था। रात के लगभग आठ वजे होंगे। मैं धर्मप्रेमी कुछ सज्जनो के साथ धर्म की वार्ता में व्यस्त था। नीचे से एक भाई आया, वोला—पूना से कनक-मलजी मुनोत का फोन है—मेरी समग्र चेतना कुण्ठा में वदल गई, मैं कुछ मुश्किल के साथ वोल पाया—क्या हुआ? उस सज्जन का उत्तर

था– श्रीमलजी महाराज को नर्सिंग होम में रखा गया है– हालत बहुत गम्भीर है। मै कुछ विश्वास नहीं जमा सका। सोचा था मै ने कि शायद श्री सूरजमलजी महाराज के स्थान पर विस्मृति के साथ दूसरा नाम बोला गया है। क्यो कि श्रद्धेय सूरजमलजी महाराज की तबियत उन दिनो ठीक नहीं थी। परन्तु जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता था, उसी पर दोबारा फोन आने पर विश्वास करना पडा। शायद कुदरत हम को वही सुनाना चाहती है, जिस को सुनने के लिए हम तैयार न हो।

मै देख रहा था :

एक अक्टूबर से पाँच अक्टूबर का समय इन पॉच दिनो में, जो कुछ अनुभव किया, वैसा पहले इस जिन्दगी में कभी नहीं किया था। दिमाग में तूफान, दिल में परेशानी, और शरीर में शून्यता– तीनो ने मिल कर एक साथ ही मेरी चेतना पर आक्रमण कर दिया था। अपनी समग्र चेतना को समेट कर सँभलना चाहता था, पर सँभला नहीं जा सका। अशुभ की एक काली छवि-सी रात के झिल-मिल करते तारों में मै देख रहा था। हलचल भरे बम्बई के बाजार और गलियाँ शून्यवत् लगते थे। परन्तु यह शून्यता बाहर की नहीं, मेरे अन्दर की थी, और उसे मै बाहर देख रहा था।

मेरा तन बम्बई में ही था, पर मेरा मन अपनी समग्र चेतना के साथ पूना पहुँच चुका था। देखा, पण्डितजी के सभी प्रेमी गमगीन हैं, रंजीदा है– आंखें हैं, पर देख नहीं पाते। कान हैं, पर सुन नहीं पाते। पण्डितजी की सांसों के साथ सभी के प्राण चल रहे थे, वे उसी को देख रहे थे, वे उसी को सुन रहे थे। हर इन्सान के दिल की धडकन में एक ही शुभ कामना का मगलमय पाठ चल रहा था– किसी भी तरह पण्डितजी

स्वस्थ हो जाएँ! परन्तु पूछता हूँ मैं, कि यह अस्वस्थता हमारी थी, या उन की थी? हम बाहर में वही कुछ तो देखते है, जो हम अपने अन्दर में होते है। पण्डितजी महाराज की हर साँस में, मै अपनी चेतना के कानो से इस गीत को सुन रहा था—

'सन्देश यहाँ मैं नहीं,
स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही
स्वर्ग बनाने आया॥'

किस-किसको याद करें :

इस विराट् और विशाल विश्व में कौन किस का संस्मरण करता है? काल के महा सिन्धु में मनुष्य के जीवन-बिन्दु का मूल्य भी क्या है? अनुदिन संसार में हजारों, लाखो और करोडो मनुष्य जन्म धारण करते हैं और मरते रहते है। इन में से कितनो को हम याद रख पाते है? अनन्त काल के अनन्त जीवन-बिन्दुओ को याद रखना तो किसी प्रकार भी सम्भवित नहीं है। अपने वर्तमान जीवन के प्रिय स्नेही-साथियो को भी हम दो-चार मास में विस्मृति के गहन—गह्वर में डाल देते हैं। जिन माता-पिता की सुखद गोद में मनुष्य ने किलकारियाँ भरी, उन्हे भी वह भूल बैठता है। पति-पत्नी की सुख-दुख की कहानी, कहानी बन कर निःशेष बन जाती है। जिन प्यारे नन्हे-मुन्नो को मनुष्य ने अपने प्यार की दुलार भरी गोद में पाला-पोपा, उन के दारुण वियोग की कचोट को भी जीवन यात्रा की कुछ दूरी के बाद मनुष्य भूल जाता है। मतलब, मनुष्य अपनो को और स्वय अपने आप को रात-दिन भूलता ही चला आया है, और आज भी वह यही कर रहा है।

भूलना भी कठिन है :

फिर भी क्या कारण है कि कुछ व्यक्ति इन्सान के दिल और दिमाग पर इतनी गहनता और घनता के साथ अंकित हो जाते हैं कि उन्हे भूलना भी सम्भव नहीं रह पाता। ज्यो-ज्यो इन्सान उन्हे भुलाने की चेष्टा करता है, त्यों-त्यो वे और भी अधिक उभर-उभर कर उस की चेतना पर छा जाते हैं। अपने स्वभाव के कारण मनुष्य उन्हें भी भूलना तो चाहता है, किन्तु फिर भी भूल नहीं पाता।

जीवन और मिलन :

मेरे अभिन्न हृदय पण्डितजी महाराज भी उन व्यक्तियो में से एक थे। उन को जितना भूलने का प्रयत्न किया जाता है, उन के जीवन की मधुर-स्मृति उभर-उभर के चेतना पर छा जाती है। आज भी मैं देखता हूँ, जब कभी उन के प्रेममय जीवन का स्मरण-प्रसंग उपस्थित होता है, तब उन के प्रिय स्नेही जनों की ऑखो की पलकें भीगी बन जाती हैं। हृदय पर जमी वेदना ऑखो के द्वार से अश्रुमाला के मोतियो को बिखेरने लगती हैं। परन्तु शायद हम यह भूल जाते हैं—

> 'जीवन की लम्बी यात्रा में
> खोए भी हैं, मिल जाते।
>
> जीवन है, तो कभी मिलन है,
> कट जाती दुख की राते॥'

अजीब तूफान था :

पॉच अक्टूबर को नर्सिंग होम से पण्डितजी को गम्भीर स्थिति में वापिस लाया गया। लानेवाले लोगो के दिल की हर धड़कन में अशुभ

लडखडाते चलते हुए– नर और नारी, बाल और वृद्ध, तथा युवक और युवती-जन सब के अवरुद्ध कण्ठो से एक साथ यही स्वर निकल रहा था–

'जीवन के उपवन में आए,
आ कर, फिर क्यों लौट चले ?
मधुर प्रेम की वीण बजा कर
अब अपना मुख मोड चले ॥'

तीव्रतम आर्तनाद :

प्रश्न, प्रश्न ही रह गया। समाधान कुछ भी नहीं। जो सुननेवाला था, वह दूर जा चुका था– इतनी दूर कि शायद हजारो-हजार कण्ठों का तीव्रतम आर्तनाद भी वहाँ पहुँच नहीं पाता था।

शिव तो जा चुका था, और शव में न देखने की शक्ति थी और न सुनने की। उत्तर पाने वाले आज भी हैं, उत्तर देनेवाला आज नहीं था। जो कभी हम में से ही एक था, हमारा साथी था– सुख में भी और दुख में भी, पर आज वह हमारे मध्य में से चला गया था। पर, खेद तो इस बात का है कि उस के जाने का विश्वास आज भी नहीं हो पा रहा है– जैसे आज भी वह हमारे दिल की हर धडकन में मुस्करा कर बोल रहा हो।

मंगलमय हो पन्थ :

पूना नगर की मूठा नदी के तट पर आज शान्त तूफान उमड रहा था। हर एक के दिल की वेदना पानी बन कर आँखों से टपक-टपक कर पड रही थी। अपने नेता, अपने गुरु के और अपने साथी के पार्थिव शरीर को अन्तिम रूप में जी भर कर देखने को सभी व्याकुल थे, सभी
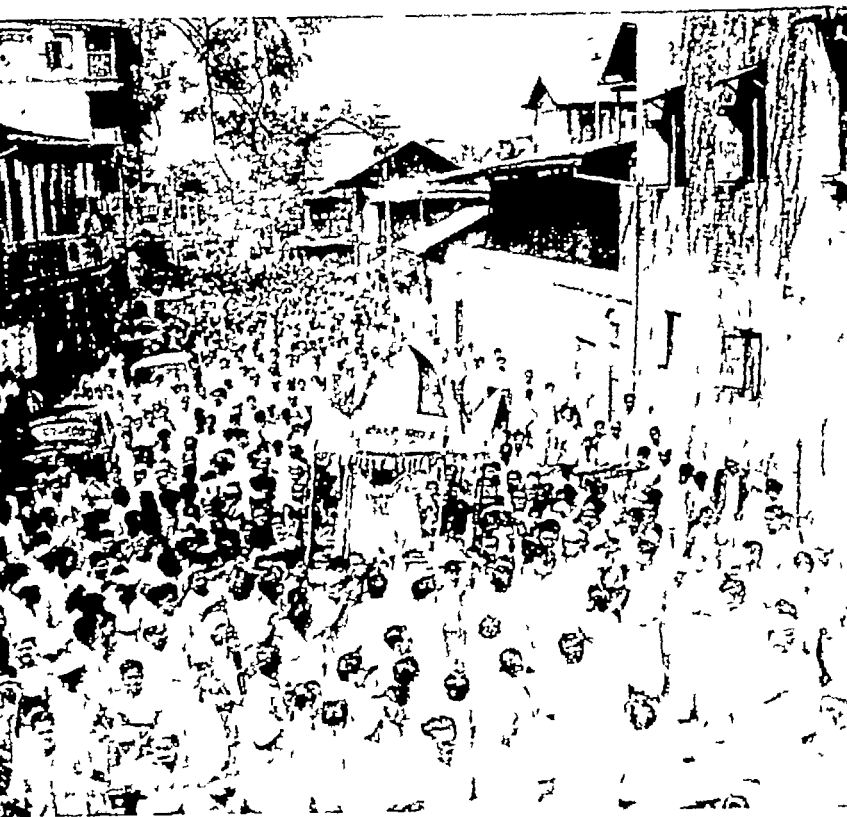
चलो जग के कोलाहल से दूर

प्यासे थे। देखते ही देखते चन्दन की लकड़ियों ने आग पकड़ी। ज्वालाएँ उठ-उठ कर अनन्त गगन को छूने को व्यग्र थीं। जो पार्थिव रूप कुछ सान्त्वना दे रहा था, वह भी अब विलुप्त होता जा रहा था। हजारों-हजार कण्ठों से वेदना के साथ अपने प्रिय पण्डितजी की अन्तिम विदा में स्वर निकल रहा था—

'जाते हो, तो जाओ प्रियवर!
मंगलमय हो पन्थ तुम्हारा।

कौन जानता फिर कब होगा,
मधुर-प्रेम का मिलन हमारा॥'

◎ ◎

न मुझ को विद्वानों से काम,
व्यर्थ सब जिन के वाद-विवाद,
न जग के झगडों की परवाह,
निरर्थक जिन की रखना याद।

चलो जग-कोलाहल से दूर
करें हम-तुम एकान्त निवास,

उडाएँ हम भी उन पर धूल,
हमारा जो करते उपहास।

—उमर खैयाम

लो

क

वातायन

अपनी कारा में बन्द होकर,

मानव सुख से जी न सकेगा।

जितना फैलेगा जन-जन में,

उतना ही वह विराट् बनेगा॥

अपने हित की चिन्ता में तो,

कूकर-शूकर भी रहता है।

सहयोगी बन जी न सके तो,

मानव की क्या मानवता है॥

पं. मुनि श्री श्रीमलजी महाराज

१. श्रमण-संघ के भूषण : पण्डितजी

पण्डित श्रीमलजी महाराज का जीवन भारतीय स्थानकवासी समाज के लिए उद्यान में लहलहाते हुए कुसुम के समान था, जो समय की वायु के झकोरों से गिरकर अपनी शारीरिक लीला तो समाप्त कर लेता है, परन्तु उसकी सुगन्धि तो अमर होती है, जो चिरकाल तक प्रेमियों के मस्तिष्क को परिप्लावित करती रहती है। हम जिन महाराज श्रीमलजी की स्मृति में कुछ लिखने चले हैं, उन का शरीर विशाल, दरमियाना कद और चौडा वक्षस्थल था।

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ के शासन में एक महान् सन्त के रूप में उन्हों ने अपना जीवन आरम्भ किया और जैन समाज को अपनी अद्भुत प्रतिभा से ऐसे लाभान्वित किया, जो जैन-समाज के लिए गौरव का विषय बना रहेगा और हम कभी उन्हें विस्मृत नहीं कर सकेंगे। समाज की सेवा और संयम की पालना करते हुए उन के पास एक आध्यात्मिक दृष्टि थी, जिस से वह समयानुसार समाज को आनेवाली विघटन की हवाओं से सुरक्षित रखने का निरन्तर प्रयास करते रहते थे।

जब हम कभी भूतकाल की ओर दृष्टिपात कर के देखते हैं, तो ऐसा आभास होता है कि विशाल शरीर और महान् आध्यात्मिक दृष्टि के साथ उन्हें हृदय भी दार्शनिक प्राप्त हुआ था। उनके मन में एक दार्शनिक की सरलता ऐसे समाई हुई थी कि वे प्रत्येक समस्या पर, उसके सामूहिक पक्षों पर विचार कर के ही निर्णय देते थे। उससे उन के प्रतिद्वन्द्वी भी उन की सराहना किए बिना नहीं रहते थे।

उन के पास महान् पाण्डित्य और अद्भुत लेखन शक्ति थी। जिस समय मंच पर विराजमान हो कर अपने श्रद्धालुओं के सामने वे कुछ कहना आरम्भ करते थे, तो उन का तर्क-वितर्क अकाट्य और सप्रमाण होता था। उन की लेखनी में से अनुस्यूत हो कर विचार शृंखला इस प्रकार निकलती थी कि वह

आज भी सामाजिक साहित्य श्रेणी में अपना निजी स्थान रखती है। यद्यपि उन्हों ने बहुत नहीं लिखा, परन्तु जितना लिखा वह अपना सानी नहीं रखता।

वे एक साधक, तपस्वी और त्यागी सन्त थे। शरीर पर सादे दो वस्त्र और ओघा ही गर्मी और सर्दी में उन्हें अधिक रुचता था। साधना और तपस्या के मार्ग पर चलते हुए भी उन्हें भारत की निर्धन ग्रामीण जनता से पर्याप्त सहानुभूति थी और हर समय एक लोकनायक की भाँति वह भोली-भाली जनता के लिए व्यथित रहते थे। जहाँ तक उन के त्याग का प्रश्न है, प्रत्येक जैन सन्त और श्रावक जानता है कि कभी भी उन्हों ने संघ में किसी पदवी के लिए लालसा व्यक्त नहीं की और न ही कभी संघ की ओर से विवश करने पर पदवी को स्वीकार किया और कभी भी शिष्य नहीं बनाऊँगा ऐसी भीष्म-प्रतिज्ञा की। इस क्षेत्र मे उन का हर समय यही विनम्र पक्ष होता था कि मै संघ का कार्य सेवक के रूप में करना चाहता हूँ और करता रहूँगा।

वे लोकप्रिय सन्त थे। वे जैन-धर्म का प्रचार करने और धर्म में जागृति लाने के लिए जीवन के अन्तिम क्षणों मे भी प्रयत्नशील रहे। समग्र राजस्थान और महाराष्ट्र मे अपनी प्रभावशाली वाणी और तपस्या से उन्हों ने अपना ऐसा स्थान बनाया था कि चिरकाल तक उस क्षेत्र में किए गये प्रयत्नों को हम कभी भूला नहीं सकेंगे।

जिस समय मैं अहमदनगर में था, तो उस समय उन के साथ एक कल्प व्यतीत करने का अवसर मिला। मैं ने देखा कि उन्हों ने उस समय वहाँ के समाज को स्वावलम्बी बनाने के लिए अपनी अद्भुत वक्तृत्व शक्ति का जो परिचय दिया, उस के लिए वहाँ का जैन समाज सर्वदा के लिए उन का ऋणी रहेगा। इस प्रकार हम ने वहाँ के समाज में एक नई दिशा का निर्माण करने के लिए, जो कार्य आरम्भ किया था, उस मे उन्हों ने पूर्ण सहयोग दिया था।

मैं एक बार पूना में था, उस समय पूना श्री-संघ विघटन के रोग से ग्रस्त था। मै ने श्री-संघ को एकसूत्रता में पिरोने का कार्य आरम्भ किया, तो सौभाग्यवश श्रीमलजी भी वहाँ विराजते थे। उन्हों ने सब को एक करने के लिए मुझे पूर्ण सहयोग दिया। मै समझता हूँ कि वह सारा कार्य उन की अद्भुत प्रतिभा और सूझ शक्ति से ही सम्पन्न हो सका था।

मुझे अच्छी प्रकार से स्मरण है कि एक बार घोडनदी (पूना) में वे हमारे साथ विराजमान थे, वहाँ उस वर्ष पूज्यपाद तिलोकऋषिजी महाराज की दीक्षा शताब्दी उत्सव मनाया जा रहा था। उस समय वहाँ श्री तिलोक-जैन पारमार्थिक-संस्था का जन्म हुआ। इस संस्था के निर्माण में उन्हों ने हमारा पूर्ण सहयोग दिया, जो उन के देवलोक गमन के पश्चात् भी हम विस्मृत नहीं कर सकते। क्यों कि वह संस्था आज भी आश्रयहीनों के लिए अमूल्य ओषध, वस्त्र और भोजन का प्रबन्ध करती है और निर्धन छात्रों के लिए फीस, पुस्तकें और आर्थिक सहायता देती है। जिस समय पूना में बाढ आई थी, तो उस समय भी इस संस्था ने कई ध्वस्त हुए परिवारों को ऋण रूप में हजारों रुपए दिया था। वास्तव में, इस संस्था का जो बीजारोपण मैं ने किया था, उसे सिंचित करके पुष्पित और पल्लवित करने में उन्हों ने मुझे पूर्ण सहयोग दिया।

सन्त जीवन मे पर्यटन का अच्छा महत्त्व है। इस लिए प्रत्येक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखनेवाला सन्त भ्रमण करना पसन्द करता है। परन्तु जब संसार पक्ष की आप की माता महासती सूरजकुंवरजी और मुनि चुन्नीलालजी महाराज पूना मे अस्वस्थ थे, तो वयोवृद्ध श्रीसूरजमलजी महाराज तथा अन्य वरिष्ठ सन्तों के कहने पर पूना में ही पर्याप्त समय तक उन की सेवा मे रहना स्वीकार किया और उनकी सेवा का लाभ प्राप्त किया। इस से महासती सूरजकुंवरजी और वयोवृद्ध मुनि सूरजमलजी महाराज की आत्मा को अतीव सन्तोष प्राप्त हुआ।

यद्यपि श्रमण संघ बनने से पूर्व उन की साम्प्रदायिक स्थिति हमारे से भिन्न थी, परन्तु जब भी वे मेरे से मिलते थे, तो उन में आश्चर्यकारी सेवाभाव और वात्सल्य भाव ही रहता था, जिस से हर समय हृदय के कोमल स्थल पर उन का स्थान अक्षुण्ण बना रहता है। इस प्रकार उनका वात्सल्य भाव मेरे साथ अन्त तक बना रहा। मैं ने पंजाब विचरण करते हुए जब कुछ वर्ष व्यतीत किए, तो थोडी देर के पश्चात् ही उन के प्रेमपूर्ण पत्र आने लग गये थे, जिन में एक ही आग्रह रहता था कि आप महाराष्ट्र को कब तक सूना रखेंगे।

इस प्रकार सब मिला कर उन का जीवन और व्यक्तित्व प्रभावशाली था। साधना के विकट पथ पर चलते हुए कभी उन के मन मे गम नहीं आया। विकट ने

विकट परिस्थिति का भी उन्हों ने अडिग रह कर सामना किया। प्रतिकूल वायुमंडल को उन्हों ने अपने शान्त स्वभाव से अनुकूल बनाया और इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए अपनी इह लीला को समाप्त किया—

"सन्त कहावन कठिन है, ऊँचा पेड खजूर ।
चढे तो चाखे प्रेम रस, गिरे तो चकनाचूर ॥"

—आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी

२. महान् व्यक्तित्व, कभी मरता नहीं

जीवन की यह एक विडम्बना है कि जो काम हम नहीं करना चाहते, जिन प्रसंगों को हम सुनना नहीं चाहते, वे काम हमें करने पडते हैं, उन प्रसगों के बीच से हमे गुजरना होता है। अनचाहे भी उन स्थितियों में अपनी भूमिका बनानी पडती है। जो काम छोटों के लिए बडों को छोड जाना चाहिए, वह काम बडों को करना पडता है। छोटे चले जाते हैं, बडे उन की स्मृति करने रह जाते हैं—जीवन की यह एक भारी विडम्बना है।

पण्डित सिरेमलजी महाराज—जिन्हे मैंने जीवन मे कभी महाराज नहीं कहा, आत्मीय स्नेह स्निग्ध 'पण्डितजी' सम्बोधन ही उनके लिए अधिकतर प्रयोग हुआ। मैं आज उनकी स्मृति-सभा में बोल रहा हूँ। मेरे समक्ष उनकी स्मृति-सभा मनाई जा रही है— यह अनुभूति ही मेरे हृदय को द्रवित कर रही है। उनकी मधुर स्मृतियों से मन और मस्तिष्क भर रहा है, और ऐसा भर रहा है, कि— बस्, उनकी स्मृति की गहराई में मौन-मुद्रा लिए डूब जाऊं, कुछ न बोलूँ। अपने भीतर के सागर मे ही गहरा उतरता चला जाऊँ। पर स्थिति यह है कि कुछ बोलना है, प्रस्तुत संदर्भ मे अपने को अल्प ही सही, कुछ बोलना है।

साधु के जीवन मे जो सामान्य रूप से त्याग, व्रत एव मर्यादाएँ है, वे लगभग समान हैं। उनके लिए कोई अलग-अलग गज नहीं है। व्रत की दृष्टि से किसी

साधु को छोटा-बडा नहीं कहा जा सकता। व्रत का गज सब के लिए लगभग समान है। किन्तु व्यक्तित्व को नापने के लिए सिर्फ व्रत-नियम ही कोई 'गज' या पैमाना नहीं हुआ करते। व्यक्तित्व के घटक कुछ विशिष्ट तत्त्व भी होते हैं, उन तत्त्वों का विश्लेषण ही उस व्यक्तित्त्व का अपना पैमाना बनता है।

तात्त्विक और सात्त्विक :

भगवान् महावीर ने एक बार साधक के आन्तरिक जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा था-" सच्चे साधक का जीवन जैसा भीतर में होता है, वैसा ही बाहर होता है और जैसा बाहर में होता है, वैसा ही भीतर।

" जहा अंतो, तहा बाहिं
जहा बाहिं, तहा अंतो।"

साधक का जीवन एक अखण्ड जीवन होता है। वह एक सपूर्ण इकाई (युनिट) होती है। भगवान् महावीर के उस जीवन दर्शन के अनुसार पण्डित सिरेमलजी महाराज का जीवन एक सच्चे साधक का जीवन था। वे कभी खण्ड-खण्ड हो कर नहीं जीए। उन के जीवन में सतत ध्वनित होनेवाली संगीत की सी एक लय थी, एक रस और एक तान। उनके जीवन मे दिखावट, बनावट या सजावट जैसी कोई चीज मैं ने कभी नहीं देखी।

सामाजिक मंचपर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बनावट या सजावट एक आम चीज हो रही है। समाज का छोटा या बडा हर व्यक्ति एक नट-अभिनेता की भूमिका अदा कर रहा है। सस्ती प्रतिष्ठा और वाहवाही प्राप्त करने के लिए तिकडम भिडाई जा रही है। जोड-तोड, हेरा-फेरी और न जाने क्या-क्या हथकंडे किए जाते हैं — नेतागिरी के लिए, प्रतिष्ठा और ख्याति के लिए। पण्डित सिरेमलजी महाराज को मैं ने बहुत निकट से देखा, और कुछ मौकों पर तो बहुत गहराई एवं बारीकी से भी देखा— उनके जीवन में आज का यह दोष, बनावट और दिखावट नहीं थी। सही माने में, उन का जीवन एक सरल, निश्छल बालक का-सा जीवन था। वस्तुतः एक सच्चे साधक की भूमिका उन ने थी और उन के जीवन की इसी भूमिका ने मुझे सब से अधिक प्रभावित किया।

मेरी मानसिक रुझान कुछ ऐसी है कि मैं ऐसे व्यक्तियों के बहुत निकट हो जाता हूँ– जो स्वयं में स्पष्ट और सरल होते हैं। मैं तात्त्विक व्यक्तियों का आदर करता हूँ, किंतु इन से भी अधिक सात्त्विक व्यक्तियों को स्नेह-श्रद्धा पूर्वक देखता हूँ। पण्डित सिरेमलजी महाराज तात्त्विक तो थे ही, किन्तु उनकी सात्त्विकता ने तो मेरा हृदय जीत लिया।

गुरु की आत्मा, शिष्य में :

पण्डित सिरेमलजी महाराज से मेरा प्रथम परिचय जयपुर में उन दिनों हुआ, जब हम सादड़ी साधु-सम्मेलन की पूर्व भूमिका तैयार कर रहे थे। मैं ने भी उन के सम्बन्ध में काफी सुना था और उन्हों ने भी कुछ मेरे सम्बन्ध में सुन रखा था। गंगा-यमुना का वह प्रथम-मिलन जयपुर में विनयचन्द् भाई के बंगले पर हुआ। मैं अस्वस्थता के कारण उन दिनों उन के भक्ति-भावना भरित आग्रह पर बंगले पर एकान्त वास कर रहा था।

जैनाचार्य जवाहरलालजी महाराज–जिन्हें मैं उस युग का ज्योतिर्धर आचार्य मानता हूँ। उन की कृपा मुझे बहुत पहले प्राप्त हुई थी। मेरी आयु तब छोटी थी, मैं ने उन की दिव्य छवि देखी थी, उन का स्नेह भी पाया था। मेरी कुछ छोटी-मोटी कविताएँ कभी-कभी वे व्याख्यान में सुना दिया करते थे। उन का कुछ ऐसा स्नेह और सौजन्य मुझे मिला था कि मैं उसे कभी भूल नहीं सकता, स्मृति से ओझल कर नहीं सकता। उन की वह मोहक छवि, उन के विराट् व्यक्तित्व की वह पूरी कल्पना मेरे मानस में थी। जब सिरेमलजी महाराज को मैं ने देखा, तो ऐसा लगा कि उस महान् गुरु की आत्मा इस शिष्य में प्रतिबिम्बित हो गई है। उन की आत्मा की दिव्य छवि सिरेमलजी महाराज में झलकती हुई-सी लगी। वास्तव में शिष्य वही है, जिस में गुरु की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। सिर्फ चोटी उखाड़ने मात्र से कोई शिष्य नहीं हो जाता, सच्चा शिष्य वह है, जिस में गुरु का ज्ञान, गुरु की छवि उतर गई हो। मैं ने प्रथम परिचय में ही देखा, सिरेमलजी महाराज जवाहराचार्य के सच्चे और योग्य शिष्य हैं।

भगवान् महावीर ने स्थानाङ्ग सूत्र में चार प्रकार के परिचय (मुलाकात) बताए हैं। कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु उन का सहवास

अच्छा नहीं होता। कुछ का सहवास तो अच्छा होता है, किन्तु पहली मुलाकात अच्छी नहीं रहती। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन की मुलाकात भी अच्छी होती है, पहला परिचय बड़ा मधुर और रोचक होता है, और सहवास भी वैसा ही मधुर और रुचिकर बना रहता है। आगम की भाषा में वह व्यक्तित्व- "आवायभद्दए वि संवासभद्दए वि-" आपाद भद्र भी और संवास भद्र भी कहा जाता है।

पण्डित सिरेमलजी महाराज वस्तुतः इसी तीसरी कोटि में आते थे। उन का परिचय लगातार मधुर एवं मधुरतर होता गया, कभी फीका नहीं पडा। जीवन वह और मिलन वह, जो कभी बासी न पडे। सतत तरोताजा ही रहता चला जाए।

जब जयपुर में सिरेमलजी महाराज से मेरी पहली मुलाकात हुई, तो ऐसा लगा कि हम वर्षों से परिचित रहे हों, ऐसे कि जैसे दो बिछुडे हुए साथी हों, और वे अचानक किसी संयोग पर मिल गए हों। जैन दर्शन कहता है कि ऐसी स्नेहानुराग की स्थिति इसी जन्म की नहीं, कभी-कभी जन्म-जन्मान्तर से भी चली आती है। कुछ ऐसी ही बात थी कि पहले परिचय में ही उन का भौतिक परिचय ही नहीं मिला, बल्कि उन के हृदय का अन्तरंग परिचय भी मुझे मिल गया।

नींव की ईंट :

जयपुर में जब हम मिले तो सादडी सम्मेलन की चर्चाएँ चल रही थीं। योजनाएँ बन रही थीं, कुछ इधर कुछ उधर। साधु समाज संक्रान्ति काल में से गुजर रहा था। कहीं संगठन की आवाज उठ रही थी, तो कहीं विघटन की क्रियाएँ भी चल रही थीं। श्रमण-संघ के निर्माण की स्थिति स्पष्ट नहीं हो रही थी, कोई एक चित्र सामने नहीं बन रहा था, सिर्फ रेखाएँ बन रही थीं और मिट रही थीं। स्वर्गीय विनयचन्द दुर्लभजी भाई की संगठन के प्रति सहज-निष्ठा और भावना की कडियों ने हमें उन के बंगले पर ही कुछ दिन रोके रखा और वहाँ पर हम दोनों के मध्य मुक्त-भाव से श्रमण-संगठन की जो लम्बी विचार-चर्चा चली, तो लगा कि सिरेमलजी महाराज का हृदय बहुत विशाल है, उन का

चिन्तन स्पष्ट और सुलझा हुआ है। वे स्थितियों से अडते नहीं थे, किन्तु समाधान का रास्ता खोजते थे। संगठन के महनीय कार्य में वे मेरे अभिन्न सहयोगी बने, वे अपने केत्र एवं परिधि में उलझी स्थितियों को बहुत ठीक ढंग से सुलझाते गए और रास्ता साफ होता गया। श्रमण-संघ के नवगठन में उन का जो सहयोग रहा, वह पूरे स्थानकवासी समाज के लिए आज ही नहीं, बल्कि आनेवाली पीढियों के लिए भी मार्ग-दर्शक बना रहेगा।

महल का निर्माण तब होता है जब कुछ ईंटें होती हैं, जो नींव में छुप जाती हैं। और कुछ कलश होते हैं, जो उस के ऊपर में दण्डायमान हो कर दूर-दूर तक चमक जाते हैं। नींव की ईंटे महत्त्व का आधार हुआ करती हैं। वे अंधेरे में रह कर भी महल की स्थिति को सुदढ बनाए रखती हैं। सिरेमलजी महाराज ऐसे ही नींव की ईंट थे। जब तक संगठन का काम होता रहा, वे हमारे साथ उस मे आमूलचूल संलग्न रहे और जब कार्य सम्पन्न हुआ एवं पदवियों का बँटवारा होने लगा, तो वे हमारे साथ से पीछे हट गए। सादडी सम्मेलन में कुछ व्यक्तित्व ऐसे रहे हैं कि जिन्हों ने निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु पद्वी लेने के समय पीछे हट गए। उन मे सौभाग्यमलजी महाराज, मदनलालजी महाराज, सिरेमलजी महाराज प्रमुख थे। और मुझे भी उन के साथ एक कोने में जोड सकते हैं। पण्डित सिरेमलजी यश और पद की कामना से दूर रह कर काम करनेवाले व्यक्तियों मे से थे।

मन भी मधुर, वचन भी मधुर:

मैं ने कई प्रसगों पर यह अनुभव किया कि कभी-कभी व्यक्ति में अपने ज्ञान, खानदान और प्रतिष्ठा का अहंकार जग जाता है। किन्तु मैं ने देखा सिरेमलजी महाराज में अहकार का कोई रूप कभी नहीं झलका। बीकानेर, भीनासर सम्मेलन से हम कुचेरा चातुर्मास के लिए गए। पण्डितजी भी साथ रहे थे। मैं उन दिनों अस्वस्थ था, और उन्हों ने जो मेरी सेवा की वह देखकर मैं गद्गद हो गया। एक शिष्य भी गुरु की क्या सेवा कर सकता है, जो सेवा उन्हों ने मेरी की। कभी उन के मन में किसी प्रकार का गर्व नहीं जगा। न पांडित्य का गर्व, न व्यक्तित्व का– जो कि एक प्रसिद्ध जैनाचार्य के योग्य शिष्य होने के नाते जग

जाना स्वाभाविक था। पर नहीं। उन के मन में, वचन मे कभी अहंकार की कोई सलवट नहीं देखी।

उन का मन जितना मधुर था, उतना ही मधुर वचन भी था। सादड़ी सम्मेलन की समाप्ति होते-होते मैं रुग्ण हो गया था, ज्वर ने आ घेरा और सब मुनि चले गए थे, पण्डित सिरेमलजी और श्री मदनलालजी महाराज मेरे पास रुके रहे। स्वस्थ होने पर जब पण्डितजी उपाचार्यजी की सेवा में उदयपुर जा रहे थे, तो हम उन्हें विदाई देने राणकपुर के प्रसिद्ध जैन-मदिर तक पहुचाने गए थे। एक रात्रि का वहीं विश्राम रहा। संध्या का समय, एक वृक्ष के नीचे आसन जमा कर बैठ गए। शीतल रात, चादनी छितरी हुई, इधर-उधर ऊंची-ऊंची लम्बी पहाड़ियाँ, जगल का शान्त नीरव वायुमंडल। उस समय पण्डित सिरेमलजी महाराज ने आनन्द-घन के आध्यात्मिक पदों की स्वर लहरियाँ छेड़ीं, तो जैसे वातावरण आनन्द के माधुर्य से छलछला उठा। तब मैं ने देखा कि उन का मन जितना मधुर है, वचन भी उतना ही मधुर है। बाहर-भीतर उन का जीवन मधुर है, मधुमय है।

कठोर परीक्षा के समय :

जीवन में कभी-कभी कठोर परीक्षा के क्षण आते हैं, जिन में व्यक्तित्व की अग्नि परीक्षा होती है। और सच तो यह है कि ये ही वे कुछ क्षण होते हैं, जिन मे व्यक्तित्व का वास्तविक रूप निखरता है। व्यक्ति की आन्तरिक निष्ठा का मूल्याङ्कन होता है, और आस्था की गहराई का पता चलता है। पूज्य गणेशीलालजी महाराज जब श्रमण-संघ से अलग हुए तो संगठन को एक झटका-सा लगा, कुछ कड़ियाँ विघटित-सी होती प्रतीत हुई, उस समय सिरेमलजी महाराज ने जिस अडिग आस्था और निष्ठा का परिचय दिया, वह एक बहुत मूल्यवान चीज थी।

मैं सोचता हूँ, धन-संपत्ति, घर एवं परिवार का त्याग उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है सम्प्रदाय का मोह, पूर्वाग्रह और साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा का त्याग। सिरेमलजी महाराज के लिए वे क्षण बहुत निर्णायक थे और बहुत कठिन थे। परम्परागत सम्प्रदाय के मोह को छोड़ें या उस नव-सगठन को, जिस के लिए हम

इतना कठोर परिश्रम करते थे। उन के समक्ष प्रलोभन और आकर्षण भी कम नहीं आए, पर उन घड़ियों में जो निर्णय उन्हों ने किया वह बहुत ही साहस पूर्ण सही निर्णय था। वे डगमगा देनेवाली स्थितियों में भी डगमगाए नहीं, उस आकस्मिक झंझावात में भटके नहीं, बल्कि सही दिशा मे बढ़ते गए।

कुछ समय से वे महाराष्ट्र में ही विचर रहे थे। पूना क्षेत्र मे उन का बहुत गहरा प्रभाव था। पिछले दिनों उन का स्वास्थ्य भी गड़बड़ा रहा था। पर ऐसा तो कुछ नहीं लग रहा था कि अचानक ही इतना जल्दी एक ऐसा व्यक्तित्व हमारे बीच से उठ जाएगा, जिस की वर्तमान परिस्थितियों मे अत्यधिक आवश्यकता थी। उन के स्वर्गवास के समाचार मुझे जब मिले, तो मैं सहसा हतप्रभ सा रह गया। ऐसा लगा कि कुछ खो गया है। मस्तिष्क मे एक शून्यता-सी छा गई। यह तो ठीक है कि जो आता है, वह जाता भी है। साधुओं के लिए शोक जैसी कोई बात नहीं होती, किन्तु आखिर तो मानव का मन है। जिन के जीवन के साथ हमारा कुछ विशेष सम्पर्क रहा है, जिन के स्नेह और सौजन्य से हमारा मन भरा-भरा रहा है, उन के अचानक यों चले जाने से रिक्तता अनुभव होनी भी सहज है। महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य मे व्यास के द्वारा यही बात कहलाते हुए कहा है—

"भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।"

जो भले आदमी हमारे बीच रहे हैं, उन के प्रति एक सात्त्विक पक्षपात अर्थात् अनुराग का होना सर्वथा सहज है। उन के सहसा यों बिछुड़ जाने से मन को आघात लगता है, कष्ट और दुःख होता है। ऐसे समय में मुझे महामंत्री वस्तुपाल की वह काव्यात्मक उक्ति बरबस याद आ जाती है, जो सम्राट् वीरधवल के निधन पर उन के द्रवीभूत हृदय से निकल पड़ी थी—

"आयान्ति यान्ति च परे ऋतवः क्रमेण
संजातमत्र ऋतुयुग्ममगत्वर तु।
धीरेण वीरधवलेन विना नितान्तं
वर्षा-विलोचन-युगे, हृदये निदाघः॥"

"प्रकृति जगत् में ऋतुएँ आती हैं, और चली जाती हैं। पहले की एक ऋतु जाती है तभी दूसरी आती है, ऐसा कभी नहीं होता कि एक साथ दो ऋतुएँ आ जाए और आने के बाद फिर कभी जाएँ नहीं। किन्तु वीर वीरधवल के निधन पर तो हमारी स्थिति ऐसी हो गई है कि एक साथ दो ऋतुएँ आ गई हैं- आँखों मे वर्षा ऋतु छाई हुई है, तो हृदय में ग्रीष्म-अर्थात् आँखे बरस रहीं हैं और हृदय धधक रहा है। और अब ये ऋतु जाने का नाम नहीं ले रही हैं।

मुनि सिरेमलजी महाराज के स्वर्गवास का समाचार सुना तो सहसा इस श्लोक की टूटी हुई कड़ियाँ स्मृति मे जुड़कर उभर आईं।

व्यक्तित्व मरता नहीं :

मृत्यु आती है, व्यक्ति को मार जाती है। पर क्या मृत्यु के साथ ही आदमी मर जाता है? व्यक्ति मर जाता है, व्यक्तित्व नहीं मरता। महाकाल ने उन के भौतिक शरीर को हमारे बीच से उठा लिया है, पर मैं सोचता हूँ, सिरेमलजी महाराज मरे नहीं। उन का गुण-शरीर, कर्तृत्व-देह आज भी हमारे समक्ष विद्यमान हैं और मैं समझता हूँ आप, हम उस को कभी मरने नहीं देंगे।

उन्हों ने अपने जीवन में कोई शिष्य नहीं किया। ऐसा तो नहीं था कि शिष्य मिला नहीं। कभी उन से बात चलती कि आपने शिष्य नहीं बनाया? तो हँसकर कहते-"अभी तो हम ही स्वयं शिष्य हैं। गुरुत्व कहाँ है, अपने मे? फिर भला शिष्य कैसे अपना बनाएँ?"

मेरे विचार मे यह उन की बहुत ऊँची निस्पृहता थी। यद्यपि उन के "चोटी उपाड" शिष्य भले ही न हों, पर उन के भाव-शिष्य अनेक विद्यमान हैं। कई प्रतिभाशाली उदीयमान मुनि उन के 'भाव-शिष्य' के रूप मे उन की कीर्ति के प्रतीक हैं।

वास्तव मे बात तो यही ठीक है कि केवल चोटी उपाड वैधानिक शिष्यों से गुरु का कोई महत्त्व नहीं। शिष्य तो भावात्मक ही होना चाहिए। जिस प्रकार पिता के वैधानिक पुत्र तो अनेक होते हैं, पर यदि वे भावात्मक पुत्र नहीं हुए, तो उस के पिता होने का क्या खाक गौरव होगा? वैधानिक पुत्र तो गधों, घोड़ों

के भी होते हैं, कूकर, शूकरों के भी होते हैं। पर उन में भावात्मक सम्बन्ध कहाँ है। शिष्य भी सिर्फ वैधानिक ही हो, तो गुरु को गुरुता की अनुभूति नहीं होती, जब उन में गुरु का भावात्मक प्रतिबिम्ब झलकेगा तभी गुरु के लिए शिष्य होने की कुछ सार्थकता है। इस माने मे मैं मानता हूँ कि पण्डित सिरेमलजी महाराज अपने पीछे अनेक भावात्मक शिष्य छोडकर गए हैं।

उन के भाव शिष्यों का, उन के स्नेही और श्रद्धालुओं का—और हम सब का यह कर्तव्य है कि हम उन के अधूरे कार्यों को पूरा करने का सकल्प करें। अपने पीछे उन्हों ने जो प्रेरणाएँ छोडी हैं, कर्तृत्व का बोध छोडा है, आप और हम उस को भूले नहीं, बल्कि उसे और अधिक तेजस्वी और उजागर बनाने का प्रयत्न करें— यही उनकी स्मृति की सच्ची फलश्रुति होगी।

—उपाध्याय अमर मुनि

३. सर्वतोमुखी व्यक्तित्व

परम श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज से मेरा परिचय वैराग्य अवस्था से ही रहा है। सन् १९४३ मे भीनासर में सर्व-प्रथम आपके दर्शनों एव बातचीत करने का सुअवसर मिला, उसके पश्चात् परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के साथ स्थली प्रान्त की विहार-यात्रा मे मैं भी उन की सेवा में रहा, उस समय पण्डितजी महाराज भी पूज्य गुरुदेव के साथ थे। परन्तु रात-दिन उन के निकट में रहते हुए भी, उन से दूर ही रहा। मैं शरीर से उन के साथ था, परन्तु मन से दूर और बहुत दूर रहता था। मन में झिझक थी, भय था और कुछ आदर के भाव भी कम थे। ऐसा क्यों? क्यों कि मुझे ऐसा बताया गया था कि वे दीक्षा विरोधी हैं। कुछ प्रतिष्ठित श्रावकों ने यहाँ तक कहा— वे वैराग्य की भावना को कम कर देते हैं। व्यक्ति को साधना-पथ से हटा कर संसार की ओर मोड देते हैं और गृहस्थ के झंझटों में उलझा देते हैं। इस लिए मैं उन से दूर रहने में ही अपना हित समझ रहा था और इस

अज्ञान के कारण व्यक्तित्व संपन्न महान् विचारक के गंभीर-चिन्तन एवं उदार विचारों का आठ महीने के सहवास में भी लाभ नहीं ले सका। इस का दुख आज भी मेरे मन को कुरेद रहा है।

सन् १९४४ में मैं ने मरुधरा के एक शहर लाडनूं में दीक्षा ली। उस समय पण्डितजी महाराज भी दीक्षा-स्थल पर उपस्थित थे। साधु का परिधान पहन कर जब मैं साधना के पथ पर चलने की दीक्षा एव प्रतिज्ञा लेने पूज्य-गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुआ, तब पण्डितजी महाराज का प्रवचन-प्रवाह प्रवहमान था। वे साधना के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे थे। मेरे पहुँचने पर जो विचारधारा चल रही थी, वह इस प्रकार थी– "साधना जीवन को माजने की एक कला है। अपने आप को समझ कर अपने में स्थित होने का एक साधन है, जिस के माध्यम से व्यक्ति साध्य को पा सके। वह बाहर में नहीं, अन्दर में है। बाह्य क्रिया-काण्ड, बाह्य वेषभूषा एवं बाह्य स्थान साधना नहीं है, साधना के साधन मात्र हैं और साधन व्यक्ति की योग्यता के अनुसार तथा देशकाल के अनुरूप बदलते रहे हैं और बदल सकते हैं। साधना की दीक्षा लेनेवाले साधक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि उसे बाहर में ही नहीं अटकना है, परपराओं मे ही नहीं उलझना है और क्रिया-काण्डो तक ही अपने को सीमित नहीं रखना है, और दैनिक क्रियाओं एवं साम्प्रदायिक परपराओं के परिपालन में ही साधना की इतिश्री नहीं समझ लेना। साधना का मूल उद्देश्य है— कषायों से मुक्त होने का प्रयत्न करना, राग-द्वेष के प्रवाह मे नहीं बहना, सरलता, समता, निष्कपटता एव निरभिमानता को जीवन मे साकार रूप देना।"

इस प्रवचन ने मेरे मन पर पडे हुए भ्रान्तियों के अवगुंठन को दूर कर दिया। मैं ने सोचा और समझा कि साम्प्रदायिक एव व्यक्तिगत विद्वेष से अनुरजित व्यक्ति एक महान् सन्त के प्रति कितनी गलत धारणाएँ बना लेते हैं और दूसरे व्यक्तियों के मानस मे भी किसी के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने का कैसा घृणित प्रयत्न करते हैं।

पण्डितजी महाराज के प्रति पहले मेरे मन में जो कालुष्य था, वह सब साधना के पथ पर कदम रखते ही धुलकर साफ हो गया। मन मे उन के प्रति श्रद्धा उद्बुद्ध हो गई और उन्हें एवं उन के विचारों को समझने की जिज्ञासा जगी।

अब मैं उन के निकट, अति निकट आने का अवसर देखने लगा। उसी दिन शाम को प्रतिक्रमण के बाद उन के पास गया और उन्हों ने बहुत ही स्नेह से मुझे अपने आसन पर बैठाया, और जीवन में आगे बढ़ने के लिए बहुत-सी बातें बताईं।

उन्हों ने उस दिन के दो घटे के सम्पर्क में जो कुछ समझाया, उस में महत्त्व पूर्ण बात यह थी— " व्यक्ति को किसी का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। अपने चिन्तन एवं अपनी बुद्धि के द्वार बन्द कर के भेड चाल चलना साधुता नहीं है। तुम को जो क्रिया करनी है, पहले उसे समझो, उस के उद्देश्य को समझो, उस के करने से क्या लाभ है, इस पर सोचो, विचारो और समझो। किस स्थिति में किस प्रकार किस कार्य को करना चाहिए, इसे समझो। पहले जीवन में ज्ञान की ज्योति जगाओ, उस के बाद उसे आचारण में उतारो। बिना ज्ञान प्राप्त किए विवेक-शून्य हो कर की जाने वाली क्रिया—न सयम है, न धर्म है और न साधना है। वह जीवन के लिए केवल बोझ रूप है। "

यह सूत्र मेरे जीवन के कण-कण में समा गया और उस समय की मधुर-स्मृति आज भी मेरे जीवन पट पर अकित है। चौवीस वर्ष का लम्बा काल न उसे धूमिल कर सका और न भविष्य में ही उसे मिटा सकेगा।

माता-सी वात्सल्यमयी गोद :

दीक्षा के कुछ दिन बाद लाडनूं से सरदारशहर वर्षावास करने को जाते हुए रास्ते में छापर कुछ दिन ठहरे। एक दिन शाम को साढे चार बजे वहाँ से विहार किया। ज्येष्ठ का महीना, मरुधरा के तपते हुए रेगिस्तानी टिब्बे। चल तो पडे, पर न तन को शान्ति थी और न मन को। धरती तवे-सी तप रही थी और उस पर पैर रखना भी कठिन हो रहा था और ऊपर से सिर सूर्य के आतप से त्रस्त हो रहा था, सारा शरीर पसीने से तर-ब-तर हो गया। फिर भी कदम बढाते चलते रहे। गाँव से एक मील आ पाए थे कि यकायक आंधी चलने लगी। सारा शरीर रेत से भर गया, रास्ता दिखना भी बन्द हो गया, बढ़ते हुए कदम वहीं रुक गए।

आंधी के साथ ही आकाश में बादल छा गए और रिमझिम वर्षा बरसने

लगी, हम आगे बढे। थोडी देर मे उमड-घुमड कर बादल आने लगे और तेज हवा के साथ मुसलधार पानी पडते लगा। मेरे लिए चलना कठिन हो रहा था। मेरे मन की परेशानी को देख कर उन्हों ने बिना कुछ कहे मेरा सामान मेरे कंधे पर से उतार कर अपने कंधे पर रख लिया और आगे चल पडे। यह उन का स्वभाव-सा बन गया था कि वे छोटे साधु को परेशानी मे देख नहीं सकते थे। उन की मानवता इतनी सजग थी कि स्वयं कष्ट सह कर भी अपने साथी को कष्ट से मुक्त करने का प्रयत्न करते।

उस वर्षा में परेशान होते हुए जैसे-तैसे मैं दो-तीन मील का रास्ता नाप कर गॉव मे पहुँचा। शाम हो चुकी थी, सूर्य अस्ताचल को जा चुका था। मेरे सारे वस्त्र भीग गए थे और मैं बुरी तरह कॉप रहा था। पण्डितजी महाराज ने तुरन्त मेरे वस्त्र उतारे और उन्हें एक ओर सुखा दिया। अपने सूखे वस्त्र मुझे दिए और अपनी प्यार भरी गोद में लिटा लिया। मैं ने उस दिन उन का मातृ-हृदय देखा। माता-सी स्नेहिल गोद और माता-सा दुलार पा कर मेरी थकान दूर हो गई, मेरी नस-नस मे नव चेतना और नई स्फूर्ति दौडने लगी। उस रात्रि का दृश्य आज भी मेरी ऑखों के सामने चित्रित है।

वैराग्य दिया नहीं जाता है :

इसके बाद मैं उन के निकट आता गया। मन की झिझक मिट गई और भय का भूत भी भाग गया। एक दिन बातों ही बातों में मैं ने पूछा– "आप ने दीक्षा ली है, संयम का पालन भी कर रहे हैं और साधना का पथ भी बतलाते हैं, फिर लोग आप को दीक्षा विरोधी क्यों कहते हैं? क्या आप दीक्षा के पक्ष में नहीं हैं? क्या आप दीक्षा को उचित नहीं समझते हैं?"

पहले वे थोडे-से मुस्कराए और फिर कुछ गंभीर हो कर कहने लगे––"मै न तो दीक्षा का विरोधी हूँ और न दीक्षा को बुरा ही समझता हूँ। परन्तु आज-कल जो दीक्षाएँ हो रही हैं, अबोध बालक-बालिकाओं को बहका कर या प्रलोभन दे कर जो मुडा जा रहा है, मैं इसे बिल्कुल पसन्द नहीं करता। मैं इन अयोग्य दीक्षाओं का विरोधी हूॅ और स्पष्ट शब्दों में विरोध करता हूॅ। वैराग्य देने की वस्तु नहीं है। वह तो अन्तर्हृदय से प्रस्फुटित होता है। आगम के

ग्रंथों का अनुशीलन करने पर तुम स्वयं जान सकोगे कि भगवान महावीर एव उन के युग मे किसी भी साधु ने किसी को वैरागी नहीं बनाया। जो उन के सम्पर्क मे आए, उन्हें उन्हों ने अपने आप को समझने की दृष्टि दी, जिस से श्रोताओं के जीवन मे ज्ञान की ज्योति जागी, और वे विरागता के पथ पर बढ़ने को तैयार हुए। याद रखो, वैरागी बनाया नहीं जाता है। वैरागी कोई कल-पूर्जा नहीं है, जिसे मशीन पर चढा कर तैयार किया जा सके। आज तो अनेक साधुओं के पास वैरागियों की फौज तैयार करने के कारखाने खुले हुए हैं, जिन में वैराग्य के नाम पर कोमल हृदय के नासमझ बच्चों के अविकसित या अर्ध-विकसित दिमाग मे साम्प्रदायिकता का जहर भरा जाता है, एक दूसरे से घृणा करना सिखाया जाता है, अपने एवं अपनी सम्प्रदाय को सर्व-श्रेष्ठ और सम्यग्दृष्टि तथा अन्य सम्प्रदाय के साधुओं को शिथिलाचारी एवं मिथ्यादृष्टि समझने का पाठ पढाया जाता है और केवल जड क्रिया-काण्ड में ही उलझे रहने में धर्म बताया जाता है। मैं इस तरह की दीक्षाओं का कदापि समर्थन नहीं कर सकता। आज के युग में मैं वैरागी बनाना पाप समझता हूँ। ये अयोग्य एवं अपरिपक्व अवस्था में होनेवाली दीक्षाएँ समाज एव साधु- संस्था के लिए अभिशापरूप हैं। यदि किसी के मन मे स्वतः वैराग्य की धारा प्रस्फुटित होती है और वह विवेक के साथ साधना-पथ पर गतिशील होता है, तो मैं ऐसे योग्य साधक का विरोध नहीं करता। मेरे मन मे दीक्षा के प्रति घृणा नहीं है, परन्तु आज दीक्षा के क्षेत्र में जो विकृतियाँ आ गई हैं, उन से मुझे नफरत है।"

स्पष्ट प्रवक्ता :

मैं ने पण्डितजी महाराज को बहुत निकट से देखा है—उन के जीवन में जो सब से बडी विशेषता थी, वह यह थी– निर्भयता, निष्कपटता, सरलता एव स्पष्टता। वे जीवन की अन्तिम साँस तक सदा निर्भय और अभय रहे। डरना एवं किसी के भय से सत्य को छिपा कर रखना या उस पर चापलूसी की चाशनी लगा कर भक्तों से झूठी यश-ख्याति लूटना उन्हों ने सीखा ही नहीं था।

मैं ने स्वयं देखा और अपने कानों से सुना है कि वे सत्य कहने में कभी नहीं हिचकते थे। बडे-बडे भक्तों, पूर्जीपतियों एव घनिष्ट परिचित व्यक्तियों को भी समय आने पर खरी– खरी सुनाने मे नहीं चूकते थे। एक बार मरुधरा के,

स्थली प्रान्त के प्रसिद्ध क्षेत्र भीनासर में जाहिर प्रवचन के समय पूंजीपतियों के कलुषित मानस एव वर्गभेद की स्वार्थी एवं सकुचित मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए सचोट शब्दों में उन्हों ने कहा था– "आज पूजीपतियों का स्वार्थ इतना बढ गया है कि वे अपनी कारा मे बन्द हो गए हैं। वे केवल अपना ही सुख चाहते हैं, अपना ही हित चाहते हैं और अपना मान–सम्मान बढाना एवं यश फैलाना चाहते हैं। वे दूसरों के झोपडों को गिरा कर अपने महल को बढाना चाहते हैं। दूसरों की रोजी– रोटी छीन कर अपनी तोंद बढाने के लिए प्रयत्न-शील हैं। देश मे वर्गभेद को जन्म देनेवाले ये स्वार्थी व्यक्ति ही हैं। मैं अभी समाज और राष्ट्र की बात नहीं करता, घर की दीवारों मे भी वर्गभेद देखता हूँ। घर मे ही नहीं, रसोई घर में भी अलग–अलग तवे दिखाई देते हैं। मैं ने कई श्रीमन्तो के घरो में देखा है– सेठजी के लिए विशेष प्रकार की रोटिएँ एवं साग-भाजी बन रही है, सेठानी के लिए दूसरे प्रकार की, बच्चों के लिए उस का तीसरा रूप है, तो नौकरों के लिए सब से भिन्न रूप, सब से सामान्य भोजन–बाजरे की रोटियाँ सिक रही हैं। चूल्हे पर भी भेद की दीवारें खडी हैं। जब तक ये स्वार्थ बने रहेंगे, तब तक परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व मे एकरूपता आ नहीं सकती। और ये बाहरी क्रियाएँ भी जीवन में तेजस्विता ला नहीं सकती। प्रति-दिन प्रवचन सुनने, सामायिक करने एवं अन्य धार्मिक क्रियाएँ करने के बाद भी आप अपने निहित स्वार्थों को त्याग नहीं सकते। अपने आप को परिवार, समाज एवं देश के कण–कण में फैला नहीं सकते, तो धर्म को कैसे पा सकोगे? धर्म क्रियाओं में नहीं, समता, समानता, प्रेम, स्नेह एवं मैत्री भाव में है।"

उनका प्रवचन श्रीमन्तों को अखरा। उन के घनिष्ठ स्नेही-साथी माने जाने-वाले भी उन के विचार सुन कर स्तब्ध रह गए। रात्रि के समय बातों ही बातों मे उन्हों ने कहा–" आज तो आपने हमारे जीवन का पर्दाफाश कर दिया, हमें नगा करके जन-जन के सामने खडा कर दिया। आपको ऐसा नहीं करना चाहिए, इस प्रकार के प्रवचन नहीं देने चाहिए।" उन्हों ने दृढता एव निर्भयता के स्वर में कहा—" मैं ने जो कुछ देखा वही कहा। सत्य को छिपाना मैं नहीं जानता। स्वार्थ-पूर्ति करने का एवं शोषण का जो भयंकर रोग फैल गया है, उसे दूर करने के लिए कडवी दवा पिलानी ही होगी और आवश्यक्ता पडने पर आपरेशन भी

करना होगा। याद रखिए, जो व्यक्ति दूसरों के अधिकारों को छीनता है, दूसरे के मुँह के कौर को छीनता है, वह चाहे कितनी ही सामायिकें, कितना ही तप-जप एवं कितना ही क्रिया-काण्ड क्यों न करे, वह पाप ही करता है। चोरी करनेवाला ही चोर नहीं है, पर पास के पडौसी को भूख से कराहते देखकर भी जो आमोद-प्रमोद में निमज्जित रहता है, वह भी समाज एवं राष्ट्र का चोर है।"

मैं ने देखा है—वे सत्य कहने मे कभी भी अपने-पराए का भेद नहीं करते थे और न इस बात से डरते थे कि यदि सेठजी नाराज हो गए, तो काम कैसे चलेगा। यह उन के जीवन की विशेषता थी कि उन्हों ने श्रीमन्तों की कभी खुशामद नहीं की। इसी कारण बडे-बडे सेठ उन से दूर ही रहते थे।

स्वतन्त्र-विचारक :

पण्डितजी महाराज एक सच्चे साधक थे। साधुता के पथ पर गतिशील थे और अन्तिम क्षण तक गतिशील रहे। पर उनकी साधुता का माप-दण्ड केवल परपराओं से चला आ रहा मापक यन्त्र नहीं, अपना विशुद्ध चिन्तन था। वे साधुता को बाह्य क्रिया-काण्डों के गज से नहीं, अन्तर्चेतना से नापते थे। एक बार पूज्य-गुरुदेव के सान्निध्य में हम १०-१२ सन्त बैठे थे। उस समय समाज मे बढते हुए शिथिलाचार की बात चल पडी। पण्डितजी महाराज कुछ गभीर हो कर विनम्र भाषा मे बोले– "मेरी समझ में आज तक यह नहीं आया कि शिथिलाचार है क्या ? यदि मैले-कुचेले वस्त्र रखने में, हाथ-पैर नहीं धोने मे एवं स्थानकवासी समाज के अन्य सम्प्रदाय के साधु-साध्विओं के साथ प्रेम और वात्सल्य का सम्बन्ध नहीं रखने में, सब से छू-छा करने में ही उत्कृष्ट आचार समझा जाता है, तो मैं इस परिभाषा से सहमत नहीं हूँ। काले वस्त्र रखना एव शरीर पर मैल की परतें जमा रखना आदि को मैं न तो धर्म मानता हूँ और न साधुता। साधुता क्रियाओं मे नहीं, क्रियाओं के साथ जो विवेक है, उस मे है। मै नहीं कहता कि साधु अपना सारा समय शरीर को सजाने एव शृंगार करने मे ही लगा दे। परन्तु यह अवश्य कहता हूँ कि विवेकपूर्वक शरीर एवं वस्त्रों की स्वच्छता का अवश्य ख्याल रखे। जिस से न तो तन में जूएँ आदि जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति हो और न दूसरों के मन में हमारे एवं हमारे धर्म के प्रति घृणा पैदा हो।"

एक सन्त ने आवेश में आ कर कहा– “ जो हमारी परम्पराएँ चली आ रही हैं और जो सम्प्रदाय की कलमें हैं– सम्प्रदाय के नियम हैं, क्या वे साधुता के प्रतीक नहीं है ? क्या उन परम्पराओं के बनानेवालों में साधुता नहीं थी ? ”

पण्डितजी महाराज ने शान्त स्वर में कहा— “ मुनिजी आवेश में न बहकर ठण्डे दिमाग से विचार करें। मैं यह नहीं कहता कि उन में साधुता नहीं थी। पर मै यह कह सकता हूँ कि जो परपराएँ उस युग में बनाई गई– हो सकता है, उस युग के अनुकूल रही हों, पर वर्तमान युग के अनुकूल नहीं है। आप यह क्यों भूल जाते हैं– हमारी सम्प्रदाय के पूर्वजों के पूर्वजों ने एवं स्थानकवासी समाज के आदि पुरुषो ने भी अपनी परपराएँ स्थापित की थी, कुछ नियम बनाए थे। परन्तु हमारे पूर्वाचार्यों ने उन मे कुछ संशोधन एवं परिवर्तन किया। यदि युग के अनुकूल नियमों में संशोधन करना, परिमार्जन करना पाप है और साधुता के विपरीत है, तो क्या आप यह कहने का साहस करेंगे कि पूर्वाचार्यों ने पाप किया, या उनके पूर्वजों मे साधुता नहीं थी, इस लिए उन में परिवर्तन किया ? स्थानकवासी समाज के मूल पुरुषों– धर्मसिंहजी महाराज, धर्मदासजी महाराज, लवजी ऋषिजी एवं जीवराजजी महाराज, की समाचारी एवं परम्पराएँ एक-सी नहीं थी। देश, काल एवं प्रान्त की भिन्नता के कारण समाचारी मे कुछ अन्तर आ जाना असाधुता का परिचायक नहीं है। साधुता का माप-दण्ड समाचारी एवं क्रियाकाण्ड नहीं, कषायों का, मोह का क्षय और क्षयोपशम है। इस लिए हमे यह देखना चाहिए कि हम राग-द्वेष को कितना कम कर पाए, घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ आदि विकारों का कितना त्याग कर पाए हैं। ” पण्डितजी महाराज के विचार सुन कर वे शान्त हो गए और हम सब साथी अपने-अपने कार्य मे लग गए।

इस प्रकार की विचार चर्चाएँ यथा प्रसंग चलती ही रहती थी और नए एव पुराणे विचारों में कभी-कभी टकराव भी हो जाता था। और नए विचारों के कारण उन की आलोचनाएँ भी की गई। कभी-कभी आलोचनाओं का स्वर तीखा और कटु भी होता था। परन्तु वे उसमे कभी घबराते नहीं थे और न मार्ग को छोड़ते थे। मैं ने उन्हें एक बार कहा—“ लोगों ने आपको कितना गलत समझा है और आपके विचारों को कितना तोडमरोड कर आलोचना करते हैं। ”

उन्होंने मधुर मुस्कान के साथ कहा—" इस मे चिन्ता करने जैसी क्या बात है? व्यक्ति के पास जैसी दृष्टि होगी, उसी रूप में वह मुझे देखेगा। गोशाला को भगवान महावीर शत्रु परिलक्षित होते थे। क्यों कि उस की दृष्टि में शत्रुता थी, विद्वेष की भावना थी। अतः जिसकी आँखों पर जैसा चश्मा होगा, उसे वैसा ही दिखाई देगा और जिस के पास जो कुछ होगा, वही मुझे देगा। फिर मैं व्यर्थ मे परेशान क्यों बनूं? मै अपने आप मे मस्त हूँ और अपने पथ पर चल रहा हूँ। " उन का हृदय कितना सरल और कितना स्पष्ट था।

उन के जीवन की यह विशेषता थी कि वे किसी का अपमान, निरादर एवं तिरस्कार नहीं करते। परन्तु किसी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना भी पसन्द नहीं करते थे। वे किसी को खुश करने के लिए सिद्धान्त एवं सत्य का खून करने को कभी प्रस्तुत नहीं होते। सोजत एवं भीनासर सम्मेलन के समय मरुधरा के विशिष्ट सन्त पण्डित श्री समर्थमलजी महाराज भी पधारे थे। एक दिन रात्रि के समय बातचीत के प्रसंग में उन्हों ने पण्डितजी महाराज से कहा—" यदि सद्धर्म मण्डन की द्वितीय आवृत्ति के समय आप उस में से उत्सर्ग—अपवाद, अल्पारम्भ-महारम्भ एवं कुछ ऐसे ही अन्य प्रसंगों को निकाल दें, तो अपनी दो सम्प्रदायों में विचार एकता हो सकती है। " पण्डितजी महाराज एक क्षण के लिए मौन रहे, फिर बोले—" पूज्य-गुरुदेव की अनुपस्थिति में मेरा क्या अधिकार है कि मैं उनके विचारों को निकाल दूँ या बदल दूँ। " उन्हों ने कहा— " आप उनके शिष्य हैं, इसलिए उन मे परिवर्तन कर सकते हैं। "

तब उन्हों ने कुछ खुलकर कहना शुरू किया—" पूज्य—गुरुदेव उत्सर्ग की तरह अपवाद को भी मार्ग मानते थे। आगम मे अपवाद-मार्ग का भी उल्लेख मिलता है और उस के लिए कहीं भी प्रायश्चित का विधान नहीं किया है। अतः जो अपवाद का प्रायश्चित लेने की परम्परा है, वह आगम विरुद्ध है। सद्धर्म-मण्डन के सम्बन्ध मे आप की पूज्य-गुरुदेव से जब चर्चा हुई थी, तब भी पूज्य गुरुदेव ने यह स्पष्ट कहा था कि ' साधक की स्थिति को देख कर आगम में साधु-साध्वी को अपवाद मार्ग पर चलने की भी आज्ञा दी गई है। अपवाद भी साधना का एक मार्ग है, उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता। प्रायश्चित्त किसी भी क्रिया का नहीं है, चाहे वह उत्सर्ग में की जा रही हो या अपवाद मे। प्रायश्चित्त प्रमाद,

कषाय, अविवेक एवं अयत्ना से जो क्रिया की जाती है, उस का है। यदि उत्सर्ग मार्ग की क्रिया करते समय भी साधक प्रमाद, कषाय एवं अशुभ-योग के वश हो कर अविवेक एव अयत्ना से क्रिया करता है, तो वह प्रायश्चित्त का अधिकारी है।' इस से स्पष्ट होता है कि क्रिया पाप नहीं है, पाप है–प्रमाद, कषाय एवं मनोविकार।

अल्पारम और महारम के सम्बन्ध में भी पूज्य-गुरुदेव के विचार सदा-सर्वदा स्पष्ट रहे हैं। गृहस्थ आरम्भ का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, पर महारम्भ का त्याग कर सकता है। जिस क्रिया से परिणामों में अधिक कलुषता आती है, वह महारम्भ है। कृषि में भी आरम्भ होता है और ब्याज के धंधे में भी। पुष्पों का हार पहनने मे भी आरम्भ होता और मुक्ताओं का हार पहनने भी। परन्तु दोनों मे परिणाम एक से नहीं रहते। कृषि एवं पुष्पों के हार में एकेन्द्रिय की हिंसा होती है, परन्तु ब्याज के धन्धेमें मानव का शोषण किया जाता है, मनुष्य को पीडित एवं उत्पीडित भी किया जाता है। ब्याज के धंधे में स्वार्थ साधने की वृत्ति भी बनी रहती है और लोभ–तृष्णा में अभिवृद्धि होती रहती है। इसी प्रकार मोतियों की माला मे सीपों का वध होता है, हजारों–लाखों सीपों का संहार होता है, तब कहीं एक माला के मुक्ता कण मिलते हैं। और मुक्ता के हार पर पुष्पों की माला से अधिक आसक्ति बनी रहती है, उस के खोने पर आर्त–ध्यान मे डूब जाते हैं। इस लिए ब्याज के धन्धे और मुक्ता–हार पहनने में महारम्भ होता है।

पूज्य गुरुदेव की प्रस्तुत मान्यताएँ आगम सम्मत हैं और उन्हों ने प्रमाणों के साथ आपको समझाया था। यह बात अलग है कि वह सत्य– तथ्य आपके दिमाग मे न उतर पाया हो या आप का मस्तिष्क उसे भली-भाँति समझ ही नहीं पाया हो। जो कुछ भी कारण रहा हो, पर सैद्धान्तिक विचारों को मैं कदापि नहीं निकाल सकता। सत्य को निकाल कर मैं किसी के विचारों के निकट पहुँचना कथमपि उचित नहीं समझता। अतः सद्धर्म-मन्डन में पूज्य–गुरुदेव के जो विचार हैं, उन की मूल आत्मा उसी रूप में रहेगी।"

पण्डितजी महाराज अपवाद को कुमार्ग एवं पापमय नहीं मानते थे। पूना में सद्धर्म-मण्डन का सम्पादन करते समय उन्हों ने मुझे कहा था कि प्रस्तुत ग्रन्थ

में अपवाद के सम्बन्ध में जितना लिखा है, उस से अधिक हम नहीं बढ़ा सकते। परन्तु इस कार्य को समाप्त करने के बाद मूल आगम, भाष्य, चूर्णि एवं टीकाओं के आधार पर उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखना। निशीथ भाष्य मे उत्सर्ग और अपवाद का जो वर्णन किया गया है, वह केवल भाष्यकार की कल्पना नहीं है, उस के पीछे मूल आगम-साहित्य का ठोस आधार है। इस लिए व्यक्तिगत विद्वेष के कारण कुछ तथाकथित साम्प्रदायिक लोगों-जिन की ज्ञान-चेतना कुण्ठित हो गई है, सोचने की शक्ति मोंटी हो गई है-को निशीथ की बे--सिर-पैर की की गई आलोचना का भी सचोट उत्तर देना चाहिए। मैं ने उत्सर्ग-अपवाद पर लिखने की 'हाँ' तो कर दी, परन्तु दूसरे कार्य में व्यस्त रहने के कारण लिख नहीं सका। कलकत्ता से बम्बई वर्षावास के लिए जाते समय पूना में पुनःस्मृति को जाग्रत करते हुए कहा– बम्बई वर्षावास के बाद पूना मे कुछ दिन रह कर उत्सर्ग-अपवाद पर अवश्य लिखना। परन्तु मैं ने तब यह कल्पना ही नहीं की थी कि वर्षावास में यह विराट् व्यक्तित्व हम से अलग हो जाएगा।

उत्सर्ग-अपवाद के सम्बन्ध में पण्डितजी महाराज के विचार स्पष्ट थे। इस लिए सद्धर्म-मण्डन मे वे विचार सुरक्षित रह सके। परन्तु ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज की परंपरा के उत्तराधिकारी उत्सर्ग-अपवाद के सम्बन्ध मे उस सत्य को खुले रूप में स्वीकार करने में हिचकते हैं। पूज्य गुरुदेव की कुछ विचार-स्थापनाएँ ऐसी भी हैं, जो उन्हें मान्य नहीं हैं।

मैं ने अपनी अनुभव की आँखों से देखा है कि वे आगम, दर्शन, साहित्य एवं व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान्, गंभीर विचारक, एव स्पष्ट–प्रवक्ता तो थे ही, पर साथ मे साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त भी थे। श्रमण-संघ के जन्म के पूर्व सम्प्रदाय विशेष मे रहते हुए भी, सभी सम्प्रदाय के साधुओं से खुले हृदय से मिलते थे और उन्हें यथाशक्य सहयोग भी देते थे। किसी से घृणा करना, तथा किसी का अनादर करना, यह उन के स्वभाव मे ही नहीं था।

उन के जीवन मे सब से बड़ी विशेषता थी कि जो कुछ कहते या करते निर्भयता के साथ कहते और करते। और अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को भी निर्भय बनने की कला सीखाते। उन के जीवन का यह स्वर्णिम सूत्र था-

भय सब से भयंकर पाप है। भय से उत्पीडित व्यक्ति न सत्य कह सकता है, न सत्य सोच सकता है, न सत्य स्वीकार कर सकता है, और न सत्य का पालन कर सकता है इस लिए साधना का सर्व प्रथम सोपान है– भय-मुक्ति।

भीनासर-सम्मेलन की परिसमाप्ति के पश्चात् मैं ने 'श्रमण जीवन का बदलता हुआ इतिहास' शीर्षक से सम्मेलन के संस्मरण लिखे थे। और वे सन १९५६ के 'श्रमण' के दो अंकों में प्रकाशित हुए। उस लेख में और कुछ नहीं था– छोटी-छोटी बातों के लिए नए विचार के सन्तों को खरी-खोटी सुनाने वाले महान् सन्तों की कमजोरियॉ पर पडी हुई परतों को जरा सा हटा दिया था। उस मे परिग्रह और ध्वनिवर्धक यन्त्र की थोडी-सी चर्चा थी। इस के प्रकाशित होते ही समाज में तूफान आ गया। साम्प्रदायिक व्यक्तियों को इस से भूकम्प-का झटका लगा। कुछ मतलब परस्त साधु आपस मे साँठ-गाँठ करने लगे। पूज्य-गुरुदेव के कान भरने लगे और मुझे बहिष्कृत करने का षडयन्त्र रचा जाने लगा। कुचेरा वर्षावास के पश्चात् जब मैं पण्डितजी महाराज के साथ पूज्य-गुरुदेव की सेवा में पहुँचा, तो उन्हों ने कहा कि जब तक तुम अपने लेख को गलत मान कर प्रायश्चित्त नहीं लोगे तो तुम्हारे साथ किसी तरह का व्यवहार नहीं रहेगा। पण्डितजी महाराज भी साथ थे, परन्तु वहाँ तो योजना बद्ध तैयारी थी, अतः उन की वहाँ कौन सुनता। वे मेरी ओर देखने लगे और जाचने लगे कि मैं कितने गहरे पानी में हूँ।

मैं ने विनम्र शब्दों में स्पष्ट कहा– "प्रायश्चित्त लेने में मुझे कोई संकोच नहीं है, परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि मेरा दोष क्या है? मेरे लेख को और श्रमण संघ के विधान एवं आगमों को सामने रख कर आप पहले यह बताएँ कि उस मे भूल कहाँ है।" उन्हों ने कहा– "मुझे बताना कुछ नहीं है, मैं ने जो निर्णय किया उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करना होगा। अभी प्रायश्चित्त लेना होगा और भविष्य में लेख नहीं लिखने की प्रतिज्ञा करनी होगी।" मैं भी कुछ आवेश में आ गया और दृढ स्वर में बोला–" ऐसा कदापि समव नहीं है। मैं सिद्धान्त की हत्या कर के संघ में रहने की अपेक्षा अकेला रहना अच्छा समझता हूँ। मुझे जब तक मेरा दोष न बता देंगे, तब तक प्रायश्चित लेने का सवाल नहीं उठता। लेखन कार्य पर मैं तब तक कोई प्रतिबन्ध स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ, जब

तक श्रमण-संघ में सब के लिए एक-सा नियम नहीं बन जाता है। पूज्य-गुरु-देव के सामने मैं ने यह सुझाव भी रखा कि यदि आप अपने सन्तोष के लिए गुरु–शिष्य के सम्बन्ध से प्रायश्चित्त देना चाहें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। मेरा लेख दो उपाध्यायों को सौंप दें या आचार्यश्री को सौंप दें, वे जो निर्णय दें उसे आप और मै स्वीकार कर ले। परन्तु दुख है कि मेरा एक भी सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। तब मैं माङ्गलिक सुन कर अपने पथ पर बढ गया। जयपुर के निकट उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज के दर्शन किए। उन के स्नेह से अनुप्रेरित हो कर और श्रद्धेय उपाध्यायजी महाराज के आदेश को मान कर मैं जयपुर गया। समस्या के सुलझाने की भावना से पुनः अजमेर गुरुदेव की सेवा में गया, पर सफलता नहीं मिली। तब अजमेर से आगरा होते हुए अध्ययन के लिए विद्वानों की महानगरी वाराणसी जा पहुँचा। अकेला था, परन्तु दो महापुरुषों– श्रद्धेय कविश्रीजी महाराज और पण्डितजी महाराज– का पूरा–पूरा सहयोग था। पण्डितजी महाराज मेरे जीवन म शक्ति का संचार कराने के लिए स्फूर्तिदायक पत्र लिखते रहते थे और कहते रहते थे कि घबराने जैसी बात नहीं है। निर्भयता से अपने पथ पर बढते जाओ। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ।" और उन्हो ने मेरे अध्ययन काल में मुझे हर तरह से पूरा सहयोग दिया। जब भी कोई समस्या आई, आपने तुरन्त सुलझा दी। मेरे जीवन में जो निर्भयता–निडरता आई है, उस का श्रेय पण्डितजी को है।

सन् ६४ में आप के आदेश से मैं पूना आप की सेवा म आ गया। आते ही सद्धर्म-मण्डन का सम्पादन किया। उन के कुछ निबन्धों का भी सम्पादन किया और आप की सेवा म दो वर्षावास किए। फिर सन् ६६ मे परम स्नेही साथी श्री विजय मुनिजी महाराज ने कलकत्ता वर्षावास के लिए जाते समय मेरी माँग की और पण्डितजी महाराज के आदेश से मैं कलकत्ता गया और वहाँ वर्षावास में सद्धर्म-मण्डन के प्रकाशन का कार्य किया।

कलकत्ता से बम्बई जाते समय सन् ६७ में पूना म पुनः २४ दिन की सेवा का लाभ मिला और वर्षावास के पश्चात् पुनः पूना म आप की सेवा करने की भावना ले कर बम्बई गए। व्यक्ति सोचता कुछ है और होता कुछ है। १ अक्तूबर की शाम को पूना से समाचार मिले कि आप की तबियत बहुत अस्वस्थ है आर रोग

का निदान करने के लिए हास्पिटल मे दाखिल कर दिया है। श्री विजय मुनिजी महाराज और मेरे मन को वहुत आघात लगा, हमने पूना आने की अनुमति माँगी, परन्तु किसी को यह पता नहीं था कि इतनी जल्दी वे अपनी अन्तिम सास ले लेंगे, अतः हमें दो-तीन दिन प्रतीक्षा करने को कहा गया। आखिर मुझे ४ अक्तूबर की शाम को पूना आने का संदेश मिला। अब इतनी देर हो चुकी थी कि पहुँचना संभव नहीं लग रहा था, फिर भी ५ को प्रातः मैं चला और थाना पहुँचते ही हृदय विदारक सदेश मिला कि पण्डितजी महाराज का सथारा सिद्ध हो गया है। मेरे मन को इतना गहरा आघात लगा कि मेरी बुद्धि एव मति कुठित हो गई, मेरे चारों ओर अंधेरा-सा छा गया। कितना बडा दुर्भाग्य था कि मन में जो अतिम दर्शनों की अभिलाषा थी, वह मन की तहों मे ही अन्तर्निहित रही। परन्तु अब सतोष एवं धैर्य रखने के अतिरिक्त और कुछ किया नहीं जा सकता था।

अभी मन-मस्तिष्क मे संस्मरण वहुत उभरा रहे हैं, पर निवन्ध का कलेवर इतना वढ रहा है कि उन्हें कागज के चिथडों पर चित्रित करने का लोभ सवरण करना पड रहा है। अन्त मे इतना ही कहूँगा कि साधना के क्षेत्र मे ईमानदारी एवं प्रामाणिकता के साथ वे आगे वढते रहे। उन की सरलता, सेवा भावना, स्पष्टता एवं निर्भयता के कारण उन की साधना का उज्ज्वल-समुज्ज्वल रूप समाज के सामने निखर कर आया। उन की जीवन की सबसे बडी विशेषतः यह थी—उन के मन मे, वचन मे, और कर्म मे एकरूपता थी। आज वे शरीर से मेरे साथ नहीं है, परन्तु विचारों से वे मेरे जीवन के कण कण मे समा चुके हैं और सदा मेरे साथ रहेंगे। बस, काव्य की भाषा में इतना ही कहूँगा—

"हे निर्भयता के परम उपासक!
हो शत शत वन्दन-अभिवन्दन।"

—मुनि समदर्शी प्रभाकर

४. सौजन्य-मूर्ति, प्रेम की प्रतिमा

आज से लगभग ३५ वर्ष पहले सरलता, समता, सौजन्यता एवं स्नेह की सरस, शीतल सरिता में सदैव स्नान करनेवाले पण्डित श्रीमलजी महाराज का मरुधरा के प्रमुख क्षेत्र ब्यावर एवं अजमेर मे मिलन-सुमिलन का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस समय वे अपने अध्ययन में संलग्न थे, ज्ञान-ज्योति को जलाने में व्यस्त थे। और अध्ययन के साथ अपने पूज्य-गुरुदेव, विश्व विभूति, ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज की सेवा-भक्ति मे भी लगे रहते थे। उन के जीवन का कण कण अपने पूज्य-गुरुदेव के प्रति सेवा, श्रद्धा एवं कर्तव्य-निष्ठा की भावना से परिपूर्ण था। वे अपने गुरु के विश्वसनीय एवं परम प्रिय शिष्य थे।

राजस्थान के पश्चात महाराष्ट्र के प्रमुख शहर पूना में पण्डितजी महाराज से पुनः मिलने का प्रसंग आया। यह मधुर मिलन अविस्मरणीय एवं अद्वितीय था। इस समय केवल दो शरीर ही नहीं, हृदय से हृदय मिल गया। दोनों ने एक दूसरे को समझा, परखा और दिल खोल कर एक-दूसरे के सामने अपने-अपने मनोभावों को रखने का प्रयत्न किया। विचारों का आदान-प्रदान हुआ। इन अट्ठाइस दिनों के सहवास में आन्तरिक स्नेह बढ़ा, आत्मीयता की भावना जागृत हुई और मरुधरा में हुआ परिचय घनिष्ट मित्रता में परिणत हो गया।

इन १९–२० वर्षों के समय में आत्मीयता में द्वितीया के चन्द्र की तरह प्रति-दिन अभिवृद्धि होती रही। परस्पर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं अन्य विषयों पर विचारों को समझने– समझाने एवं कभी समस्याओं को सुलझाने के लिए पत्र-व्यवहार भी चलता रहा।

सन् १९४९ मे बम्बई में बहुत लम्बे समय तक आप का सुखद सहवास रहा और मुझे ज्ञान के उस महासागर मे गोता लगाने एवं उस में से संस्कारों, विचारों एव सद्भावनाओं के अनमोल मुक्ता-कण निकालने का सुअवसर मिला।

सेवा की मूर्ति :

संसार में सभी गुण एक साथ देखने को नहीं मिलते। कुछ व्यक्ति विद्वान होते हैं, पर उन के पास वक्तृत्व-कला एवं लेखन-कला का अभाव देखा जाता है। कुछ चिन्तनशील विचारक होते हैं, पर अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की कला में प्रवीण नहीं होते। परन्तु, पण्डितजी महाराज प्रकाण्ड विद्वान थे, अद्‌भुत प्रवक्ता थे, दर्शन-शास्त्र के अद्वितीय अभ्यासी थे, गहन विचारक थे और सिद्धहस्त लेखक थे। उन के जीवन में एक-दो ही नहीं, अनेक योग्यताएँ साकार रूप ले चुकी थीं। यदि थोडे में कहूँ, तो वे सर्व-प्रतिभा सपन्न थे। इतने उच्च एवं प्रतिभा-सपन्न सन्त होने पर भी स्वभाव से विनम्र, सरल, मिलनसार और निरभिमानी थे। आप के जीवन की सब से बडी विशेषता यह थी— आप संयम, सेवा, श्रम और निराडम्बर के परम उपासक थे।

मै ने स्वयं देखा है—संयम यात्रा में साथ विचरनेवाले वयोवृद्ध, परन्तु दीक्षा में अपने से छोटे सन्त की सेवा करने में उन्हें कभी सकोच नहीं होता था। वे हार्दिक उल्लास से उन के वस्त्र-प्रक्षालन आदि कार्य करते। इस लिए मैं उन्हें पण्डितजी महाराज के नाम से सबोधित करने की अपेक्षा, उन के अलौकिक सेवा-धर्म को देख कर उन्हें नन्दिषेण के नाम से सबोधित करना उचित समझता हूँ। सचमुच, उन की जीवन-वाटिका में अनेक रग-बिरगे सद्‌गुण सुमनों का एक साथ विकास हुआ था, उस मे सेवा-वृत्ति का सुमन विशेष रूप से विकसित हुआ था। इन सद्‌गुण रूपी सुमनों की मधुर सौरभ से सम्पूर्ण समाज एवं सघ सौरभान्वित हुआ।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आप लगभग १० वर्ष तक पूना एवं पूना के आसपास के क्षेत्रों में विचरते रहे। महासती श्री सूरजकुँवरजी महाराज, जो आप की जन्मदात्री माता थी– के अस्वस्थता के कारण पूना मे स्थानापन्न थी, उन की आप ने अनन्य सेवा की। बाह्य एवं आत्मिक दोनों तरह की सेवा आप ने जिस उत्साह एवं लगन से की, उसे देख कर श्री शकराचार्य की स्मृति हृदय पटल पर उभर आती है। मातृ-भक्ति का यह अपूर्व और अनूठा आदर्श आप ने समाज के समक्ष रखा।

जीवन में प्रतिज्ञाएँ :

पण्डितजी महाराज ने अपने जीवन में तीन प्रतिज्ञाएँ स्वीकृत की थीं, जो आज के साधु-साध्वियों एवं भविष्य के श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए मननीय, चिन्तनीय, आचरणीय एवं आदरणीय हैं—

१. जीवन मे– आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, मंत्री आदि किसी भी प्रतिष्ठित पद को स्वीकार न करके सेवा-साधना में सलग्न रहना, यह उन का सर्वोत्कृष्ट ध्येय था। किसी भी पद पर न होते हुए भी आप ने साद्‌डी, सोजत एवं मीनासर सम्मेलनो मे श्रमण-सघ की अनेक उलझी हुई गुथियों को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उस से प्रभावित हो कर मीनासर सम्मेलन मे आप को मंत्री पद भी दिया गया, परन्तु आप ने उसे सहज भाव से अस्वीकार कर दिया।

२. अपनी नेश्राय मे शिष्य नहीं बनाना। आप के पास अनेक सुसंस्कारित एवं योग्य व्यक्ति दीक्षा लेने आए, परन्तु आप ने स्पष्ट शब्दों मे इन्कार कर दिया। आप संघ रूपी सरोवर मे सदा कमल की भाँति निर्लिप्त रहे।

३. कोई भी संस्था स्थापित नहीं करना। उन का यह विचार था–संस्था स्थापित करना अप नी साधना की कब्र खोदना है और अपरिग्रह की प्रतिज्ञा को भंग कर के वीतराग आज्ञा का उल्लघन करना है।

उदार हृदय :

आप पूना मे नाना पेठ के छोटे स्थानक मे विराजते थे। उस समय किसी भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के श्रमणों का शुभागमन होता, तो आप उन का हार्दिक स्वागत करते, अप ने पास ठहराते और आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि अनेक प्रकार से अन्तर्मन से उन की सेवा करते। यदि कोई बीमार सन्त हुआ, तो आप तन-मन से उस की सेवा करते और स्वय डॉक्टर के यहाँ जाकर उन का पूर्ण रूपेण प्रबन्ध करते थे।

उन के जीवन मे एक अलौकिक शक्ति एवं प्रतिभा थी। प्रत्येक साधु को निभाने की क्षमता थी। अनुकूल और प्रतिकूल सभी विचार के साधुओं को पचाने की योग्यता थी।

आप ने अपने नाम का व्यामोह त्याग कर ज्योतिर्धर जवाहिराचार्य के साहित्य को जन-जन तक पहुँचाया। सद्धर्म मण्डन जैसे गहन-गभीर चर्चा ग्रन्थ का सम्पादन किया और स्वयं ने मौलिक साहित्य एवं काव्य ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार आप एक उच्च साहित्यकार थे।

आप साहित्यकार ही नहीं, स्पष्टवक्ता भी थे। आप को श्रीमन्तों की खुशामद करना जरा भी पसन्द नहीं था। वास्तव मे आप का जीवन अपने लिए नहीं, समाज के लिए था। आज वे स्थूल देह से हमारे मध्य में नही रहे, फिर भी विचारों के रूप में जन-जन के मन-मन मे समाए हुए हैं और रहेंगे। आप के सद्गुण जन-जन के जीवन-आकाश में सदा-सर्वदा सितारों की तरह चमकते-दमकते रहेंगे।

आप के जीवन की सब से महान विशेषता यह थी --आप क्रान्ति दूत के साथ साथ शान्ति दूत भी थे।

—प्रवर्तक श्री विनय ऋषिजी

५. सच्चे सुहृद पण्डित श्रीमलजी महाराज

अपनी माता के साथ बचपन में ही दीक्षा पथ के पथिक पण्डित मुनी श्रीमलजी महाराज अपने गुरुवर सद्गत पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के प्रिय शिष्य थे। इसी कारण उन के गुरुदेव उन्हे 'शिरु' इस दुलार भरे नाम से पुकारा करते थे। जीवनकाल में यह गुरु-शिष्य की जोडी विरले ही खण्डित हुई हो। किन्तु पूज्यश्री के स्वर्गवास के अनन्तर यह दुलारा शिष्य अपने दो एक गुरु-बन्धुओं के साथ रहा। और ये पूना विराजित अपनी दीक्षित माता की निकटस्थ रूप में परोक्ष सेवा करते रहे। इस तरह उनके जन्म, दीक्षा एवं अवसान इन तीनों का महालाभ महाराष्ट्र को प्राप्त हुआ। दीक्षा लेने के बाद प्रत्यक्ष गुरु सेवा और समीपस्थ परोक्ष मातृसेवा का लाभ उन के अपने भाग्य में आया।

मेरा उन का प्रथम परिचय आज से ३४-३५ वर्ष पहले, जब मैं अपने

सद्गत गुरुदेव नानचन्द्रजी महाराज के साथ ऐतिहासिक स्थानकवासी साधु सम्मेलन मे लिंबडी सम्प्रदाय के साधु-सध्वियों का प्रतिनिधि बन कर गया था, तब अजमेर मे हुआ। खूब सूरत आकृति वाले उस कोमलदर्शी बाल मुनि में जो त्याग, तप, सामर्थ्य, विद्वत्ता, उदारता, सेवा भाव आदि गुण दिखाइ दिए, वे आगे चल कर क्रम-क्रम से बढते गए। तब से मैं उन्हें देख रहा हूँ। उस समय मेरी उम्र २९ सालकी थी। और पंडितजी की १८ एक वर्ष की रही होगी। मैं २४-२५ साल का था, तब दीक्षित हुआ। और उन्हों नें ११ साल की उम्र में दीक्षा ली थी। मुझ से उम्र में छोटे होते हुए भी दीक्षा पर्याय में वे मुझसे ज्येष्ठ होने के कारण उन के प्रति मेरा आकर्षण उसी समय से प्रारम्भ हो गया।

उस साधु सम्मेलन मे उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज, जो बाद में स्थानक वासी जैन श्रमण-सघ के सर्वोच्च आचार्य पद पर विराजित हुए, के साथ में रह कर मै साधु सम्मेलन की कार्यवाही की टिप्पणें लेता था। और वे अपने गुरुदेव की आज्ञा से अपनी नोटबुक में लिख लेते। इस पर से यह विदित होगा कि उन के गुरुदेव— जो स्थानकवासी समाज के प्रमुख एवं राष्ट्रीय साधु थे, की सम्मेलन के लिए कितनी अभिरुचि थी। उसी तरह उन के गुरुदेव की इस मुनि से कितनी भारी अपेक्षाय थी, यह भी जाना जा सकता है। उस के बाद तो हम बिछुड गए, सो बिछुडे ही। किन्तु मेरे एक वर्ष के समौन एकान्तवास के बाद किए हुये निवेदन, वलन एवं वर्तन को ले कर स्थानकवासी साधु-समाज ने मुझे अलग कर दिया। सत्य तो यह है कि लिंबडी स्थानकवासी सघ ने प्रस्ताव रूप से मुझे अलग किया था। परन्तु भालनलकाठा प्रयोग काबीज उसी कारण बोया गया और वह बहिष्कार व्यापक समाज की दृष्टि से इष्टापत्ति बन गया। आज तो समूचे स्थानकवासी समाज का प्रेम उमरता हुआ मुझे अनुभव हो रहा है। किन्तु उस समय, कैसा था ?

सौराष्ट्र से वापिस लौटते हुए उन के गुरुदेव ने सवत १९९५ का चातुर्मास अहमदाबाद मे किया। उसी अर्से में मेरा वर्षावास भालनलकाठा प्रदेश के माणकोल में हुआ। मेरे स्व. गुरुदेव का चातुर्मास भी अहमदाबाद मे ही था। मैं बाघजी परे मे था। वहाँ मुझे खबर मिली— 'मुनिश्री श्रीमलजी महाराज तुम्हें विसलपुर मे बहुत याद कर रहे हैं।' शाम को मैं विसलपुर गया। मेरा

मुकाम इतने नजदिक के स्थान में था कि मैं उन्हें रात्रि में मिल सकूँ। उस समय हमारी मित्रता अधिक घनिष्ट हो गई।

उस के वाद वर्ष वीतते गए। इस प्रसंग के वाद १८-१९ साल वीत गए। मेरे आव्रोडा चातुर्मास के वाद वंबई का द्विभाषी राज्य टूटने की शंका से तथा माल्नलकाँठा प्रयोग की प्रवृत्तिओं के प्रचारकार्यार्थ मैं महाराष्ट्र में पूना गया। 'मै आ रहा हूँ' यह खवर पाते ही मुझे लेने के लिए कुछ गाँव चल कर वे मेरे स्वागत के लिए पधारे। मैं उन के साथ पूना में रहा और पूना कें आसपास मै जहाँ कहीं भी गया, वहाँ वे मेरे साथ विचरे। साथ ही में एक ही पाटे पर वैठ कर प्रवचन करवाते और करते। दुपहर की चर्चाएँ वे जिज्ञासा-पूर्वक सुनते। वे तो 'श्रमण-सघ' के दायरे में और मैं उन सव से वहिष्कृत, फिर भी उन्हों ने मेरा इतना आदर किया। और श्रमण-संघ के तत्कालीन उपाचार्य और उन के पूज्य हुकमीचदजी महाराज की सम्प्रदाय के सर्वोच्च प्रमुख एव उन के ज्येष्ठ गुरुवन्धु पूज्य गणेशीलालजी महाराज-जो हमारे साथी नेमिमुनि के गुरु हैं, को अपने इस व्यवहार एवं वर्ताव से विल्कुल अनभिज्ञ नहीं रखा। उस के वाद मैं और एक वार पूना गया। उस समय मैं शहर में नहीं गया। पूना से वाहर सराय में ठहरा था। वहाँ भी वे पहुँच गए। और साथ मे ही रहे। इन सभी वातों के कारण मेरे मन मे उन के प्रति एक सच्चे सुहृद मुनिवर की हैसियत से अमिट छाप पड गई। उस के वाद हम प्रत्यक्ष में नहीं मिल पाए, फिर भी हमारा पत्र-व्यवहार उन के देहान्त तक जारी रहा। नेमिमुनि के मेरे साथ चातुर्मास करने के वाद तो वह स्नेह सम्वन्ध दिन-व-दिन वढता ही गया।'

उन की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य उथला नहीं था। उन के विचार प्राचीन और अर्वाचीन- दोनों जैन पीढियों को- जोडने वाले 'सेतु' के समान थे। वे साहित्याभ्यासी थे। इतना ही नहीं, वे साहित्य लेखक भी थे। यदि मैं भूल्ता न होऊं तो, उन के संस्कृत-प्राकृतादि अध्ययन एव हिंदी साहित्य रस से आकर्षित हो कर विदुषी साध्वी उज्ज्वलकुमारीजी भी उन के पास रह कर उसी प्रकार के तलस्पर्शी अध्ययन के लिए कुछ समय रहना चाहती थी।

किन्तु मेरा मानना है कि सव से आकर्षक उन की उदारता एवं सेवा थी।

जहाँ गुण दिखाई दिए, वहाँ वे दौडे हुए जाते। वे दिल के भी वैसे ही निष्कपट– निखालस थे। विचार प्रस्तुत करने की उन की शैली भी धीर, गंभीर एवं मोहक थी। इन सभी कारणों को ले कर मै एक सच्चे सुहृद के नाते उनका आदर करता हूँ, और उन की आत्मा के प्रति हार्दिक पूज्य भावना के साथ अपनी नम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। बाल वय में दीक्षा प्राप्त साधु इतने तेजस्वी बने, यह घटना सामान्य नहीं है। उन की ओर आकर्षित विशाल वर्ग को जहाँ तक मैं जानता हूँ, उस में से बहुत से लोग उनके सान्निध्य में आकर नास्तिक से आस्तिक बन गए। उन सब को पण्डितजी के चले जाने से बडी भारी हार्दिक वेदना हो रही है। फिर भी 'जन्म लेने वाले के लिए मृत्यु होती ही है' वहाँ हम निरुपाय हैं। उन की आत्मा जहाँ भी हो, शान्ति प्राप्त करे। उन के अनुयायी एवं प्रेमी जनों को मनःशान्ति प्राप्त हो। उन के चले जाने से सिर्फ स्थानकवासी जैन समाज की ही नहीं, बल्कि भारत के एक सन्त समाज के सेवक की क्षति हुई है, यही कहना पडेगा।

मुनि सन्तबाल

६. स्मृतियाँ उभरती रहेंगी

पण्डित प्रवर, स्नेह सौजन्यमूर्ति श्री श्रीमलजी से मेरी प्रथम मुलाकात ब्यावर मे सन् १९३३ मे हुई थी। उस समय ब्यावर सम्प्रदायवाद का पूरा गढ था। एक ओर स्थानक, दूसरी ओर कुन्दन भवन, तीसरी ओर नया बाजार। सभी स्थानों पर सन्त! पर सम्प्रदायवाद के रंगीन चश्मे लगाए हुए। एक दूसरे सन्त से मिलने में और वार्तालाप करने मे अपमान का अनुभव करते। यदि कदाचित इधर-उधर आते-जाते मिल भी गए तो मुँह फेर कर निकल जाते। मै उस समय युवक था, नया खून था, मै सोचता, यह क्या है? गृहस्थों से वार्तालाप करने में संकोच नहीं, सन्तों से वार्तालाप करने में संकोच क्यों? एक सन्त दूसरे सन्त को देख कर आनन्दविभोर होना चाहिए, पर नाराज क्यों

हो रहे हैं ? श्रमण भगवान् महावीर के वंशजों की, एक ही परम्परा के सन्तों की यह चित्र-विचित्र स्थिति देख कर मन में बड़ा दर्द होता।

उस समय मैं 'सिद्धान्त कौमुदी' पढ रहा था, काव्य और न्याय के ग्रन्थों का भी अध्ययन चल रहा था। सुना, नए बाजार के स्थानक में स्थित श्री श्रीमलजी महाराज भी पण्डित अम्बिकादत्तजी से सिद्धान्त कौमुदी पढ रहे हैं। उन से मिलने की जिज्ञासा तीव्र हुई। पर शहर में मिलना संभव नहीं था। प्रातः वे जिधर शौच के लिए जाते थे, उधर हम भी गए। जंगल का वह एकान्त शान्त स्थान! सम्प्रदायवाद से उन्मुक्त वातावरण। दिल खोलकर संस्कृत भाषा मे वार्तालाप हुआ, अनेक प्रश्नों पर विचार चर्चा हुई। भय का भूत भगा और हम एक-दूसरे के पक्के मित्र हो गये। जहाँ तक हम वहाँ रहे, वहाँ तक प्रतिदिन प्रातः और सध्या को जंगल में मिलते रहे। शत-शाखी के रूप मे हमारा स्नेह प्रतिपल-प्रतिक्षण बढता ही रहा।

अजमेर वृहद् साधु-सम्मेलन के मंगलमय अवसर पर जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य श्रीजवाहिरलालजी महाराज के साथ वे भी वहाँ आए थे। उस समय भी अत्यन्त स्नेह के साथ मिलते-जुलते रहे।

उसके पश्चात् सं. २००३ में इन्दौर में मिलना हुआ। बडे ही स्नेह के साथ मिले। स्थानकवासी जैन समाज की एकता के सम्बन्ध में गंभीरता से विचार विनिमय हुआ।

उस के बाद पुन. सादडी सन्त सम्मेलन के अवसर पर मिलने का अवसर मिला। उस समय हम और उपाध्याय कविरत्न अमरचन्द्रजी म. एक ही कमरे में ठहरे हुए थे। हम दोनों ही उन के पक्के स्नेही थे, अतः अधिक समय उनका वहीं पर व्यतीत होता था। मैंने उस समय देखा– उन के मन के एक कोने मे क्रान्ति की आग जल रही है। वे क्रान्ति का शंखनाद फूंकना चाहते है। सम्प्रदायवाद को समाप्त कर श्रमण-सघ का निर्माण करना चाहते हैं और ऐसा निर्माण, जिसे दुनिया देख कर दंग रह जाए। उन्हों ने उस समय अपने आचार्य श्री गणेशीलालजी को समझाने मे और श्रमण संघ के निर्माण करने मे जो प्रयत्न किया, वह विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे जब तक उपाचार्य

श्री गणेशीलाल जी महाराज के सन्निकट रहे और उन के कार्यक्रम को सभालते रहे वहाँ तक श्रमण-संघ उन्नति करता रहा। प्रत्येक समस्या को सुलझाता रहा। पर जब वे अपनी माताजी महाराज को दर्शन देने के लिए उपाचार्य श्री को छोड कर महाराष्ट्र में आए, तब से श्रमण-संघ समस्याओं में उलझता रहा। मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि यदि वे उपाचार्य श्री के सन्निकट ही रहते, तो उपाचार्य श्री कदापि श्रमण-संघ नहीं छोडते। पर ऐसा हो न सका।

क्रूर काल ने उन को हमारे से छीन लिया है, पर उनकी मधुर स्मृति और उन के सद्‌गुण भूलाने पर भी भुलाए नहीं जा सकते। उनकी वे मधुर स्मृतियाँ सदा उभरती रहेंगी।

श्री पुष्कर मुनि

७. प्रथम और अन्तिम दर्शन

विक्रम सम्वत् २०१३ में राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर भीनासर में श्रीवर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ का वृहत् सम्मेलन हुआ था। जैनधर्म-दिवाकर, जैनागमरत्नाकर, आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का आदेश पा कर तपस्विवर श्री लाभचन्दजी महाराज के साथ में भीनासर सम्मेलन में भाग लेने के लिए बीकानेर गया था। उदारचेता, सन्तहृदय, पण्डित-प्रवर श्री श्रेयमल्जी महाराज के दर्शन करने का सर्व प्रथम अवसर वहीं प्राप्त हुआ था। और मेरे मन में यह कल्पना ही नहीं थी कि दर्शनों का यह प्रथम अवसर ही अन्तिम अवसर होगा। मैं उन से अपरिचित था और वे मुझ से, किन्तु यह प्रथम मिलन इतना आकर्षक, मोहक, मधुर एवं सस्मरणीय रहा कि आज तक उन की स्मृति हृदय-पटल से नहीं उतरी। पण्डित श्री का हंसमुख चेहरा, मिलनसार स्वभाव, उदारता, विद्वत्ता तथा गम्भीरता से परिपूर्ण व्यक्तित्व बरबस व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। इन के अलाप,

संलाप, आचार, विचार में ऐसी चुम्बक-जैसी आकर्षक शक्ति थी कि कुछ कहते नहीं बनता।

बीकानेर में मेरे पाँव में चोट लगी थी, मांस फट गया था। उस समय मुझे श्रद्धेय पण्डितजी महाराज को निकट से देखने का अवसर मिला। मुझ से दीक्षा में बड़े होने पर भी उन्हों ने स्वयं अपने हाथों से मेरे पाँव पर पट्टी बाँधी, उपचार किया, और मेरे अशान्त एवं परिपीडित मानस को शान्ति प्रदान की। बीकानेर से हम सब इकट्ठे ही भीनासर गए। वहाँ सम्मेलन के कारण हमें लगभग १५ दिन ठहरना पड़ा और बैठकों में विचारों के आदान-प्रदान करने का अवसर प्राप्त हुआ। इतने काल में श्रद्धेय पण्डित श्रीजी महाराज के जीवन से सम्बन्धित जिन बातों ने विशेष रूप से मेरे मन को आकर्षित किया, वे कभी मुझे विस्मृत नहीं हो पाती। वे बातें चार है- १. निरभिमानता, २. पाण्डित्य, ३. उदारता, और ४. संघैक्य की भावना।

निरभिमानता :

श्रद्धेय पण्डित श्री श्रेयमलजी महाराज के जीवन-शास्त्र का अध्ययन करने से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन में अभिमान की गन्ध भी नहीं थी। ये एक असाधारण सन्त थे। इन का व्यक्तित्व महान् था। ये पूज्य श्री गणेशी-लालजी महाराज के प्रमुख सन्तों में से एक थे, अपनी सर्व-जन-प्रियता के कारण सम्मेलन का अधिक कार्यभार इन्हों ने संभाल रखा था। अधिकतर सन्तों के ये सर्वाधिक विश्वस्त एवं निकटवर्ती मुनिवर थे। इनके व्यक्तित्व का क्या साधु, क्या साध्वी, क्या श्रावक, और क्या श्राविका सभी हृदय से सम्मान करते थे। यह सब कुछ होने पर भी इन में मैंने अस्मिताभाव नहीं देखा। छोटे से छोटे सन्त के साथ भी इनके बड़े मधुर एव सरस सम्बन्ध चलते थे। इन्हों ने कभी किसी को उपेक्षा या तिरस्कार की दृष्टि से निहारा हो ऐसा मैं ने नहीं देखा। यदि संक्षेप में कहूँ, तो अभिमान शैतान को इन्हों ने अपने जीवन का स्पर्श तक नहीं करने दिया।

पाण्डित्य :

श्रद्धेय पण्डित श्री जी महाराज का दूसरा गुण था- पाण्डित्य। सामाजिक

क्षेत्र मे जहॉ ये सर्वजनप्रिय एवं प्रतिष्ठित व्यक्तित्व के स्वामी थे, वहॉ इन को विद्या भगवती की दयादृष्टि का भी पूर्ण सौभाग्य प्राप्त था। संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, गुजराती, मराठी आदि अनेकविध भाषाओं के ये सुलझे हुए विद्वान थे। जैनागमों मे भी इन की अच्छी खासी गति थी। जैन तथा जैनेतर ग्रन्थों का सदा स्वाध्याय करते रहते थे। प्रत्येक विषय पर निःसकोच होकर प्रवचन, वार्तालाप करने के अतिरिक्त बहुत सुन्दर लेख लिख सकते थे। किसी दार्शनिक विषय पर बात करते समय कभी सकुचाते नहीं थे। शास्त्रों के सबल उद्धरण देकर जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त कर दिया करते थे।

उदारता :

मुझे राजस्थान प्रान्त मे पहली बार जाने का अवसर मिला था। बीकानेर मेरे लिए बिल्कुल नया क्षेत्र था, मान्यवर पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज, प्रसिद्ध वक्ता श्रद्धेय श्री सौभाग्यमलजी महाराज, श्रद्धेय उपाध्याय श्री प्यारचन्द्र जी महाराज, पूज्य श्री हस्तीमलजी महाराज, पूज्यश्री समर्थमलजी महाराज, युवक हृदय मरुधर केसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज, आदि मुनिवरों के दर्शन भी पहली बार किए थे। मन में सकोच था, पता नहीं, यहॉ की कैसी परिस्थिति है? कौन किस स्वभाव का है? किस के साथ कैसा व्यवहार रखना है? आदि सभी बातों का मन पर बोझ था। किन्तु, परमस्नेही श्रद्धेय पण्डित श्री श्रेयमलजी महाराज, बड़ा भाई जैसे छोटे भाई को समझाता है, इसी पद्धति से मेरा मार्ग-दर्शन करते रहे। प्रान्तीय रीतिरिवाजों तथा बोल-चाल मे अवगत कराते रहे। इस विराट् हृदय सन्त मे संकीर्णता, तगदिली, परत्व-अपरत्व की भावना का नामोनिशान भी नहीं था। ' उदारता, सहृदयता की ये साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। राजस्थान का नूतन तथा अपरिचित क्षेत्र होने पर भी मुझे पंजाब भूल गया था। मै पण्डितजी महाराज के साथ ऐसे हिलमिल गया था जैसे, पंजाबी सन्तों मे ही अवस्थित हूँ। अधिक क्या, पण्डितजी महाराज की उदारता ने मेरे मन को जीत लिया था।

संघैक्य की भावना :

श्रद्धास्पद पण्डित श्रीजी महाराज मे चतुर्थ गुण था— श्रमण-संघ को सुदृढ

बनाने की भावना। श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमण-संघ एक रहे, उन मे ऐक्य बढे, इस का भविष्य समुज्ज्वल रहे, इस सत्कार्य के लिए वे सदा सतर्क तथा प्रयत्नशील रहते थे। वे स्वयं पीछे हटना भी जानते थे, किन्तु संघैक्य मे बाधा पडे, आपसी मनोभेद हो, विरोधियों को विरोध करने का अवसर मिले, ऐसी कोई बात न स्वयं करते थे और जहाँ तक वश चलता न किसी को ऐसा करने देते थे। यह मै बिना किसी झिझक के कह सकता हूँ कि यदि श्रद्धेय पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज श्रद्धेय पण्डितजी महाराज को अपनी सेवा में रखते, इन की दूरदर्शिता, उदारता, गम्भीरता, सूझबूझ तथा सब को साथ लेकर चलने की भावना का हृदय से सम्मान करते और तदनुसार आचरण करते, तो श्रमण-संघ में कोई विघटन नहीं हो सकता था। श्रमण-संघ की आज जो दयनीय दशा चल रही है, यह कभी देखने को नहीं मिलती। यह अबाध सत्य है की प्रत्युत्पन्नमति श्री श्रद्धेय पण्डितजी महाराज जैसा सुलझा हुआ शान्तिप्रिय मस्तिष्क जिस शास्ता का मंत्री हो, उस के ह्रास या पतन का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

श्रद्धेय पण्डित श्री श्रीमलजी महाराज जैन जगत् के समुज्ज्वल सितारे थे। समाज को इन पर महान् गौरव था, बडी-बडी आशाएँ थीं, किन्तु हम सब का दुर्भाग्य है कि विकराल काल ने सदा के लिए इन को हम से जुदा कर दिया। कुछ भी हो पार्थिव शरीर की दृष्टि से भले ही हम से वे अलग हो गए, किन्तु जब तक जैन समाज जीवित रहेगा, तब तक वह उन की सेवा तथा उन के वैदुष्यपूर्ण व्यक्तित्व को भूलेगा नहीं। जैन समाज के इतिहास में श्रद्धेय पण्डितजी महाराज का नाम श्रद्धा तथा आस्था से स्मरण होता रहेगा।

वन्दनीय, स्वनामधन्य पण्डित श्रीमलजी महाराज का जीवन इतना समुज्ज्वल एव विराट् है कि उसे शब्दो की सीमित रेखाओं से सीमित नहीं किया जा सकता। अन्त में, अपने परम स्नेही मित्र, श्रद्धेय सवहृदय पण्डितजी महाराज के चरणों मे अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हुआ इतना ही निवेदन किए देता हूँ—

" इहंसि उत्तमो भंते। पच्छा होहिसि उत्तमो "

— श्रद्धेय पण्डितप्रवर! आप श्री का जीवन यहा भी प्रकाशमान रहा और आगे भी आप का जीवन प्रकाशमान रहेगा।

— ज्ञान मुनि

८. उस मनस्वी संत की एक मीठी याद

बात पुरानी है, संभवतः सोलह-सतरह साल पुरानी; अजमेर-वर्षावास के बाद, पूज्य-गुरुदेव उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज का राजस्थान की राजधानी जयपुर में पदार्पण हुआ। लगभग एक मास वहाँ स्थिति रही। उसी दौरान, वहीं पर श्रद्धेय पण्डितश्री श्रीमलजी से साक्षात्कार हुआ था। गौर-सौम्य मूर्ति, सरल-निश्छल व्यक्तित्व, धीर-शान्त प्रकृति, बरताव-व्यवहार, अकृत्रिम और अपने ढग का खरा-निखरा सन्त-जीवन। वह दिव्य भव्य चित्र, आज भी मेरी आँखों मे तैर रहा है। जैन-समाज का मनस्वी-मनीषी सन्त स्मृति-झरोखे से, आज भी, मेरे मन-मानस में झाँक रहा है।

पूज्य-गुरुदेव के साथ भी, उन का वह प्रथम मिलन ही था। मिलते तो न मालूम कितने हैं, जिन्दगी की इस मंजिल में। किन्तु, वह मिलन अपना अलग ही मूल्य-महत्त्व रखता है। मिले, खूब मिले, दिल खोलकर मिले। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे पहले कहीं कभी खूब घुले-मिले हों। यही तो जिन्दगी की एक खूबी है—

> "जब मिले, जिससे मिले, दिल खोल कर मिले।
> इस से बढ कर और खूबी कोई इन्साँ में नहीं॥"

वाणी से नहीं, बरताव-व्यवहार से व्यक्तित्व देखा-परखा-पहचाना जाता है। व्यवहारजीवन का दर्पण है। उसी में तो जीवन का तथ्य-सत्य-कथ्य सब-कुछ प्रतिबिम्बित होता है। जीवन की सच्ची कसौटी यही है। पूज्य-गुरुदेव के साथ उन का जो बरताव-व्यवहार, विचार-विमर्श, तत्त्व-चिन्तन— जो भी होता था, उसे मै उत्सुकता एव निकटता से देखा-सुना करता था। मुझे तो ऐसा लगा- जैन समाज के उस जाने-माने संत की अन्तरात्मा में एक आग थी। एक जलती-सुलगती हुई चिनगारी थी, उन के मन में, समाज के लिए कुछ कर गुजरने के लिए। समाज का कायाकल्प करने तथा पुरानी रूढ परम्पराओं को तोड कर, समाज के अन्तराल में युगानुकूल जीवन के नव-नवीन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की एक तडप थी, उन के दिल में। समाज के लिए वह बहुत कुछ करना चाहते थे— पर, उन की कोई पेश नहीं चल पा रही थी— ऐसा मै ने

स्पष्ट अनुभव किया। आखिर तो, समाज के रंगमंच पर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ तत्त्वों का ही बोलबाला होता है न। समाज के उन महारथियों के आगे दर्द में पलनेवाले और जीवन की नयी राहों पर चलनेवालों की दाल कहाँ गलती है? चाहे समाज के ये पुराण तत्त्व युग की प्रबल रफ्तार के साथ बुरी तरह घिसते पिटते रहें, किन्तु साहस-पूर्वक युगानुरूप वैचारिक क्रान्ति के प्रकाश का स्वागत करना– इन के मनमस्तिष्क तथा बल-बूते से परे की बात रही है।

मैं स्पष्ट भाषा में कहूँ, तो वह विद्वान् सन्त सिर से पैर तक विचार-क्रान्ति का एक जीवन्त प्रतीक था। और, यही कारण है कि मरुधर प्रान्त का वह सन्त मरुधरा में सदा 'मिसफिट' ही रहा, और राजस्थान से दूर-सुदूर महाराष्ट्र, गुजरात, बम्बई, पूना आदि प्रदेशों में विचरण करता रहा, अपनी विचार-क्रान्ति का बिगुल बजाता रहा, जन-जन के मन-मन को जगाता रहा। उन का रोम-रोम यहीं बोलता था–

> "है वक्त बदलने का, हर काम बदल डालो;
> आगाज बदल डालो, अंजाम बदल डालो।"

और, इस के साथ ही, मैं यह कहने का भी लोभ-संवरण नहीं कर सकता कि जैन-समाज का वह प्रतिष्ठित सन्त कोरा विचार-पुंज–विचार ही विचार नहीं था। जीवन के साँचे-ढाँचे में ढल-पल कर ही विचार उनकी वाणी पर बोलते थे। वे अपने विचारों के अनुरूप जीवन जीना भी जानते थे, अत्यन्त सीधा सरल एवं सहज-मधुर जीवन था, उनका। पहली नजर में ही मैं ने देखा तन पर सीधा-सादा खद्दर का परिधान, अत्यल्प साधन-सामग्री, बिल्कुल नपा-तुला संयत जीवन। ऐसा लगता था, मानो साधना एवं तप-त्याग के नाम पर उन्हों ने अपना जीवन इधर-उधर से पूरी तरह समेट लिया हो। तन मन को कंपा देने वाली पौष-मास की उस सर्दी में भी, वे एक खादी की चादर में ही मजे से रात निकालते थे। एक रात को मैं ने देखा, एक खादी की चादर में पैर समेटे वे अर्ध-निद्रा ले रहे हैं। मेरे पास ऊनी चादर थी। मैं पूछ ही बैठा– "सर्दी लग रही होगी। डाल दूँ यह ऊनी चादर, आप के ऊपर?" अपने सहज स्वर में बोले : अच्छा तेरी इच्छा!

उन का वह सहज-शान्त स्वर आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है, और तन-

मन में एक झनकार उत्पन्न कर रहा है और मन अन्दर-ही-अन्दर बोल रहा है :

"जिन्दगी ऐसी बना, जिन्दा रहे दिलशाद तू।
जब न हो दुनिया में तो दुनिया को आए याद तू।"

व्यक्ति तो नहीं रहता, किन्तु उस के जीवन के मूल-मौलिक गुण तो स्मृति-पटल पर अंकित हो कर मन में बोलते ही रहते हैं। जीवन की अच्छाई और सच्चाई को मन से मिटा भी कौन सकता है? इस भाषा, परिभाषा में, नाम-शेष होकर भी वह मनस्वी सन्त, आज मेरे स्मृति-पटल पर, अन्तस्तल पर छा रहा है और मन का कण-कण तथा तन का रोम-रोम उन्हें श्रद्धा के पुष्प चढ़ा रहा है– "तुम्हें कहता है मुर्दा कौन, तुम जिन्दों के जिन्दा हो।

तुम्हारी नेकियाँ बाकी, तुम्हारी खूबियाँ बाकी।।"

—सुरेश मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

९. पण्डित श्रीमलजी महाराज : कुछ संस्मरण

पण्डित मुनिश्री श्रीमलजी महाराज स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के जाने-माने साधुओं में से एक थे। आप ज्योतिर्धर नवयुग-निर्माता जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज के विद्वान् और प्रिय शिष्य थे। आप का व्यक्तित्व आकर्षक था। जो भी व्यक्ति आप के सम्पर्क में आता, आप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। यह कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि पूज्य जवाहरलालजी महाराज के व्यापक दृष्टिकोण और समाज सुधार के विचारों की प्रतिछाया आप में स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती थी। मेरे साथ उन का काफी अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। इस लिए मैं उन के जीवन से सम्बन्धित कुछ संस्मरण नीचे दे रहा हूँ।

आकर्षक व्यक्तित्व :

वि. संवत् १९९९ की बात है। दीक्षा लेने के काफी अर्से पहले मैं भीनासर में ही गृहस्थ जीवन में रह रहा था। पूज्य जवाहरलालजी महाराज उन दिनों

रुग्णावस्था के कारण मीनासर में चम्पालालजी बाठिया के बाग में विराजमान थे। पण्डितजी महाराज भी पूज्यश्री की सेवा में रहते थे। पण्डितजी महाराज का व्याख्यान लूणियों की कोटडी में हुआ करता था। मैं अचूक रूप से प्रतिदिन उन का व्याख्यान सुनने जाया करता था। व्याख्यान की रोचक शैली और विषय को गहराई से प्रतिपादन करने का ढंग श्रोताओं को बरबस मोह लेता था। उन के शरीर का डिल्डौल, चेहरा और अगाध पाण्डित्य के कारण सहसा आकर्षण होता था। मैं उन के व्याख्यान और व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ और संसार से विरक्ति होने लगी। मैं मन ही मन सोचा करता– "क्या मैं इन की सेवा में दीक्षित हो कर साधुतामय जीवन यापन करते हुए इसी प्रकार अपना जीवन प्रभावशाली और सफल नहीं बना सकता?" सन्ध्या समय चम्पालालजी बाठिया के हाल के बाहरवाले बरामदे में पण्डितजी महाराज के पास भावुक भक्त मण्डली जमा होती थी। मैं भी पहुँचता था। एक दिन मैं ने उन से पूछा– "क्या मैं भी अपना जीवन साधुत्व की साधना करते हुए सफल नहीं बना सकता?" उन्हों ने पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज से मेरा जिक्र करते हुए कहा–"अवश्य बना सकते हो। होनी चाहिए, तुम्हारी भावना और तदनुसार पुरुषार्थ।"

निःस्पृहता :

एक दिन मैं ने उन से एकान्त में मौका पा कर पूछा– "क्या मुझे आप अपना शिष्य बना लेंगे?" उन्हों ने फौरन स्पष्ट कहा– "नहीं, मैं अपना शिष्य किसी को भी नहीं बनाता। तुम्हें अगर साधु बनना है, तो दूसरे साधु यहाँ पर हैं, उन में से किसी के भी शिष्य बन सकते हो।" इतनी निःस्पृहता से भरा उत्तर पा कर मैं दंग रह गया। जहाँ आज कई साधु शिष्य बनाने के लोभ में पडकर कई प्रपंच रचते हैं, बहकाते हैं, प्रलोभन देते हैं और अयोग्य और अपरिपक्व व्यक्ति को भी मूड लेते हैं, वहाँ उन का जीवन शिष्यलिप्सा से कितना निःस्पृह था।

विकास में सहायक :

मैं ने संवत् १९९९ मार्गशीर्ष कृष्णा ५ को स्व. जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहर-

लालजी महाराज के पवित्र सान्निध्य में स्व. जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज की निश्राय में जैन मुनि दीक्षा अंगीकार की। मेरा ध्येय यही था कि "मैं दीक्षा ले कर स्व-पर कल्याण साधना के हेतु सर्वप्रथम संस्कृत-प्राकृत एवं आगमों तथा दर्शनों का ठोस अध्ययन करूंगा और फिर धर्म प्रचार के लिए भ्रमण करूंगा, साथ ही आत्म-साधना को भी विकसित करूंगा।" इस उद्देश्य से स्व. पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज की सम्मति से पूज्य-गुरुदेव श्री गणेशीलालजी महाराज ने हमें संस्कृत का अध्ययन शुरू करा दिया। परन्तु वाराणसेय संस्कृत-प्रथमा का अध्ययन करने के बाद ही अचानक एक विघ्न आगया। हमारा चातुर्मास पूज्य-गुरुदेव के साथ उस समय देशनोक (बीकानेर) था। चातुर्मास में ही बीकानेर के कुछ भक्तों ने पूज्य-गुरुदेव पर दबाव डाला-"साधुओं को संस्कृत पढाने से वे बिगड जाते हैं, भ्रष्ट हो जाते हैं या शिथिल हो जाते हैं। इस लिए अब, आगे अधिक संस्कृत नहीं पढाना चाहिए।" पूज्य-गुरुदेव के गले उन की यह बात नहीं उतरी। क्यों कि वे सदा यही मानते और कहा करते थे कि मैं जो कुछ इतना बोलने लायक बना हूँ या आगमों का रहस्य समझ पाया हूँ, वह संस्कृत भाषा के अध्ययन का ही प्रताप है। फिर भी साम्प्रदायिक लोगों के आग्रह के आगे उन्हें झुक जाना पडा। हमारे कानों में यह भनक पड़ी कि "हमारे आगे के संस्कृत-अध्ययन पर ताला लगनेवाला है।" हम ने पूज्य-गुरुदेव से नम्रता पूर्वक इस का विरोध किया। इधर पण्डित श्रीमलजी महाराज को इस बात का पता चला। वे उन दिनों भीनासर विराजमान थे। उन्हों ने चातुर्मास के बाद पूज्य-गुरुदेव जब भीनासर पधार रहे थे, तब हमारे सर्वांगीण विकास की दृष्टि से प्रेरित हो कर पूज्य-गुरुदेव को आगे के अध्ययन के लिए मना लिया और यह तय हुआ कि पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य को हमारे अध्यापन के लिए बुलाया जाए। फलतः हमारा संस्कृत का आगे का अध्ययन बदस्तूर चालू रहा। और भी अनेक प्रसंगों पर पण्डितजी महाराज हमारे ही नहीं, सभी विकासेच्छु और जिज्ञासु साधु-साध्वियों के विकास में सहायक बनते रहे।

सेवाभावी पण्डितजी महाराज :

सेवा का गुण पण्डितजी महाराज में कूट-कूट कर भरा था। वे जब भी

अपने निकटवर्ती किसी साधु को रुग्णावस्था में देखते, तो उसकी सेवा आत्मीयता पूर्वक किया करते थे। देशनोक चातुर्मास के बाद जब हमारा थली प्रदेश (बीकानेर रियासत के रेगिस्तानी इलाके) की ओर पूज्य-गुरुदेव के साथ विहार हुआ, तो पण्डितजी महाराज भी साथ ही थे। सरदारशहर चातुर्मास में कई साधु बीमार हो गए थे। उस मौके पर अन्य साधुओं के साथ आप भी सेवाभाव में निमग्न हो जाते थे। इसी तरह मैं ने कई बार उन के जीवन में सेवा की लगन देखी। जहाँ भी मौका आता, साधुओं की सेवा का, वहाँ वे अपना सब काम छोड कर पहले बीमार की सेवा कर ने मे जुट पडते थे।

नई विचारधारा के अनुगामी :

युगद्रष्टा पूज्य आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के चरणों मे रहने के कारण उन की युगानुलक्षी विचारधारा को उन्हों ने आत्मसात् कर लिया था। कई साधु समाज सुधार की या रूढि तोडने की बात को कहते हुए हिचकिचाते हैं, कई अमुक धनिक भक्तों के खिलाफ सच्ची बात कहने में डरते हैं, कई साधुओं के मन में यह डर होता है कि यह अनीतिमान धनिकभक्त हमारे शिष्य की दीक्षा या पढाई, तपस्या के आडम्बर आदि के लिए खर्च नहीं करेगा, अगर इस के खिलाफ कुछ कहा तो। परन्तु पण्डितजी महाराज इस विषय में निर्भीक थे। क्यों कि वे अपने साधु जीवन में इन तीन बातों का त्याग लिए हुए थे—

१. अपनी निश्राय मे शिष्य बनाने का।
२. किसी सस्था के बारे मे धन संग्रह की प्रेरणा देने का।
३. अपने लिए किसी स्थान के निर्माण का।

जैन साधु-साध्वियों में ऐसे बहुत ही विरले साधु होंगे, जो इन बातों को अपने जीवन में सक्रिय रूप से स्थान देते हों। शिष्य-लोलुपता, साम्प्रदायिकता और स्थानमोह या क्षेत्रमोह की बीमारी जैन सम्प्रदाय के अधिकांश साधु-साध्वियों मे आज विद्यमान है। परन्तु पण्डितजी महाराज इस के अपवाद थे। न तो उन्हें किसी क्षेत्र (प्रान्त या ग्राम-नगर) का मोह था, न अपने लिए किसी स्थान न (स्थानक या उपाश्रय आदि) का मोह था, न उन में साम्प्रदायिकता थी और

शिष्य-लोलुपता। युग के साँचे में अपने विचारों को ढाल कर गतानुगतिक समाज क सामने अपने व्याख्यानों मे वे पुराने दकियानुसी और समाज के लिए अहितकर विचारों तथा रीतिरिवाजों का दिल खोल कर पर्दाफाश किया करते थे।

अहमदाबाद में जब पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज का चातुर्मास था, तब कविवर्य पं. नानचन्द्जी महाराज के शिष्य मुनिश्री संतबालजी महाराज अहमदाबाद में विराजमान थे। पण्डितजी महाराज ने सुना कि वे साधु की मर्यादा में रहते हुए समाज को धर्मदृष्टि से निर्माण करने का ठोस कार्य कर रहे हैं, उनकी विचारधारा और दृष्टि व्यापक, स्पष्ट और सर्वाङ्गीण है, वे अपने गुरुदेव से आज्ञा ले कर चल पडे मुनिश्री संतबालजी से मिलने और उन से विचार-विमर्श करने। उन से मिल कर और विचार-विमर्श कर के बडी प्रसन्नता के साथ लौटे।

साम्प्रदायिकता से दूर :

पण्डितजी महाराज एक सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए और वेष मे स्थानक-वासी जैन साधु होते हुए भी साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। कहीं भी किसी अच्छे विद्वान् या निःस्पृह, त्यागी व्यक्ति का अपने विचरण-क्षेत्र में आस-पास कहीं भी नाम सुन लेते, तो अचूक रुप से उस से मिलने और विचार-विमर्श करने का प्रयत्न किया करते थे।

एक ही सम्प्रदाय के विभिन्न टोलों में जहाँ परस्पर मिलने-जुलने, बातचीत करने और परस्पर वन्दन-नमन करने का कड़ा प्रतिबन्ध हुआ करता था, वहाँ पण्डितजी महाराज इन बन्धनों और साम्प्रदायिकता की दीवारों से परे थे। उन्हें यह बन्धन कतई पसंद नहीं था। वे स्थानकवासी सम्प्रदाय के ही नहीं, अन्य सम्प्रदायों के जैन मुनियों से उदारतापूर्वक मिलते थे और दिल खोल कर बातचीत करते थे।

निःस्पृह परामर्शक :

पण्डितजी महाराज स्पष्टवादी थे। अन्दर कुछ और ऊपर मे कुछ और दिखाना उन्हें पसन्द नहीं था। आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज की

सेवा में रहने एवं विभिन्न प्रान्तों में विचरण करने के कारण उन्हें सम्प्रदायों, धर्मों एवं जातियों का काफी ठोस अनुभव हो चुका था। इस लिए जब भी किसी साधु या गृहस्थ के जीवन में कोई उलझन होती या पेचीदा सवाल खड़ा हो जाता, वह आप से परामर्श लिया करता था। आप अपना परामर्श स्पष्ट, निःस्पृह एवं ठोस अनुभव के आधार पर दिया करते थे। आपको चापलूसी पसंद नहीं थी। इस कारण कई व्यक्ति या निहितस्वार्थी आपके स्पष्ट परामर्श के कारण नाराज भी हो जाया करते थे। पर आप को उनकी प्रसन्नता–अप्रसन्नता से कोई मतलब नहीं था। आप तो परामर्श लेने वाले के व्यापक हित को लक्ष्य में रख कर ही परामर्श देते थे। कई भावी दीक्षार्थी भी आप से परामर्श लेने आए। पर आप का वैराग्य को नापने का पैमाना दूसरा ही होता था। आपकी कसौटी में उत्तीर्ण हुए विरक्त को आप अवश्य ही दीक्षा लेने की सलाह देते थे, लेकिन उस कसौटी में अनुत्तीर्ण को वे केवल बहकाने और भावावेश पैदा करने की दृष्टि से कभी दीक्षा लेने की सलाह नहीं देते थे। इस से कई साधु-साध्वी आप से रुष्ट भी हो गए थे। आप को 'नास्तिक' तक का फतवा भी दे दिया था। लेकिन आप ने इसकी कोई परवाह नहीं की। अपने कर्तव्य का पालन किया। कई बार उन के सामने विकट से विकट उलझनें ले कर लोग उपस्थित होते थे, परन्तु वे कभी निराश नहीं हुए और धैर्य से शान्तिपूर्वक उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करते रहे।

मेरे लिए तो वे एक विश्वसनीय आप्त पुरुष थे। जब भी मेरे सामने कोई गुत्थी आ जाती, तो मैं उन के सामने अपना दिल खोल कर रख देता था। दीक्षा ग्रहण करने के कुछ वर्षों बाद मेरे मन में यह मन्थन चलने लगा कि क्या स्व पर कल्याण-साधक साधु के कर्तव्य की इति, समाप्ति कुछ क्रियाकाण्डों को कर लेने, भ्रमण कर लेने, अच्छा खा-पी लेने और घंटा-डेढ़ घंटा व्याख्यान दे कर छुट्टी पा लेने में ही है या और भी किसी बात में है? मैं ने पूज्य श्री जवाहर-लालजी महाराज के व्याख्यान पढ़े, कई महान् वक्ता साधुओं के व्याख्यान भी सुने, महात्मा गांधीजी का साहित्य, सत्यभक्तसाहित्य एवं संतबालजी का साहित्य वगैरह भी पढ़ा, परन्तु मन संतोषजनक समाधान नहीं पा रहा था। मैं यह सोचता रहता था कि जैन साधु अवस्था और साधु मर्यादा में रहते हुए बिगड़े हुए समाज-जीवन को सुधारने, बदलने और समाज का धर्मदृष्टि से निर्माण करने का क्या कोई ठोस उपाय नहीं है, जिससे साधु अपना उत्तरदायित्व और

कर्तव्य निभा कर समाज से उऋण हो सके और अपनी स्व-पर कल्याण-साधना कर सके ? क्यों कि कोरे व्याख्यानों अथवा लेखों से समाज की परिस्थिति नहीं बदलती । परिस्थिति का परिवर्तन हुए बिना व्यक्तिगत अपवाद को छोड़ कर समाज परिवर्तन या समाज-सुधार अथवा समाज-निर्माण नहीं हो पाता । है कोई इसके लिए अनुभवसिद्ध सक्रिय रास्ता ? मैं ने अन्ततोगत्वा अपना मन्थन पण्डितजी महाराज के सामने रखा । उन्हों ने इस पर गम्भीरता से विचार करके स्पष्ट शब्दों में मुझ से कहा—"मेरा इस बारे में कोई गहरा अनुभव नहीं है। और स्थानकवासी साधुओं में मुनिश्री संतबालजी महाराज के सिवाय स्व-कल्याण साधना के साथ समाजरचना के ठोस कार्य अपनी साधु मर्यादा में रहते हुए करने वाला कोई साधु मेरी दृष्टि मे अब तक नहीं है । तुम चाहो, तो मैं उनके साथ पत्र-व्यवहार कर के तुम्हारे मन्थन का मनःसमाधान पूछवा सकता हूँ।" मैं ने अपनी सहमति प्रगट की । और उस के बाद मुनिश्री संतबालजी महाराज के साथ मेरा पत्र-व्यवहार हुआ । मेरी इच्छा एक बार उन से प्रत्यक्ष मिलने और उन के प्रयोग-क्षेत्र को प्रत्यक्ष देख कर मन मे उठती हुई विविध शंकाओं का समाधान प्राप्त करने की थी । धर्म-क्रान्ति प्रिय स्व. मुनिश्री डूंगरसिंहजी महाराज (बडे गुरुभ्राता) मेरे साथ हुए और पण्डितजी महाराज के परामर्श के अनुसार हम दोनों अहमदाबाद जिलान्तर्गत माल्नल्काठा प्रदेश (पूज्य. मुनि संतबाल्जी म. के प्रयोग क्षेत्र) में पहुँचे । वहाँ उन के साथ सारी बातें प्रत्यक्ष में हुई ।

उन के प्रयोग क्षेत्र मे घूम-घूम कर और वहाँ के कार्यकर्ताओं से बातें कर के साधु जीवन की मर्यादा के साथ समाज-निर्माण के कार्यों का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया । इस सारी गतिविधि से पण्डितजी महाराज परिचित रहते थे और योग्य परामर्श देने का प्रयत्न करते । जब मैं ने साधुता की मर्यादा में रहते हुए व्यापक दृष्टि से समाज निर्माण के कार्य में पड़ने की दृष्टि से सम्प्रदाय की कुछ अहितकर, युगबाह्य, विकासबाधक रूढियाँ और किले-बंदियाँ तोड़ने के अपने विचार से पण्डितजी महाराज को अवगत कराया, तो उन्हों ने इस सम्बन्ध में मौन रखा । न प्रोत्साहन दिया और न हतोत्साहित किया । मौन इस लिए रखा कि वे इस बात से सहमत होते हुए भी कई साम्प्रदायिक मर्यादाओं को स्वयं तोड नहीं सकते थे । इस लिए वे इस बारे मे

स्वयं कुछ कहने में असमर्थ थे। फिर भी जब मैं ने श्रमण-संघ के उपाचार्य स्व. पूज्यश्री गणेशीलालजी महाराज तथा श्रमण-संघीय मंत्री मुनि-मण्डल की सेवा में 'नम्र निवेदन' और 'खुला पत्र' भेजा, जिस मे व्यापक दृष्टि से श्रमणों की आचार-संहिता की रूपरेखा और संशोधन-परिवर्धन के कुछ मुद्दे प्रस्तुत किए गए थे, उस पर काफी प्रतिक्रिया हुई। परन्तु कुछ विशिष्ट विचारक मूर्धन्य संतों—जिन मे एक पण्डितजी महाराज भी थे, ने मेरी उक्त कार्यवाही का विरोध कभी नहीं किया, बल्कि वे अनुकूल वातावरण बनाने की दिशा मे प्रयत्न करते रहे। साधु जीवन में इस नए मोड के कारण श्रमण-संघ के भूतपूर्व उपाचार्यश्रीजी महाराज द्वारा हमें श्रमण-संघ से पृथक् कर दिए जाने के बावजूद भी पण्डितजी महाराज की हमारे साथ सहानुभूति, आत्मीयता और स्नेहभावना पूर्ववत ही रही। वास्तव में वे नवीन विचारधारा मे काफी रुचि रखते थे।

श्रमण-संघ के निर्माण मे योगदान :

श्रमण-संघ के निर्माण और विकास में पण्डितजी महाराज का अमूल्य योगदान रहा। श्रमण-संघ बनने के समय आचार्य पदवी के विलीनीकरण, मंत्रीपद-वितरण, नयी और पुरानी विचारधारा के साधुओं का पारस्परिक समन्वयीकरण, नियमोपनियमों, परम्पराओं एवं मर्यादाओं में आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन कराने मे आप ने काफी परिश्रम किया। श्रमण-संघ के इतिहास मे इस अमूल्य योगदान के लिए आप का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

पदवियों से दूर :

इतना सब करने पर भी आप शास्त्रीय या संघीय पदवियों से हमेशा दूर रहे हैं। कई बार आप को पदवियों के लिए आग्रह किया गया, लेकिन आप हमेशा इस बात के लिए इन्कार करते रहे। कितना बड़ा त्याग और कितनी बड़ी निःस्पृहता थी!

साधुशिविर के बारे में उदासीनता :

सन् १९६१ में बम्बई के उपनगर माटुंगा मे पूज्य मुनिश्री सतनालजी महाराज

की प्रेरणा से जैन-जैनेतर, समस्त विचारक एवं युगद्रष्टा साधुसाध्वी-संन्यासी-साधकों का एक चातुर्मासिक शिविर सम्पन्न हुआ था। उस में मुख्य रूपसे कार्य करने वाले मुनिश्री सतबालजी महाराज और मैं दो थे। शिविर का उद्देश्य स्पष्ट था कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, आचार-विचारों एवं परम्पराओं के साधु-सन्यासी परस्पर मिल कर एक जगह बैठ कर साधु-संस्था के लिए सर्वमान्य कार्यक्रमों पर विचार करें, युगानुरूप समाज निर्माण के कार्यों में मर्यादा मान लेने का पुरुषार्थ करें। इस विषय में खास-खास विचारक साधुओं की सेवा में शिष्टमण्डल पहुँचा। पण्डितजी महाराज के पास भी पूना कुछ कार्यकर्ता पहुँचे। उन से शिविर प्रवेश के सम्बन्ध में अनुरोध किया गया। परन्तु पण्डितजी महाराज का इस सम्बन्ध में निराशाजनक उत्तर था– "साधुओं में सुधार होना कठिनतम है। कौन साधु अपने जमे-जमाए क्षेत्रों और भक्तों को छोड कर इस प्रकार के कष्टप्रद समाज रचना के कार्य में भाग लेना चाहेगा? मुझे तो विशिष्ट साधुओं में कोई ऐसा दीखता नहीं। मेरी अपनी एक सीमा है। मैं अपने वृद्ध संतों और माताजी (सतीजी) महाराज की सेवा की जिम्मेदारी छोड कर शिविर में भाग नहीं ले सकता।" समव है साधुवर्ग के बारे में अत्यन्त कटु अनुभवों के पश्चात् पण्डितजी महाराज के ये उद्‌गार निकले हों।

पूना में पुनः मिलन :

मैं जब सतबालजी महाराज का आशीर्वाद ले कर बम्बई के निकटवर्ती चींचण (महाराष्ट्र) से मद्रास चातुर्मास के लिए जा रहा था, तो बीच में पूना एक सप्ताह के लिए रुका। उस समय पण्डित श्रीमलजी महाराज पूना ही विराजमान थे। कई वर्षों के पश्चात हमारा परस्पर मिलन हुआ था, इस लिए प्रसन्नता होना स्वाभाविक था। पण्डितजी महाराज ने दूर-दूर से मेरे बारे में कुछ गलत अफवाएँ सुन रखी थी। अतः स्वाभाविक रूप से ही उन्होंने उन के बारे में मुझ से पूछा, मैं ने सारी गलतफहमियों का स्पष्टीकरण किया और उन के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया। सचमुच उन्हें यह जान कर बडी प्रसन्नता थी कि मेरा एक अन्तरग साथी प्रगति के मार्गपर है और उस धर्मक्रान्ति के मार्ग पर चलने में उसे संतोष है। पूना से विदाई के समय उनकी आँखें गीली हो गई

थीं। यह किसे पता था कि यही प्रत्यक्ष मिलन अन्तिम मिलन होगा। पर भविष्य के गर्भ में यही था।

निवृत्ति और आत्म-साधना में रुचि :

पण्डितजी महाराज की रुचि जवानी और प्रौढ अवस्था मे समाज सुधार एवं सामूहिक साधना की ओर थी, परन्तु ज्यों-ज्यों उम्र ढलती गई और जीवन की सन्ध्या निकट आती गई, त्यों-त्यों उनकी रुचि सामूहिक जीवन सुधार की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन सुधार की ओर मुडती गई। जीवन मे कई उतार-चढाव देख लिए थे। पूना में मिलन के समय भी मै ने उन में इसी प्रकार कि रुचि पाई। गत वर्ष मेरा चातुर्मास मेरठ था, तब उन से मेरा अपनी आत्म-साधना के बारे में पत्रव्यवहार हुआ। उन्हों ने मुझ से मेरी आत्म-साधना के बारे में हुए अनुभव का विस्तृत विवरण मागा। मैं ने अपनी आत्म-साधना का विस्तृत ब्यौरा ज्यो का त्यों लिख भेजा। इस पर उन्हों ने अपनी तीव्र जिज्ञासा व्यक्त की कि मैं भी इसी प्रकार की आत्म-साधना के मार्ग पर चलना चाहता हूँ। इस की विधि लिखें " मैं ने उन्हें जो अन्तिम विस्तृत पत्र उस के बारे में लिखा था, उस के पहुँचने से पहले ही वे इस भौतिक देह को छोड कर स्वर्ग सिधार गए। यों तो उन का स्वास्थ्य कुछ दिनों से गडबड चल रहा था, लेकिन हम सब के प्रिय पण्डितजी महाराज इतनी जल्दी हम सब के बीच से चले जाएँगे, यह स्वप्न में भी आशा न थी। किन्तु काल की कराल गति को कौन रोक सकता है? आत्म-साधना की जिज्ञासा के बारे में लिखा था कि " आप बुद्धिवादी और तर्क-प्रधान होने के कारण शायद मेरी आत्म साधना के अनुभवों को गप्प समझें।" इस पर उन्हों ने लिखा कि मैं इन्द्रियगम्य विषयों को अवश्य बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कस कर मानता हूँ, लेकिन अतीन्द्रिय विषयों में तो बुद्धि को एक ओर रखकर श्रद्धा के सहारे चलता हूँ।" इस पर से पण्डितजी महाराज के हृदय को जाना-परखा जा सकता है।

ऐसे थे पण्डितजी महाराज :

पण्डितजी महाराज जहाँ अत्यन्त तर्कशील थे, वहाँ वे अत्यन्त भावुक भी थे। जहाँ वे कर्मठ थे और समाहित के कार्यों में गहराई से भाग लेते थे, वहाँ

पद, प्रतिष्ठा और सम्मान से कोसों दूर थे। धनिकों को वे समझाते थे, और उन को धन का सदुपयोग करने की प्रेरणा देते थे, वहाँ अपने लिए या किसी अपनी संस्था के लिए धन-संग्रह कराने के लिए निर्लेप रहते थे। जहाँ वे संसार की मोहमाया छोड कर साधु बने थे, वहाँ अपनी माताजी महाराज (जो साध्वी थीं) एवं अपने गृहस्थ पक्ष के भाई सूरजमलजी महाराज, मामाजी भीवराजजी महाराज तथा चुन्नीलालजी महाराज (भाई) के साथ वात्सल्य सम्बन्ध से बन्धे हुए थे। उन की सेवा मे रत रहते थे। ऐसे थे पण्डितजी महाराज।

श्रद्धाञ्जलि

ऐसे आप्त-पुरुष पण्डितजी महाराज के प्रति हम सभी मुनि भावभक्ति पूर्वक अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। हमारा दुर्भाग्य रहा कि अन्तिम समय में स्थान की दूरी के कारण उन की सेवा में नहीं पहुँच सके। उन की आत्मा जहाँ भी हो, उसे शान्ति मिले, यही अन्तिम इच्छा है।

—मुनि नेमिचन्द्र

१०. मानवता की मंजुल मूर्ति

बात बहुत पुरानी है। सन् १९४६ के जून के माह की। परम श्रद्धेय महास्थविर ताराचन्दजी म., पण्डित प्रवर सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनिजी म. के साथ विहार करते हुए राजस्थान मे हम इन्दौर पहुँचे। वहाँ पूर्व ही श्रद्धेय श्री किशनलालजी म., प्रसिद्ध वक्ता सौभाग्यमलजी म. विराज रहे थे। श्रद्धेय गुरुदेव श्री का और उनका पारस्परिक स्नेह जन-जन के मन में श्रद्धा के दीप जलाने-वाला सिद्ध हुआ।

एक दिन अपराह्न में सभी सन्त शौच के लिए जंगल मे पहुँचे ही थे कि महामेघ उमड-घुमड कर आया, और देखते ही देखते वे काली-पीली घटाएँ

हजार-हजार धारा के रूप मे बरस पड़ीं। सभी सन्त पानी से तरबतर हो गए, इतना पानी बरसा कि चारों ओर पानी ही पानी हो गया, रास्ते रुक गए, हम सभी सन्त भीगते-भागते किसी तरह कपड़ा मार्केट में पहुँचे, जहाँ पण्डित प्रवर मुनिश्री श्रीमलजी म. विराज रहे थे। वह युग सम्प्रदायवाद का युग था। एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायवाले सन्तों से वार्तालाप करने में भी हिचकते थे, पर ज्यों ही हमें पं. श्रीमलजी म.ने आते हुए देखा, त्यों ही अपने स्थान से उठ कर हमारे स्वागत के लिए सामने आए और अत्यन्त स्नेह से सभी को मकान में ले गए। मुझे थर-थर काँपते हुए देख कर उन्हों ने मुझे अपना वस्त्र देते हुए कहा– मुनिजी, तुम अपने वस्त्र बदल लो। तभी उन के एक साथी मुनि, जो पण्डितजी म. से वय में और सम्भवतः दीक्षा में भी बड़े होंगे– उन्हों ने उन को रोकते हुए कहा– यह क्या कर रहे हो, संभोग लगेगा। उन्हों ने उन को विनय-पूर्वक उत्तर देते हुए कहा–संभोग लग जाएगा तो मुझे बाद में प्रायश्चित दे देना, पर इस समय तो इन को थर-थर कांपते हुए देख कर मेरी मानवता मुझे कहती है कि जल्दी से जल्दी इन के वस्त्र बदल दूं। और उन्हों ने मुझे आदेश देते हुए कहा– शीघ्र वस्त्र बदल दो। यह आदेश एक अधिनायक या अधिकारी का आदेश नहीं था, पर था मानवता की मजुल मूर्ति की आदेश, जिस में स्नेह छलक रहा था।

मैं ने नीर को आलपीन बनाकर पेश करते-हुए कहा– रहने दीजिए, मुनि श्री का धर्म खतरे में है। मेरी बात पूर्ण ही नहीं हुई थी कि चट से उन्हों ने कहा, धर्म खतरे में नहीं है, सम्प्रदाय खतरे में है। उन्हों ने अपने हाथ से मेरे वस्त्र बदले, और अपने बिस्तर पर मुझे सुला दिया, ऊपर से अपना कंबल ओढा दिया।

मैं उन्हें पुस्तक की तरह पढ़ने लगा– ये सम्प्रदाय में है, पर सम्प्रदायवाद से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। ये नेता भी हैं, कार्यकर्ता भी हैं, प्रभावशाली भी है और प्रतिभाशाली भी। शरीर में गजब की चुस्ती है, हृदय में स्फूर्ती है, व्यवहार में मस्ती है। हंसी तो इन की ऐसी है, जैसे मोतियों की बोरी ही खुल पड़ी हो।

पानी रुक गया, और संध्या होते-होते हम अपने स्थान पर पहुँच गए।

किन्तु उनका स्नेहास्पद वह व्यवहार आज भी स्मृति पटल पर चमक रहा है। और जब भी वह स्मरण आता है, तो हृदय श्रद्धा से उन के चरणों में नत हो जाता है।

श्रमण-संघ बनने के पश्चात् सादडी, सोजत और अजमेर में लम्बे समय तक उन के साथ रहने का अवसर मिला। सन्त सम्मेलनों के अवसर पर देखा कि उन में नेतृत्व की अद्‌भुत प्रतिभा है, पर उन मे नेतृत्व की भूख नहीं है। वे गुत्थियों को केवल सुलझाना ही नहीं जानते, अपितु दो विभिन्न तटों पर खडे आदमियों को एक स्थान मे मिलाना भी जानते हैं। उन के व्यक्तित्व की दीप्ति उन की सरलता में है, सरसता में है।

आज उनका भौतिक देह हमारे सामने नहीं है, पर वे यशःशरीर से आज भी हमारे सामने हैं, और भविष्य में भी रहेंगे। उन के वे मधुर-संस्मरण भुलाये नहीं जा सकते।

— देवेन्द्र मुनि, साहित्यरत्न

११. मानवता के सजग प्रहरी

विक्रम संवत २००८ में अखिल भारतीय साधु सम्मेलन सादडी, मारवाड के प्राङ्गण में हुआ था। उस समय मुझे सर्व-प्रथम पण्डित श्रीमलजी म. के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् तो सोजत, अजमेर, उदयपुर आदि कई स्थानों पर आप श्री का समागम होता ही रहा था। पण्डितजी म. को मैं ने अत्यन्त-निकटता से देखने का प्रयास किया था। वे जैसे बाहर से भव्य और आकर्षक लगते थे, वैसे ही वे अन्तरंग से भी भव्य और आकर्षक थे। उन का व्यक्तित्व एक महकते हुए फूलों के गुलदस्ते की तरह बहुरंगी था। वे सुधारवादी थे, स्पष्टवादी थे, आत्म-चिन्तक थे, और साथ ही सिद्धहस्त लेखक, कवि, गायक, प्रवक्ता आदि सब कुछ थे।

पण्डितजी म. को रुढीवाद कतई पसन्द न था, और न वे कभी उसे प्रश्रय ही देते थे। प्रत्येक वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसते, और जो वस्तु सत्य की कसौटी पर खरी उतरती, उसी को वे स्वयं के जीवन में अमल रूप देते और जनसमाज मे भी उसी का प्रचार करते थे।

पण्डितजी म. एक फक्कड प्रकृति के अलमस्त संत थे। कवि की भाषा में–

'हरआन खुशी हरआन हँसी
हरवक्त अमीरी है बाबा।
आलम-मस्त फकीर हुए तो,
क्या दिलगीरी है बाबा॥'

उनके खुशनुमा चेहरे पर वैराग्यमिश्रित गंभीरता सदा विराजमान रहती थी। दिलगिरी का कभी अनुभव नहीं करते थे। सदा प्रसन्न रहते थे। वे इतने स्पष्टवादी थे कि किसी की सत्य-तथ्य को विना हिच-किचाहट के प्रकट कर देते। किन्तु बात कहने की भी एक कला होती है। वह कला पण्डितजी म. में अद्-भुत थी। जब वे किसी बात को किसी व्यक्ति के समक्ष रखते, तो अगला व्यक्ति दिल और दिमाग पर विना वजन अनुभव किए ही उस बात को सहर्ष स्वीकार कर लेता था। यह उन के वाणी की निजी विशेषता थी।

पण्डितजी म. केवल वेष-रूप साधु ही नहीं थे, किन्तु वे अन्तर्द्रष्टा व उच्च कोटि के आत्म-साधक भी थे। आत्म-चिन्तन उनका प्रमुख लक्ष्य था। ध्यान-योग में विशेष निष्ठा रखते थे। वे अपने जीवन मे घटों तक ध्यान-योग की साधना-आराधना भी किया करते थे। जहाँ आत्म-चिन्तन और ध्यान-योग की विशिष्ट साधना चलती है, वहाँ मान-प्रतिष्ठा हानि-लाभ जैसी कोई भी बाह्य वस्तु साधक को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती। यह अनुभव पण्डितजी म. के जीवन मे मैं ने प्रत्यक्ष रूप मे देखा है। सादडी, सोजत, भीनासर आदि स्थलों पर होनेवाले साधुसम्मेलनों में जब पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता था, तब उस समय पण्डितजी म. को हमारे वरिष्ठ संत जन अत्यधिक आग्रह करते और कहते– आप किसी न किसी पद को स्वीकार करें। किन्तु पण्डितजी म. उनके प्रेम भरे आग्रह को बराबर टालते ही रहते थे। और मुख से यही कहते

हुए दिखलाई पडते थे कि आप मुझे किसी पद के बन्धन में न बान्धे। मैं स्वतन्त्र रह कर ही 'श्रमण-सघ' की सेवा करना चाहता हूँ। जो सेवा मैं स्वन्तत्र रह कर कर सकता हूँ, वह पद के शीकजों में आबद्ध हो कर नहीं। आप मुझे सेवा दें-काम दें। मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।

पण्डितजी महाराज को जैसे किसी पद का व्यामोह नहीं था, वैसे ही अपने नाम का शिष्य बनाने का मोह भी उन मे नहीं था। वे इन सभी झंझटों से अलग-थलग रह कर ही आत्म-साधना करना चाहते थे। जहाँ कभी उन के समक्ष शिष्य की बात चल पडती, तो वे कहते— भाई! मैं तो खुद ही शिष्य हूँ, फिर शिष्य बनाने की क्या आवश्यकता है? मुझे स्मरण है कि एक बार अजमेर में उपाध्याय कविसम्राट् श्री अमरचन्द्रजी महाराज के साथ पण्डितजी महाराज और हम सभी एक ही स्थान पर ठहरे हुए थे। चर्चा के दौरान मे शिष्य की बात निकल पडी। मैंने सहज रूप में पण्डितजी महाराज की ओर सकेत करते हुए कहा— शिष्य बनाना क्या बुरा है पण्डितजी महाराज? आप जैसे विचक्षण और विद्वान सतों को शिष्य बनाना ही चाहिए! आप अकेले ही अकेले आत्म-कल्याण का लाभ लूटते हैं, तो बिचारे किसी शिष्य का भी कल्याण करें, तो उस में हानि ही क्या है? आप श्री का निमित्त पा कर एक भव्य-आत्मा उत्कर्ष के सोपान पर चढे, तो आप का और उन का दोनों का हित ही तो है।

मेरी इस बात पर पण्डितजी महाराज मुस्कराते हुए बोले— मुनिजी! आप का कथन किसी अंश तक ठीक ही है, किन्तु मैं अपनी दृष्टि से शिष्य को आत्म-साधना मे बहुत बड़ा बाधक समझता हूँ। शिष्य के व्यामोह मे गिरने पर साधक अपनी आत्म-साधना समीचीन नहीं कर पाता। इस लिए मैं इसे कम पसन्द करता हूँ। पुनः मैंने उत्तर देते हुए कहा— "तो क्या पण्डितजी महाराज! आज दिन तक आप के और हमारे पूर्वज जो शिष्य बनाते चले आए हैं और वर्तमान में भी शिष्य बनाए जा रहे हैं और बन रहे हैं, वे सभी आप की दृष्टि से आत्म-साधना मे बाधक तत्त्व ही रहे होंगे, या हैं।" इस पर पण्डितजी महाराज मेरी ओर देखते हुए बोले— "मुनिजी! मैं तो अपनी बात कहता हूँ। कोई शिष्य बनाएँ, तो बनाएँ, इस मे मुझे कोई एतराज नहीं। मुझे तो अपने नाम का

शिष्य नहीं बनाना है।" बात वहीं समाप्त हो जाती है। और उस के बाद वर्ष के वर्ष भी बीत जाते हैं। किन्तु आज भी पण्डितजी महाराज के साथ की हुई उस चर्चा का स्मरण करता हूँ, तो उन का निश्छल स्नेहपूरित व्यवहार व निखरा हुआ विचारों का शुद्ध रूप मेरी आँखों के सामने चल-चित्र की भांति चक्कर काटने लगता है।

पण्डितजी महाराज के उक्त विचारों का ही यह साकार रूप है कि उन्हों ने अपने जीवन में अपने नाम का कोई शिष्य नहीं बनाया। आप श्री का यह त्याग वर्तमान युग में शिष्य और शिष्याओं के चक्कर में गिर कर इधर-उधर का दंभ युक्त मायावी प्रपंच रचाने व भटकने वाले साधु-साध्वियों के लिए एक प्रेरणा का उर्ज्जस्वल-स्रोत कहा जा सकता है।

पण्डितजी महाराज बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। मराठी-भाषा तो उनकी मातृभाषा ही थी। उस पर उनका अधिकार होना भी स्वाभाविक था। हिन्दी में आप श्री की कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, और कुछ अप्रकाशित हैं। समय पा कर वे भी प्रकाश में आने ही वाली हैं।

कविता के क्षेत्र में भी आप महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। दर्जनों वन्द काव्यों की रचना आप श्री ने की है। कविता भावप्रधान के साथ लालित्य व सानुप्रास युक्त है। आप श्री की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि उस में स्थान स्थान पर अपनी निरहङ्कारिता स्पष्ट झलकती दिखलाई देगी। कई कविताएँ तो ऐसी भी हैं- जिन में अपने नाम की गंध तक भी नहीं है।

आप श्री की प्रवचन शैली प्रभावोत्पादक थी। वाणी में ओज था। विचारों में क्रांति थी। विषय का प्रतिपादन सुन्दर रूप से करते थे। मैंने आप श्री के कई प्रवचन सुने हैं। प्रवचनों में अध्यात्मवाद का पुट तो रहता ही था, किन्तु इससे भी बढ़कर वे मानव की 'मानवता' पर विशेष बल प्रदान करते हुए दिखलाई पड़ते थे, जिसका मूल कारण पण्डितजी म. स्वयं सच्चे मानवतावादी थे। वे अन्य वाद को पसन्द करते या न भी करते, किन्तु 'मानवतावाद' तो उन्हें अवश्य प्रिय था। क्यों कि- मानव ही विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह

हुए दिखलाई पड़ते थे कि आप मुझे किसी पद के बन्धन में न बान्धे। मैं स्वतन्त्र रह कर ही 'श्रमण-संघ' की सेवा करना चाहता हूँ। जो सेवा मैं स्वतन्त्र रह कर कर सकता हूँ, वह पद के शीकंजों में आबद्ध हो कर नहीं। आप मुझे सेवा दें—काम दें। मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।

पण्डितजी महाराज को जैसे किसी पद का व्यामोह नहीं था, वैसे ही अपने नाम का शिष्य बनाने का मोह भी उन में नहीं था। वे इन सभी झंझटों से अलग-थलग रह कर ही आत्म-साधना करना चाहते थे। जहाँ कभी उन के समक्ष शिष्य की बात चल पड़ती, तो वे कहते—भाई! मैं तो खुद ही शिष्य हूँ, फिर शिष्य बनाने की क्या आवश्यकता है? मुझे स्मरण है कि एक बार अजमेर में उपाध्याय कविसम्राट् श्री अमरचन्द्रजी महाराज के साथ पण्डितजी महाराज और हम सभी एक ही स्थान पर ठहरे हुए थे। चर्चा के दौरान में शिष्य की बात निकल पड़ी। मैंने सहज रूप में पण्डितजी महाराज की ओर संकेत करते हुए कहा—शिष्य बनाना क्या बुरा है पण्डितजी महाराज? आप जैसे विचक्षण और विद्वान संतों को शिष्य बनाना ही चाहिए! आप अकेले ही अकेले आत्म-कल्याण का लाभ लूटते हैं, तो बिचारे किसी शिष्य का भी कल्याण करें, तो उस में हानि ही क्या है? आप श्री का निमित्त पा कर एक भव्य-आत्मा उत्कर्ष के सोपान पर चढ़े, तो आप का और उन का दोनों का हित ही तो है।

मेरी इस बात पर पण्डितजी महाराज मुस्कराते हुए बोले—मुनिजी! आप का कथन किसी अंश तक ठीक ही है, किन्तु मैं अपनी दृष्टि से शिष्य को आत्म-साधना में बहुत बड़ा बाधक समझता हूँ। शिष्य के व्यामोह में गिरने पर साधक अपनी आत्म-साधना समीचीन नहीं कर पाता। इस लिए मैं इसे कम पसन्द करता हूँ। पुनः मैंने उत्तर देते हुए कहा—"तो क्या पण्डितजी महाराज! आज दिन तक आप के और हमारे पूर्वज जो शिष्य बनाते चले आए हैं और वर्तमान में भी शिष्य बनाए जा रहे हैं और बन रहे हैं, वे सभी आप की दृष्टि से आत्म-साधना में बाधक तत्त्व ही रहे होंगे, या हैं।" इस पर पण्डितजी महाराज मेरी ओर देखते हुए बोले—"मुनिजी! मैं तो अपनी बात कहता हूँ। कोई शिष्य बनाएँ, तो बनाएँ, उस में मुझे कोई एतराज नहीं। मुझे तो अपने नाम का

शिष्य नहीं बनाना है।" बात वहीं समाप्त हो जाती है। और उस के बाद वर्ष के वर्ष भी बीत जाते है। किन्तु आज भी पण्डितजी महाराज के साथ की हुई उस चर्चा का स्मरण करता हूँ, तो उन का निश्छल स्नेहपूरित व्यवहार व निखरा हुआ विचारों का शुद्ध रूप मेरी आँखों के सामने चल-चित्र की भांति चक्कर काटने लगता है।

पण्डितजी महाराज के उक्त विचारों का ही यह साकार रूप है कि उन्हों ने अपने जीवन मे अपने नाम का कोई शिष्य नहीं बनाया। आप श्री का यह त्याग वर्तमान युग मे शिष्य और शिष्याओं के चक्कर में गिर कर इधर-उधर का भ्रम युक्त मायावी प्रपंच रचाने व भटकने वाले साधु-साध्वियों के लिए एक प्रेरणा का उज्ज्वल-स्रोत कहा जा सकता है।

पण्डितजी महाराज बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। मराठी-भाषा तो उनकी मातृभाषा ही थी। उस पर उनका अधिकार होना भी स्वाभाविक था। हिन्दी मे आप श्री की कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, और कुछ अप्रकाशित हैं। समय पा कर वे भी प्रकाश मे आने ही वाली हैं।

कविता के क्षेत्र मे भी आप महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। दर्जनों खन्ड काव्यों की रचना आप श्री ने की है। कविता भावप्रधान के साथ लालित्य व सानुप्रास युक्त है। आप श्री की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि उस मे स्थान स्थान पर अपनी निरहंकारिता स्पष्ट झलकती दिखलाई देगी। कई कविताएँ तो ऐसी भी हैं- जिन मे अपने नाम की गंध तक भी नहीं है।

आप श्री की प्रवचन शैली प्रभावोत्पादक थी। वाणी मे ओज था। विचारों मे क्रांति थी। विषय का प्रतिपादन सुन्दर रूप से करते थे। मैंने आप श्री के कई प्रवचन सुने हैं। प्रवचनों में अध्यात्मवाद का पुट तो रहता ही था, किन्तु इससे भी बढ़कर वे मानव की 'मानवता' पर विशेष बल प्रदान करते हुए दिखलाई पड़ते थे, जिसका मूल कारण पण्डितजी म. स्वयं सच्चे मानवतावादी थे। वे अन्य वाद को पसन्द करते या न भी करते, किन्तु 'मानवतावाद' तो उन्हें अवश्य प्रिय था। क्यों कि- मानव ही विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह

अनन्त शक्ति का स्रोत है। अतुल आनन्द का पुंज है। तभी तो प्रकृति की अनन्त सुषमामयी गोद में पलनेवाले कवि की हृदय तन्त्री इस रूप में झंकृत हुई है—

' विहंग सुन्दर, सुमन सुन्दर, पर मानव तुम हो सुन्दरतम। '

अहा! जब मानव इतना सुन्दर से सुन्दरतम है, तो उस की मानवता उस से कितनी महान् से महानतर हो सकती है। हीरों के मूल्यों से भी उसका मूल्यांकन नहीं आंका जा सकता।

पण्डितजी महाराज मानवता के खरे पारखी थे। मानवता के सच्चे पुजारी थे और थे मानवता के सजग-प्रहरी। उन के अणु-अणु में मानवता के प्रति प्रेम-स्नेह का विराट सागर ठाठे मार रहा था। जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण आपका कविता साहित्य है। उस में स्थान-स्थान पर मानव की मानवता के कई उज्ज्वल चित्र चित्रित किए हुए मिलेंगे।

आप श्री का कण्ठ-स्वर भी अत्यन्त मधुर था। फक्कड आनन्दघन के पद आप को विशेष प्रिय थे। कई बार मैं ने आनन्दघन के भजन गाते हुए उन्हें देखा। वे बडी मस्ती से गाते थे। सुननेवाले श्रोतागण भी उन के साथ-साथ झूम उठते थे।

आप श्री के विचारों में– आध्यात्मिक, सामाजिकता व राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता था। सम्प्रदायवाद के अखाडे उन्हें कम पसन्द थे। ' श्रमण-संघ ' की आप श्री ने जिस निष्ठा के साथ सेवा की है, वह किन से भुलाई जा सकती है? अपनी भूतपूर्व सम्प्रदाय के गण-नायक साधु श्रमण-संघ से पृथक् हो गए और फिर से अपनी स्वतन्त्र सम्प्रदाय को भी कायम कर दिया। किन्तु आप श्री श्रमण-संघ में ही बने रहे, उस से विलग नहीं हुए। सम्प्रदाय के श्रावकों का दबाव भी आप श्री पर कम नहीं डाला गया। उस के बावजूद भी अविचल भाव से अपने साथी मुनियों के साथ श्रमण-संघ में अटल बने रहे। यह पण्डितजी महाराज के फक्कड जीवन का कितना सुन्दर व महान् परिचय है।

अपनी संयमी मातेश्वरी की रुग्णावस्था के कारण तथा स्वयं के नेत्रों पर मोतियाबिन्दु आ जाने के कारण कुछ समय तक आप श्री को पूना (महाराष्ट्र)

में एक स्थान पर स्थिर रहना पड़ा। फिर भी समय-समय पर अपने पावन विचारों से संघ संगठन का मार्ग प्रदर्शित करते ही रहे थे।

राजस्थानी व महाराष्ट्रीय जनता पर आप श्री का विशेष प्रभाव था। यद्यपि आप श्री अल्पायु में ही संसार से विदा हो गए, किन्तु आप श्री के गुण और कार्यों की सौरभ जन-जन के अन्तर्मानस में आज भी महक रही हैं, और भविष्य में भी महकती रहेगी। कवि के शब्दों में—

"इत्र की मिट्टी में मिल कर भी महक जाती नहीं।
तोड़ भी डालो तो हीरे की चमक जाती नहीं॥"

—श्री गणेशमुनि, 'साहित्यरत्न'

१२. ज्योतिर्मय जीवन

परम श्रद्धेय आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज अस्वस्थता के कारण वि. स. १९९७ में भीनासर में चम्पालालजी बांठिया के हॉल में विराज रहे थे। उस समय पण्डित श्रीमलजी महाराज उन की सेवा में थे और मुझे भी सेवा का सौभाग्य मिला था। मैं ने देखा है कि पण्डितजी महाराज श्रद्धेय आचार्य श्री के सब से प्रिय शिष्य और अन्तरंग अन्तेवासी थे। वे उन्हें स्नेह की भाषा में 'सिरू' कहा करते थे। इस छोटे से शब्द में इतना अधिक स्नेह, माधुर्य और मिठास समाया हुआ था, जो 'पण्डितजी' शब्द में नहीं था।

मैं ने आचार्यश्री के एवं आप के जीवन को बहुत निकट से देखा है। आप सेवा-भक्ति, सरलता एवं निष्कपटता के कारण आचार्यश्री के जीवन में समा गए थे और आचार्यश्री की उदारता, चिन्तन की गंभीरता, विचारों को अभिव्यक्त करने की अद्भुत कला और जीवन की क्रान्ति को, आप ने अपने में आत्मसात् कर लिया था। शिष्य ने अपना शिष्यत्व गुरु के जीवन में विलीन कर दिया था, तो गुरु का व्यक्तित्व शिष्य के जीवन के कण-कण में व्याप्त हो गया था। ज्योतिर्धर आचार्य की ज्योति ने शिष्य भी ज्योतिर्मय बन गया।

पण्डितजी महाराज जो कुछ बने, जिस रूप में उन का जीवन निखर कर चमका-दमका और उन्हों ने जीवन के अन्तिम क्षण तक जो विकास किया, उस का मूल आचार्य श्री के वे क्रान्तिकारी विचार एवं उन का गम्भीर चिन्तन ही था। भले ही आज उन की परम्पराओं एवं आचार्य पद के उत्तराधिकारी कोई क्यों न हो, पर उन के विचारों को पचाने का, जीवन में उतारने का एवं जन-जन के मन-मन में प्रसारित और प्रचारित करने का श्रेय श्रेयपथ के पथिक श्रीमलजी महाराज को ही मिला। आचार्य श्री के चिन्तन एवं विचारों के सच्चे उत्तराधिकारी वे ही थे। क्यों कि उन के विचारों को उन्हों ने अपने जीवन में साकार रूप देने का प्रयत्न किया।

आज वे नहीं रहे ऐसा मैं नहीं सोचता, क्यों कि उन की सरलता, निष्कपटता, निश्छलता, सहज स्नेहभावना, सेवा-निष्ठा, निर्भयता और स्पष्टवादिता आज भी जीवित हैं और युग-युग तक ज्योतिस्तम्भ की तरह हमारे जीवन को आलोकित करती रहेगी।

—श्री मगन मुनि

१३. श्रेय-साधना के कुछ संस्मरण

जीवन में साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधक के लिए वह प्राण शक्ति है, जीवन प्रदायिनी है। उसी के माध्यम से साधक जीवन में दिव्यता, भव्यता एवं तेजस्विता को साकार रूप दे पाता है और अपनी जीवन-ज्योति, को अन्तर प्रतिमा को निखारने में सफल होता है। उस के द्वारा ही वह जीवन में सुखानुभूति का अनुभव करता है।

साधना-पथ के पथिक के लिए सचाई, प्रामाणिकता, ध्येयनिष्ठा एवं निस्पृहता को जीवन में सर्व प्रथम स्थान देना अनिवार्य है। उसे बाह्य प्रलोभनों एवं छलनाओं से सन्यास लेना पड़ता है। छल-प्रपन्चों से मुक्त-उन्मुक्त हुए बिना

साधना की ज्योति जीवन में प्रज्वलित नहीं हो सकती। छल-प्रपंचों के रहते हुए, जो कुछ उभर कर आएगा, वह आडम्बर, दिखावा एवं पाखण्ड ही होगा। और उस के द्वारा आत्म-कल्याण के नाम पर स्वयं को धोखा देना और भोले-भाले श्रद्धालु-अन्धश्रद्धालु भक्तों को अपने जाल में फँसाने का ही काम किया जाएगा।

छल-कपट जीवन में बुराइयों का अवतरित करनेवाला कीड़ा है। यह अपने साथ अनेक कीटों को ले कर आता है या बुराइयों के हजारों-हजार कीटों को जन्म देता है, कोटि-कोटि विकृतियों को उत्पन्न करता है। याद रखिए, बहुमूल्य कश्मीरी शाल में यदि एक कीड़ा भी लग जाए, तो पूरे शाल को कुतर-कुतर कर छलनी-सा बना देता है। इसी प्रकार छल-कपट एवं प्रलोभन के कीड़े जीवन साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। अतः साधक के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि वह इन दोषों से दूर रहने का प्रयत्न करे और निष्कपटता की ओर बढ़ने का प्रयास करे।

परम श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज के जीवन पृष्ठों का अनुशीलन करते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्हों ने साधना को जीवन में साकार रूप दिया था। उन के जीवन का कोई भी पृष्ठ ऐसा नहीं है, जो साधना के प्रकाश से आलोकित न रहा हो। उन का जीवन त्याग-विराग, स्नेह वात्सल्य, करुणा-दया आदि अनेक गुणों से आप्लावित रहा है। फिर भी पण्डितजी महाराज के जीवन में हम तीन विशेषताओं को अधिक विकसित रूप में देखते हैं-निस्पृहवृत्ति, निरहंकार भावना और रसना पर काबू-रसनेन्द्रियनिग्रह,

साधक जब घर परिवार का परित्याग कर के साधना-पथ पर बढ़ता है, तो उस का सब से पहला कर्तव्य यह है कि वह किसी भी तरह की लालसा एवं कामना न रखे। पर हम देखते हैं-घर, परिवार एवं धन-सम्पत्ति का व्यामोह त्याग देने वाले कई साधक जब शिष्य शिष्याओं का प्रश्न आता है, पद और प्रतिष्ठा की समस्या सामने आती है, तब उस का व्यामोह नहीं छोड़ पाते। शिष्य-शिष्याओं एवं पदों के परिग्रह को ले कर कभी-कभी सन्त-सतियों में संघर्ष भी छिड़ जाते हैं। आपस में कटुता आ जाती है और तनाव बढ़ जाता है। परन्तु पण्डितजी महाराज शिष्य बनाने के रोग से सर्वथा मुक्त थे। अनेक योग्य व्यक्ति उन का

शिष्यत्व स्वीकार करने को आए, परन्तु उन्हों ने सब को इन्कार कर दिया। उन का सब के लिए एक ही रटा-रटाया उत्तर था कि मैं शिष्य बना हूँ और अन्त तक शिष्य ही बना रहना चाहता हूँ। तुम अन्यत्र जहाँ चाहो, वहाँ साधना का मार्ग स्वीकार कर सकते हो।

पद को वे सदा उपाधि एवं व्याधि समझते थे। उन का कहना था— जिस व्यक्ति को समाज, संघ एव धर्म की सेवा करनी है, उसे पदों से दूर रहना चाहिए। पदों के बोझ से बोझिल व्यक्ति ही सेवा कर सकता है, ऐसा नहीं है। सेवा के लिए मन में कर्तव्य-भावना, दया-करुणा एवं स्नेह होना चाहिए। जिस व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में केवल पदों के प्राप्त करने की बुभुक्षा है, वह व्यक्ति चाहे जितने पद स्वीकार कर ले, उस से कदापि समाज का हित नहीं होता। अतः सामाजिक विकास के लिए पद नहीं, कर्तव्य-परायणता चाहिए।

यही कारण है कि परम श्रद्धेय पूज्य-गुरुदेव श्री गणेशीलालजी महाराज ने जयपुर में आप को भूतपूर्व सम्प्रदाय का दायित्व सम्भालने के लिए कहा, तब आपने स्पष्ट शब्दों में आचार्य पद लेने से इन्कार कर दिया। उस के बाद भीनासर सम्मेलन में आप की इच्छा के विपरीत मंत्रिपद प्रदान किया, तो आप ने तुरन्त मंत्रि पद से त्याग-पत्र दे दिया और जब तक त्याग-पत्र स्वीकार नहीं किया गया, तब तक मन पर से चिन्ता का बोझ नहीं उतरा। जब कि अनेक साधु पद के लिए विभिन्न प्रकार से जोड-तोड लगाने का एव प्रतिष्ठित साधुओं से सिफारिश कराने का प्रयत्न करते रहते हैं।

सचमुच में यदि पद-लिप्सा का व्यामोह न रहे, तो संघ एव समाज की बहुत-सी विषमताएँ सहज ही समाप्त हो जाएँ। परन्तु आज तो यह रोग भयंकर रूप धारण कर रहा है। किन्तु पण्डितजी महाराज के जीवन में प्रारम्भ से अन्त तक पद की लालसा नहीं रही। उन्हों ने जीवन की अन्तिम साँस तक श्रमण संघ को दृढ बनाने के लिए कार्य किया और इतना कार्य किया, जितना पदवीधर भी नहीं कर पाए।

पद का ही नहीं, परन्तु अपनी प्रतिष्ठा बढाने एवं संस्थाओं की स्थापना कर के अपना नाम फैलाने की कामना भी उन में नहीं थी। वे चाहते तो अपने

नाम से संस्था की स्थापना भी कर सकते थे, परन्तु वे सदा इस परिग्रह से भी मुक्त-उन्मुक्त रहे।

वस्त्र भी वे उतने ही रखते थे, जितने लज्जा निवारण एवं शीत-ताप से बचने के लिए आवश्यक होते। मैं ने स्वयं देखा है—वे एक टाट बिछा कर मस्ती से सो जाते थे और सर्दियों में भी एक खादी की चद्दर और गाती से काम चला लेते थे।

रसना पर इतना कंट्रोल था कि समय पर जैसा आहार मिल गया, उसी को मस्ती से खा कर प्रसन्न रहते। चाहे ठण्डी रोटी हो, जवार या बाजरे की रोटी हो और साथ में सब्जी हो या चटनी, उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं रहती थी। वे कहा करते थे कि साधु का भोजन स्वाद के लिए नहीं, संयम निर्वाह के लिए होता है। समय पर जो शुद्ध आहार मिल गया, उसी से बुभुक्षा को शान्त कर के साधना में संलग्न रहना ही हमारा कर्तव्य है।

मैं ने देखा है- उन के जीवन में सादगी, सरलता और निष्कपटता के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वे जो कुछ अन्दर में थे, वही बाहर में। उन का जीवन एक खुली पुस्तक जैसा था, जो चाहे और जब चाहे, पढ़ ले। न उन के जीवन में दुराव था और न छिपाव। आज भौतिक शरीर की अपेक्षा वे हमारे मध्य में नहीं रहे, परन्तु उन की साधुता, सरलता, निष्कपटता, निस्पृहता आज भी जीवित है और युग-युग तक जीवित रहेगी।

— श्री सुमेर मुनि

१४. मेरी श्रद्धा के केन्द्र

सन १९५२ में मैं पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के साथ सादड़ी-सम्मेलन में जा रहा था। हम अलवर से जयपुर पहुँचे, यहाँ श्रद्धेय उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज और पण्डित श्रीमलजी महाराज पहले से ही

विराज रहे थे। यह मेरा प्रथम ही सौभाग्य था कि उस महान् विभूति के दर्शन का लाभ ले सका। मैं ने उन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था। उन की आलोचनाएँ भी यदा-कदा होती रहती थी और कभी-कभी बहुत ही तीखी भाषा में होती थी। मुझे भी उन के स्वभाव से परिचित किया गया। मैं ने केवल आलोचनाएँ ही नहीं, प्रशंसाएँ भी सुन रखी थी। उन के जीवन के उज्ज्वल पृष्ठों से भी मैं पूर्णतः अनभिज्ञ नहीं था। अतः मेरे मन में झिझक थी कि उन से कैसे परिचय करूँ। और कितना करूँ? परन्तु जब मैं ने प्रवचनों एवं विचार चर्चाओं में उन के विचार सुने और उन के विशाल अध्ययन एवं गम्भीर चिन्तन को देखा-परखा, तो मेरा अज्ञान दूर हो गया। और उन के निकट में आने का प्रयत्न करता रहा। एक दिन रात को उन के समीप बैठा और झिझकते हुए कुछ बातें की। परन्तु जब उन्हों ने मेरे विचारों को आत्मीयता से सुना और खुल कर मेरे प्रश्नों का समाधान करने लगे, तो मेरी झिझक भी दूर हो गई और उसी दिन से मैं उन का बन गया।

उन के जीवन में अनेक गुण थे, परन्तु यह एक विशेषता थी कि वे अपरिचित को भी परिचित बनाने की कला में प्रवीण थे। उन के मन में न विद्वत्ता का अहंकार था और न छोटे-बड़े का भेदभाव। वे अपने पास जिज्ञासा लेकर आनेवाले हर व्यक्ति को आदर-सन्मान देने से नहीं चूकते थे। इस लिए वे मेरी श्रद्धा के केन्द्र बन गए। उस के बाद मुझे पण्डितजी महाराज की सेवा के अनेक अवसर मिले, वर्षों तक उन के सान्निध्य में रहा। मैं ने उन को बहुत निकट से देखा, तो समझ पाया कि उन के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ कहा गया और कहा जा रहा है, वह सब व्यक्तिगत ईर्ष्या और साम्प्रदायिक विद्वेष भाव से कहा जा रहा है। सत्य-तथ्य कुछ नहीं है।

उन के जीवन में सरलता, स्पष्टता तो थी ही, परन्तु सेवा-भाव भी कम नहीं था। मैं ने देखा है— छोटे से छोटे साधु की सेवा का भी जब कभी प्रसंग आता, तो तन्मयता से उस में लग जाते थे। प्रवचन, लेखन एवं विचार-चर्चा में जितना रस लेते, उतना ही रस सेवा में लेते थे। सेवा करते समय वे अपना सब कुछ भूल जाते थे। चाहे कोई उन का कितना ही आलोचक क्यों न रहा हो, जब उस की सेवा का प्रसंग आता, तो वे आलोचनाओं को विस्मृति के गहन अन्धकार में फेंक कर सेवा में संलग्न हो जाते। मैं ने उन से एक बार कहा— जिस

साधु के जीवन की ओर आप इतना ध्यान दे रहे हैं, वह वही व्यक्ति है जिस ने इधर-उधर की बिना सिर-पैर की बातें घड कर आप की प्रतिष्ठा को गिराने का प्रयत्न किया। इस के लिए आप इतना कष्ट क्यों उठाते हैं? उन्हों ने एक मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा– 'मुझे यह देखने का अवकाश ही नहीं है कि कौन व्यक्ति मेरे लिए क्या करता है? चाहे किसी ने कुछ भी क्यों न किया हो, मैं उस का लेखा-जोखा लेने क्यों बैठूं? मेरी मानवता मुझे यही प्रेरणा देती है कि इस की वेदना को दूर करने में सहायक बन सकूँ। अपनी ओर से जितना हो सके हर व्यक्ति का हित करना, मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

इतना विशाल, उदार एवं विराट् हृदय था पण्डितजी महाराज का। वे भले ही एक सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित-शिक्षित हुए और एक सम्प्रदाय विशेष में रहे भी, परन्तु साम्प्रदायिक घेरे में बन्द हो कर नहीं रहे। किसी भी सम्प्रदाय का साधु-साध्वी क्यों न हो, वे सब से प्रेम-स्नेह से मिलते थे, सब के साथ स्नेह के साथ विचार-विमर्श करते थे और आवश्यकता पडने पर उन्हें सहयोग भी देते थे।

मैं ने देखा है कि उन के मन में साधु समाज के साम्प्रदायिक बाडे-बन्दियों से मुक्त देखने की प्रबल भावना थी। इस लिए सादडी में श्रमण-संघ बनाने के लिए आपने अथक श्रम किया। सादडी, सोजत, भीनासर सम्मेलन के समय तथा जोधपुर के संयुक्त वर्षावास के अवसर पर आपने श्रमण-संघ के सुदृढ बनाने में पूरा सहयोग दिया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रमण संघ के विकास के लिए कार्य करते रहे।

दुख है, मन में अतिवेदना है कि वे आज नहीं रहे। परन्तु पण्डितजी महाराज का कार्य आज भी जीवित है और युग-युग तक ज्योति-स्तम्भ की तरह हमारा-पथ प्रदर्शन करता रहेगा।

—विनोद मुनि

१५. मेरे प्रेरणा-स्रोत : पण्डितजी

पण्डित श्रीमलजी महाराज को मैं ने निकट से, अतिनिकट से देखा है, उन के व्यक्तित्व को अन्तर्हृदय से निरखा और परखा है। आप ने जैन समाज के प्रतिभा-सपन्न, प्रभावशाली, क्रान्तदर्शी, ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के उपदेशामृत से प्रभावित हो कर ग्यारह वर्ष के बाल्यकाल में साधना-पथ पर कदम रखा। आप का जन्म महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में तेल-कुटगॉव मे हुआ, परन्तु अखिल भारत आप की कर्मभूमि रहा। आप केवल एक प्रान्त के सन्त नहीं, सम्पूर्ण भारत के सन्त थे। भारत के सभी प्रान्त आप की साधना की ज्योति से आलोकित होते रहे है।

आप का अध्ययन बहुत गहन-गम्भीर था। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी एवं गुजराती पर आप का पूर्ण अधिकार था। जैन आगमो एव जैन दर्शन-साहित्य का आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया था। इस के अतिरिक्त बौद्ध एवं वैदिक-दर्शनों का तथा हिन्दी-साहित्य का भी आप ने सागोपाग अध्ययन किया है। आप अपने जीवनकाल में सैकड़ों ग्रन्थों का अनुशीलन कर चुके थे।

स्थानकवासी समाज को करीब ४५ वर्ष तक निरन्तर आप की सेवा का लाभ मिलता रहा। आप के मन मे समाज को, संघ को एक रूप मे देखने की प्रबल भावना थी। इस लिए सघ-सगठन के लिए आप ने अथक परिश्रम किया और अपनी प्रखर बुद्धि एव अपरिमित कर्तृत्व-शक्ति से स्थानकवासी समाज की बिखरी हुई कडियों को संगठित करने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आप साधु-संगठन के पुरस्कर्ता थे। सादडी-सम्मेलन मे श्रमण-सघ के निर्माण मे जो सफलता मिली और सोजत एवं भीनासर मे उस का अंकुर पल्लवित एवं पुष्पित हुआ, उस के श्रेय में आप का बहुत कुछ हिस्सा रहा है।

आप का जीवन ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय तो था ही, पर आप स्वभाव से सरल, शान्त, विनम्र एवं सेवाभावी सन्त थे। आपका चेहरा सदा हंसमुख रहता था और आपकी प्रकृति मिलनसार थी। जो भी सन्त मिलता भले ही वह किसी सम्प्रदाय या किसी परम्परा का क्यों न रहा हो, आप उस मे स्नेह से

मिलते और उस के जीवन को प्रेम-स्नेह से आप्लावित कर देते। सम्प्रदाय विशेष में रहते हुए भी, आप सम्प्रदायवाद के घेरे से सर्वथा मुक्त उन्मुक्त रहते थे।

आप की वक्तृत्व-कला गजब की थी। आप की वाणी में जादू था। आप के चिन्तन में गम्भीरता थी, गले में माधुर्य था और विचारों को अभिव्यक्त करने में स्पष्टता एवं निर्भयता थी, और प्राचीन से प्राचीन विषय को अर्वाचीन शैली में कहने की कला थी। इस लिए जन-जन के मन सहज ही आप की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहते।

आप प्रवक्ता ही नहीं, लेखक भी थे और कवि भी। यह बात अलग है कि आप ने अपने जीवन में अपनी पुस्तकें प्रकाशित नहीं की। परन्तु आप के द्वारा लिखा हुआ साहित्य बहुत है। कई काव्यों की भी आप ने रचना की थी। अभी तक वे प्रकाशित नहीं हुए। परन्तु परम प्रसन्नता की बात है कि पूना संघ ने 'पण्डित भीमल प्रकाशन' से उन के साहित्य को प्रकाशित करने की योजना बनाई। सचमुच में यही उन का सच्चा स्मारक है। उन की स्मृति जन-जन के मन में जीवित एवं जागृत रखने का इस से बढ़ कर और क्या साधन होगा?

पण्डितजी महाराज सब के स्नेही थे। परन्तु मेरे तो वे अन्तरंग साथी रहे हैं। मुझे उन से बहुत प्रेरणा मिली थी और अन्त तक मिलती रही। परन्तु दुःख है कि आज प्रेरणा-स्रोत पण्डितजी हमारे सामने नहीं हैं। परन्तु प्रेरणा का प्रदीप अभी भी हमारे हृदय में प्रज्वलित है और सदा रहेगा।

आप ने अपनी साधना का जो विकास किया और अन्त में समाधि भाव को साकार रूप दिया, उस का श्रेय जीवन में वैराग्य का बीज वपन करने वाली उन की पूज्य माताश्री विदुषी महासती श्री सूरजकुँवरजी महाराज को है। आप के सुसंस्कारों का ही प्रतिफल है कि आप आदर्श सन्त बन सके।

ऐसे महान् सन्त को मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। और यह शुभ भावना रखता हूँ— आप की आत्मा को चिर शान्ति मिले, अव्याबाध सुख एवं आनन्द मिले और आप के साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन कर के जन जन का जीवन सन्मार्ग की ओर बढ़े और सब समदर्शी बने।

— मालवकेसरी सौभाग्य मुनि

१६. एक महान् व्यक्तित्व

महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले मे कुडगॉव में पण्डित श्रीमलजी महाराज का सन् १९११ मे जन्म हुआ। आप के बाबा श्री भिवराजजी के मन मे संसार-त्याग की भावना उद्बुद्ध हुई। आपकी माता श्री सूजरकुँवरजी के मन मे वैराग्य का बीज अकुरित हुआ और उन्हों ने दीक्षा स्वीकार की। अपने बाबाजी एव पूज्य माताश्री के पुनीत भावों का प्रभाव बाल्वयी श्रीमलजी पर भी पड़ा। और सन् १९२२ मे सतारा में वे ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के पास दीक्षित हुए। उन की दीक्षा के दो वर्ष तक सन् १९२४ मे जलगाँव में पूज्य-गुरुदेव आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के हाथों से मेरी दीक्षा हुई। उसी दिन से मैं अपने ज्येष्ठ गुरु भ्राता के निकट परिचय मे आया। हम दोनों गुरुभ्राता बहुत निकट भी रहे और प्रसंगवश बहुत दूर भी रहे। पर हमारा स्नेह सदा अखण्ड बना रहा। ये सब जीवन के चल-चित्र आज भी मेरी आँखों के सामने हैं।

उन का स्वर बहुत मधुर एव सुरम्य था। बचपन मे जब वे गाते, तो जन-जन का मन-मयूर नृत्य करने लगता। अन्य विषयों के साथ संगीत भी उन का एक प्रिय विषय था। उन के द्वारा रचित गीत एवं कविताएँ आज भी 'श्रेयस्कर' के नाम से लोग गाते हैं।

आप का संस्कृत साहित्य, व्याकरण, एवं दर्शन-शास्त्र का अध्ययन पण्डित अम्बिका दत्तजी ओझा के द्वारा हुआ। आप का अध्ययन बहुत गम्भीर एवं व्यापक था। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, हिन्दी, मराठी एवं गुजराती भाषा पर भी आप का अधिकार था।

पूज्य-गुरुदेव की सेवा का सबसे अधिक लाभ आपने लिया। इसी का परिणाम है कि उन के व्यक्तित्व एव वक्तृत्व कला का निखार आप के जीवन में परिलक्षित होता है। हम सब गुरु भ्राताओं मे पूज्य-गुरुदेव की कृपा आप पर ही अधिक रही। उन का सम्बन्ध इतना घनिष्ट था, जितना भगवान महावीर और गौतम गणधर का रहा है। वे साधु-समाज मे एकरूपता देखना चाहते थे। इसलिए सादडी सम्मेलन में उन्हों ने श्रमण-संघ का निर्माण करने में अपना पूरा योगदान

दिया। सोजत और भीनासर सम्मेलन में आपने संघटन को बनाए रखने के लिए अत्यधिक श्रम किया और भीनासर में संघटन बिखरने के लिए योजनाबद्ध तैयारी कर के आए हुए एक वरिष्ठ अधिकारी मुनि के प्रयत्न विफल कर दिए।

वे जब तक भूतपूर्व उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के साथ रहे, तब तक श्रमण-संघ में दरार नहीं पड़ने दी। यदि श्रद्धेय उपाचार्यश्री के साथ आप रहते, तो उन का अलग होने का प्रसंग भी शायद नहीं आता। फिर भी श्रमण-संघ के प्रति आपकी इतनी निष्ठा थी कि उन के पृथक् होने पर भी आप श्रमण-संघ में ही रहे।

उन के जीवन में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वे वरिष्ठ एवं अधिकारी मुनियों का जितना आदर करते थे, उतना ही छोटे मुनियों से प्रेम-स्नेह रखते थे। इस लिए वे युवक मुनियों के भी श्रद्धा केन्द्र थे। कुछ सन्तों में मैंने यह देखा है—वे अपने आपको ज्ञान में, दर्शन में, साधना में उच्च एवं महान् समझ कर छोटे सन्तों के प्रति उपेक्षा रखते हैं। उनका संपर्क सम्मान्य सन्तों से ही अधिक रहता है। परन्तु मैं ने देखा है कि पण्डितजी महाराज का स्वभाव छोटे-बड़े सब में घुल-मिल जाने का था। वे छोटों और बड़ों को मिलाने के लिए एक सेतुरूप थे।

आप का जीवन निस्पृह था। आप का सम्पर्क लखपति एवं करोड़पतियों से रहा फिर भी कभी आप ने धन एवं धन-सम्पन्न व्यक्तियों को महत्त्व नहीं दिया। मैं ने एक बार उन से कहा था—'आप के कई सेठ भक्त हैं, अतः आप जो चाहें वह करा सकते हैं।' उन्हों ने कहा—'हाँ, तुम्हारा कथन सही है। यदि मैं कहूँ तो वे मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। परन्तु मैं स्वयं इस पक्ष से अपने आप को बचाए रखता हूँ। यदि अपने लिए इन से कुछ व्यय कराऊँ, तो मुझे सदा उन के बोझ से दबे रहना पड़ेगा और उन की प्रशंसा के झूठे-सच्चे पुल बान्धने होंगे। अतः मैं क्यों किसी के बोझ से अपने आप को बोझिल बनाऊँ?'

वे सम्प्रदायवाद, पन्थवाद एवं बाड़े बन्दी से सर्वथा मुक्त थे। उन्हें ऐसे क्षेत्र कम पसन्द थे, जहाँ रात-दिन साम्प्रदायिक संघर्ष चलते रहते थे। इसलिए वे राजस्थान के साम्प्रदायिक वातावरण से हट कर महाराष्ट्र में पधार गए और अन्त तक महाराष्ट्र में ही रहे।

सादडी-सम्मेलन के पूर्व मेरा पण्डितजी महाराज से कई वर्षों तक मिलने का प्रसंग नहीं आया। परन्तु सम्मेलन के पावन प्रसंग पर उन के दर्शनों का पुनः सौभाग्य मिला और पूर्व की स्मृतियाँ फिर से नई हो गईं। उन्हों ने मुझसे पूछा– तुम ने अपना कार्य क्षेत्र कौनसा चुना है? मैं ने बताया कि आदिवासियों में प्रचार कार्य करने का विचार कर रहा हूँ। मेरे विचारों से वे बहुत प्रसन्न हुए। उस के बाद भीनासर-सम्मेलन के समय पुनः उन के दर्शनों एवं सेवा का सुअवसर मिला, तब उन्हों ने– मैं ने अब तक क्या कुछ किया–इसका लेखा-जोखा माँगा। मैं ने उन्हें अपना कार्यक्षेत्र बदलने का कारण बताया।

सन् १९५५ में मेरा निम्बाहेडा वर्षावास था। व्याख्यान में कुछ खटीक भाई आते थे और वे जैन धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे। उन्हों ने मुझ से कहा– यदि आज हमारी खटीक जाति में धर्म प्रचार करें, तो बहुत लाभ होगा। हमारी आजीविका हिंसा की है और हमारी जाति में मांस-मदिरा का भी सेवन होता है। यदि आप के प्रयत्न से हमारी जाति के आचार एवं विचार में परिवर्तन आया, तो आदिवासी जाति की अपेक्षा विशेष महत् कार्य होगा। इस लिए मैं ने खटीक जाति के आचार-विचार को नया मोड देने का प्रयत्न शुरू कर दिया है।

उन्हों ने कहा– 'कार्य बहुत सुन्दर है। परन्तु जिस क्षेत्र में रह कर कार्य करना है, वहाँ की जैन समाज जातिवाद के कटघरे में बन्द है। उन में इतनी उदारता नहीं है कि जातिवाद से ऊपर उठ कर तुम्हें सहयोग दे सके। सम्भव है, वह तुम्हारी आलोचना कर के तुम्हारे मार्ग में अवरोध भी उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। यदि तुम्हारे में साहस, सहिष्णुता और दृढता है, तो इस कार्य को निस्संकोच भाव से हाथ में ले लो।'

सन् १९५६ में कुचेरा (राजस्थान) का वर्षावास परिसमाप्त कर के राजस्थान से महाराष्ट्र जाते समय वे जावद पधारे और मैं भी प्रचार कार्य करते हुए उन की सेवा में जावद पहुँचा। मेरा कार्य देख कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। जो जातिवाद की चार दिवारी के बाहर झाँक कर देखना नहीं चाहते थे, उन्हें समझाते हुए आप ने अपने प्रवचन में कहा। 'जैन धर्म जातिवाद को नहीं

मानता। व्यक्ति जाति से श्रेष्ठ और हीन नहीं है, उस की श्रेष्ठता का आधार आचार-विचार की पवित्रता ही है। मुनिजी जो कार्य कर रहे हैं, वह अपने आप में बहुत श्रेष्ठ है और जैन परम्परा के अनुरूप है। अतः आप सब को उन को सहयोग देना चाहिए।'

सन् १९६७ में मैं बम्बई से पूज्य गुरुभ्राता पण्डितजी महाराज के दर्शनार्थ पूना जा रहा था, तो आप ने सेवाभावी मगनमुनिजी एवं तपस्वी श्री किशन-लालजी को ५ मील दूर एक गाँव में मेरे सामने भेजा और उन के घुटने में दर्द होते हुए मेरे पूना प्रवेश के समय वे कुछ दूर मुझे लेने आए। उन का मेरे ऊपर अपार स्नेह और वात्सल्य था। स्थानक में पहुँचने पर उन्हों ने लोगों से मेरा परिचय देते हुए कहा—'कुछ व्यक्ति एवं साधु समाज से लेना सीखे हैं, देना नहीं। हमारे अतिथि मुनिजी साहस के साथ अपनी शक्ति का सदुपयोग कर रहे हैं। आप ने जिस सामिष जाति को निरामिष बनाया और उस के आचरण को सात्विक एव अहिंसामय बनाया, यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य को करते हुए इन्हें कितना सहन करना पड रहा है, यह मैं भली-भाँति जानता हूँ। समाज को चाहिए कि वे उन्हें उदार हृदय से सहयोग दें।' पण्डितजी महाराज के प्रेरणामय प्रवचन से सब के मन में प्रचार कार्य के प्रति श्रद्धा जागृत हुई।

मैं ५ दिन उन की सेवा में रहा। यह मेरा उन के साथ अन्तिम सहवास था। मेरी अन्तिम सेवा थी और ये ही मेरे अन्तिम दर्शन थे। मेरे मन में यह भाव ले कर गया था कि पुनः शीघ्र ही दर्शनों का लाभ मिलेगा। मेरे मन में यह कल्पना ही नहीं थी कि यह विराट् व्यक्तित्व इतनी जल्दी केवल हमारे हृदयों में एवं स्मृतियों में ही रह जाएगा।

उन का जीवन सरल, स्वच्छ एवं सीधा-सादा था। न उन्हें शिष्य का मोह था, न पद का। भीनासर सम्मेलन में उन्हें मंत्रीपद देने का निर्णय किया गया, परन्तु उन्हों ने स्पष्ट शब्दों में लेने से इन्कार कर दिया। उन्हों ने कहा—'मैं अपने पूज्य पुरुषों के निर्णय का अनादर करना नहीं चाहता, परन्तु मैं ने पद लेने और शिष्य बनाने का त्याग कर दिया है, इस लिए आप मुझे पद के बोझ से मुक्त रखें।'

वे केवल विचारक ही नहीं थे– क्रान्तिकारी प्रवक्ता और निर्भीक लेखक थे। अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की उन की शैली बहुत सुन्दर थी और विचार सुलझे हुए थे। सामाजिक, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक रूढ़ परम्पराओं में परिवर्तन करना आवश्यक लगता, उसे कहने में वे तनिक भी नहीं झिझकते थे। पण्डितजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत व्यापक था। ऐसे आदर्श सन्त एवं पूज्य गुरुभ्राता को शत-शत वन्दन-अभिवन्दन।

—समीर मुनि 'सुधाकर'

१७. पण्डितजी : एक स्पष्ट प्रवक्ता

परम श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज एक स्पष्ट प्रवक्ता, गम्भीर चिन्तक, उदार विचारक एव तेजस्वी सन्त थे।

श्रमण-सघ में प्रविष्ट होने के पूर्व वे एक विशिष्ट सम्प्रदाय के वरिष्ठ सन्त थे। परन्तु उन का जीवन सम्प्रदायवाद के बन्धन से मुक्त–उन्मुक्त था। वे सदा प्रसन्न वदन रहते थे। एक अविचल आभा से उनका मुखमण्डल सदा-सर्वदा आलोकित रहता था।

उनकी सेवा मे मुझे रहने के अनेक अवसर मिले और सदा उन की मेरे पर कृपा रही। अतः मैं उनके प्रति सदा से श्रद्धावनत रहा। आज वे भौतिक शरीर से हमारे बीच मे नही हैं, परन्तु उन के जीवन की ज्योति आज भी विद्यमान है, और भविष्य में भी रहेगी। मैं उन की स्नेह स्मृतियाँ आज भी मेरे हृदयपट पर अंकित हैं। उन के जीवन मे अन्य अनेक गुणों के साथ निर्भयता एवं स्पष्टवादिता का विशेष गुण था। सत्य कहने में वे कदापि हिचकिचाते नहीं थे। मुझे अपने से सम्बन्धित एक घटना का स्मरण हो रहा है, जिस की अमिट छाप आज भी मेरे मानस पर अंकित है।

सोजत-सम्मेलन के बाद परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज

ब्यावर पधारे। उस समय शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्व. पूज्य-गुरुदेव हजारीमलजी महाराज मेवाडी दरवाजे के बाहर शकरलालजी मुनोत के बगीचे मे विराज रहे थे। इस लिये श्रद्धेय उपाचार्यजी भी वहीं विराजे। उन के साथ परम श्रद्धेय उपाध्याय अमरमुनिजी महाराज और पण्डितजी महाराज तथा अन्य सन्त भी वहीं ठहरे।

उस समय तक पूज्य-गुरुदेव की आँखों के दो आपरेशन तथा वक्षस्थल पर स्थित एक ग्रन्थि का भी दो बार आपरेशन हुआ था। इस मे से श्रमण-संघ बनने से पहले तीन बार आपरेशन हुआ और चौथी बार श्रमण-सघ बनने के बाद। परन्तु अभी तक श्रमण-संघ की प्रायश्चित्त प्रणाली नहीं बनी थी। सभी सन्त अपनी पूर्व-परम्परा के अनुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कर के आत्मशुद्धि कर रहे थे। गुरुदेव ने अपना शुद्धिकरण करने के लिए प्रायश्चित्त ले लिया था।

परन्तु श्रमण-सघ के शास्ता इस से सन्तुष्ट नहीं थे। वे अपनी भूतपूर्व परम्परा के अनुरूप प्रायश्चित्त देना चाहते थे। मै ने संपूर्ण घटना पण्डितजी को सुना दी। वे तुरन्त वरिष्ठ शास्ता की सेवा में पहुँचे और विनम्र भाव से स्पष्ट शब्दो मे कहा—'जब तक एक प्रायश्चित्त प्रणाली नहीं बन जाती है, तब तक अपनी परम्परा के अनुसार लिए जाने वाले प्रायश्चित्त को हमें मान्य कर लेना चाहिए। प्रायश्चित्त हृदय की शुद्धि का प्रतीक है। वह स्वय लिया जाता है, दिया नहीं जाता।'

पण्डितजी महाराज के विचार उन के हृदय को स्पर्श कर गए। मेरा और पूज्य गुरुदेव का भी समाधान हो गया। मैं ने देखा और अनुभव किया कि सत्य कहने में वे जरा भी नहीं संकुचाते थे। और साथ मे पूज्य-पुरुषों को जो कुछ कहते वह भी विनम्र भाव से, अपनी विनम्रता एव आदर भावना को कम नहीं होने देते। ऐसे निर्भय प्रवक्ता एवं सरल हृदय सन्त को शत-शत वन्दन-अभिवन्दन।

— मुनि मिश्रीमल, 'मधुकर'

१८. श्रेयः प्रेयः समो हि सः।

विश्व में ऐसी विशिष्टतावाले पदार्थ अत्यन्त ही अल्प हैं, जिनमें श्रेयः और प्रेयः दोनों का समन्वय होता है। महाकवि भारवि ने "हित मनोहारि च दुर्लभं वचः" इस सूत्र से उक्त आशय का दिशा-सूचन किया है। जिस प्रकार एतद्रूप पदार्थ की दुर्लभतमता है, उसी प्रकार वैसे व्यक्ति भी बहुत कम प्राप्त होते हैं कि जिन्हों ने अपनी रुचि में उपर्युक्त सूत्र का शुभ समावेश किया हो। तथापि इस के अपवाद स्वरूप निर्ग्रंथ प्रवचन के आधार से वीतराग वाणी के उपासक अपने आप को तदनुरूप आदर्श बनाने का प्रयत्न करते हैं और वे प्रायः उस मे सफल भी होते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की साधना श्रेयः और प्रेयः दोनों की समन्वय भूमिका कही जा सकती है। प्रेयः माने जानेवाले अर्थ और काम दोनों चतुर्वर्ग के मध्यवर्ती साधन हैं, वे धर्म और मोक्ष के द्वारा परिधिकृत हैं। चतुर्वर्ग के आदि और अन्त में स्थित धर्म और मोक्ष में इन दोनों श्रेयों के बीच मे अर्थ और मोक्ष ये दोनों प्रेयः सीमित रूप मे अवस्थित है। चतुर्वर्ग का संस्थापन क्रम ही ऐसा है कि अर्थ और काम दोनों को अपना विस्तार क्षेत्र बढाने के लिए कहीं अवकाश ही नहीं है। क्यों कि अर्थ को धर्म अवरुद्ध करता है और काम को मोक्ष आगे बढने नहीं देता है। इसी से धर्म का अनादित्व और मोक्ष का अनन्तत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत विषय म चतुर्वर्ग के साधक को 'श्रेयः प्रेयः समो हि सः' कह दिया जाए, तो कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती। यद्यपि यह वस्तु अन्यान्य अनेक दृष्टियों से पल्लवित एवं पुष्पित की जा सकती है, तथापि यहाँ पर समाज एक अमुक व्यक्ति विशेष से प्राणवान था, उस के माध्यम से विचार-विमर्श किया जाएगा।

लेखक और उल्लेखनीय दोनों ही स्थानकवासी समाज के साथ विशेष सम्बंधित होने के कारण से प्रस्तुत विषय यहीं तक सीमित है, फिर भी यदि किसी समाज के लिए सोचने बैठें, तो उस की आचार मर्यादा उस के स्थायित्व के लिए श्रेयस्तत्त्व है और उस के सदस्यों का संगठन उस के प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रेयस्तत्त्व है। ऐसा मानने में कोई बाधक कारण मालूम नहीं होता। आचार

मर्यादा से स्व-पर उपयोगिता सिद्ध होती है, यह उस का श्रेयः पक्ष है। इसी प्रकार सगठन से अन्यान्य विचारकों को वह अपनी ओर आकृष्ट करता है, यह उसका प्रेयः पक्ष है। हो सकता है कि उपर्युक्त धारणा के अनुसार आज कई श्रेयोहीन समाज अपने अस्तित्वों को रखते हों और वे कदम-कदम पर अपने प्रेयः का जाल बिछा रहे हों। परन्तु उन के विषय मे मुझे यहाँ कुछ भी नहीं देखना है। मेरा अधिकार तो हम जिस के अग है, उसी के गुण-दोषों का गहराई से विचार करने का है और यही पर्याप्त है।

आज स्थानकवासी समाज की स्थिति को देखते हुए यह लिखने को बाध्य होना पडता है कि वह एक तरफ अपनी आचार मर्यादा को गौण बना कर श्रेयोहीन होने जा रहा है और दूसरी ओर चिरजीवी बनने के लिए सगठनादि बाह्य आकर्षणों के द्वारा प्रेयः परिपूर्णता की प्राप्ति मे अपने पडौसियों से होड लगाते हुए दौड रहा है। इस पर यह कहे बिना नहीं रह सकता कि एक म्रियमाण रुग्ण व्यक्ति को उस के पारिवारिक सदस्य औषधोपचार द्वारा स्वस्थ तो नहीं बनाते हैं, परन्तु उस को वस्त्रालकार से सुसज्जित कर रहे हैं। इस पर यह क्यों नहीं माना जाए कि प्रकृति उस की शव-यात्रा के लिए पूर्व भूमिका का निर्माण कर रही है। यदि यह सब सत्य है, तो नितान्त ही निंदनीय है। समाज की इमारत को जितना उस की आचार मर्यादा का पालन कर के आन्तरिक मजबूती से अधिक समय तक टिकाकर रखा जा सकता है, उतना उस के सगठन रूप बाह्य चित्रकारी की शोभा से नहीं रखा जा सकता।

प्रकृति का एक नियम-सा दिखाई देता है कि जब-जब समाज गिरने लगता है और उस के साथ सहानुभूति रखने वालों के मनों में एक मूक संवेदन होने लगता है, तब किसी भी स्थान विशेष से एक ऐसी आत्मा का पदार्पण होता है कि जिस के हाथों समाज की बहुत-सी विषमताओं को एक संतुलन में आने को बाध्य होना पडता है। ऐसे प्रसग में पण्डितवर्य श्री श्रेयमलजी महाराज को स्मरण किए बिना मुझ से नहीं रहा जाता। मैं ने उन को सर्व प्रथम अजमेर सम्मेलन मे देखा था। उस समय आप ज्योतिर्धर जवाहिराचार्य के सान्निध्य मे स्थानकवासी समाज के ज्वलन्त प्रश्नों को समझने मे लगे हुए थे। उस के पश्चात् स्थानकवासी समाज अजमेर-साधु सम्मेलन के समय उठाए गए कार्यों

के बोझ को मानों उतारने मे लग गया हो, ऐसा निश्चेष्ट-सा प्रतीत होने लगा। और धीमे-धीमे गफलत की गहरी नींद के खर्राटे लेने लग गया हो, ऐसा अनुभव हुआ।

लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष के इस लम्बे काल में समाज की अमुक इकाइयों ने अपनी-अपनी सम्प्रदायो को सुव्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया। किसी ओर आचार्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति की जाने लगी, तो किसी ओर क्रान्तिकारी कदम उठाए जाने लगे। विभिन्न प्रकार से काट-छाँट हो जाने पर भी जब सामूहिक रूप से समाज का ढाँचा सुव्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सका। तब सादडी-सम्मेलन की पूर्व भूमिका के रूप में सर्वैक्य योजना की सत-सूत्री अमल में आई। ज्यों-ज्यों सम्मेलन का समय निकट आता गया, त्यो-त्यों निराशा का वातावरण बढता गया। उस समय विचारकों के मस्तिष्क मे एक चीज उठी कि पहले की भाँति अब भी पूज्य श्री हुक्मीचदजी महाराज की सम्प्रदाय के दोनों दलों को एक करने के लिए मिश्रीलालजी जैसे सत्याग्रही सन्त कहीं से मैदान में आ कर तो टपक नहीं पड़ेंगे ! यदि ऐसा कुछ हो जाएगा, तो सब कार्यकर्ता एक उसी ओर लग कर, शेष प्रश्नों को यों ही अधर मे छोड देंगे। सौभाग्य की बात है कि उस समय पण्डित श्री श्रेयमलजी महाराज संयोजक के रूप में कार्य क्षेत्र मे उतर आए। कविवर्य उपाध्याय श्री अमरचदजी महाराज का भी इनको साथ मिल गया। ऐसा लग रहा था— मानो सोने मे सुगंध मिल गया हो।

आप जयपुर तथा अजमेर तक पूज्य श्री गणेशलालजी महाराज के साथ पधारे और इसी बीच में जवाहरीय और दिवाकरीय दोनों दलों को पूज्य श्री हुक्मीचदजी महाराज की सम्प्रदाय के रूप में व्यवस्थित कर दिया। इस से श्रमणों के मन मे एक संघ बना सकने का साहस हो गया। खास सादडी-सम्मेलन मे भी अनेकानेक उलझनों को सुलझाने में आप ने अच्छी तरह से दिमागी एवं शारीरिक सहयोग दिया था। उस के पश्चात् भी सोजत और भीनासर-सम्मेलन पर भी आप की उपस्थिति अपनी विशेषता सिद्ध करती गई। यह दूसरी बात है कि कुछ आन्तरिक कारणों से जब देखो तब कदम पीछे ही पीछे पडते गये और जनता के मन मे श्रमण-संघ के एवं संगठन के प्रति आस्था कम होती गई। फिर

भी पण्डितजी महाराज ने अपने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुरुभाई उपाचार्यश्री को आनेवाली अनेकानेक गुत्थियों मे नही उलझने देते हुए सुयश का भागी बनाए रखा। इस तरह जब तक साथ रहे तब तक उनकी भावुक प्रकृति का कोई अनुचित लाभ नहीं उठा ले ऐसी सावधानी रखी।

आखिर पूना विराजित स्थानापन्न संतों की एव सतिया-जिन में कि आपकी परम पूज्या माताजी थी, उन की सेवा मे आने के कारण राजस्थान से दूर महाराष्ट्र मे आ गए। इस मे उधर का सम्पर्क कम हो गया। उस ओर उपाचार्यश्री के पास कुछ ऐसे तत्त्व उत्तरोत्तर अपना स्थान अधिकाधिक मजबूत बनाते रहे, जिस के कारण उन को अपनी दिशा बदलने के लिए बाध्य होना पडा। श्रमण-संघ के साथ अपने सम्बन्ध समाप्त करते समय उन्हों ने पण्डितजी महाराज के सामने अपने विचार रखे और से उन जी राय मागी की भविष्य मे अपने उत्तराधिकारी के रूप मे पूज्य श्री हुक्मीचदजी महाराज से सप्रदाय के आठवें पाट पर आचार्य किसे बनाना। इस विषय पर खास विचार विनिमय भी किया। उस पर आपने बताया कि यदि आप असम्मिलित सभी वर्गों के साथ पूज्य गुरुदेव जवाहिराचार्य की जो योजना थी उस के अनुरूप एक नया सघ बनाए, तो मैं अपनी सेवाएं समर्पित करने को तत्पर हूं। इस के अलावा जब हम अपने आप को श्रमण-सघ के लिए विलीन कर चुके हैं, तब फिर से अपनी पुरानी सम्प्रदायक को पुनरुज्जीवित करना न तो वैधानिक ही है और न मुझे उस में कोई रुचि भी है। शिष्य बना कर अपनी परम्परा चलाने का भी मैं कभी से त्याग कर चुका हूँ। मैं श्रमण-सघ के किसी पद को भी ग्रहण करना नहीं चाहता, क्यों कि पद लेने का त्याग कर चुका हूँ।

इस प्रकार आप श्रमण-सघ में ही बने रहे, तब भी समय-समय पर आप अपने बडे गुरु-भाई भूतपूर्व उपाचार्यश्री की विचारधारा के अनुसार भी आचार पद्धति का अनुसरण करते रहे। यह आपकी उदारता थी। आपकी स्पष्ट एवं सुलझी हुई विचार धारा का प्रभाव मुनि श्री समदर्शीजी (आईदानजी) पर और प्रिय व्याख्यानी पं. मुनि सुमेरमलजी महाराज आदि पर भी पडा और वे भी श्रमण संघ मे ही रहे। बडे दुःख के साथ लिखना पडता है कि अगर अपनी अनुशासन पद्धति में श्रेयस्कारिणी समन्वय नीति का भी सम्मिश्रण रखा जाता, तो

विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि ज्योतिर्धर जवाहिराचार्य की परम्परा एक और ही प्रभावक शक्ति का आदर्श उपस्थित करती। और जिस प्रकार अनेक विद्वान एव योग्य सन्त आज तक उससे अलग होते रहे हैं, वैसा नहीं होता। मैं सोचता हूँ कि इस परम्परा के वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी महाराज अपने आजीवक तत्त्वों में से पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि के आधार बदल कर जरा उदार रुख अपना लें, तो अपने पूर्वजों के प्रति वर्तमान की जनता को अधिकाधिक आकृष्ट कर सकते हैं।

पण्डितजी महाराज में विद्वत्ता, समयज्ञता, और कार्यकुशलता के साथ सेवा का भी एक महान् गुण था। उस का अनुभव स्वय मुझे हुआ है। संवत २०१४ मे बंबई से जब पूना की ओर विहार हो रहा था। तब लोणावला में साइकल की दुर्घटना से पैर की हड्डी टूट गई थी। उस समय आप स्वय टाइफाइड के कारण अल्प अस्वस्थ थे, किन्तु दुर्घटना का सुनते ही मुनिश्री गोपीचदजी को अपने साथ ले कर एकदम लोणावला पधार गए। दिन रात एक कर के तन-मन से सेवा मे संलग्न हो गए। दर्दी जब वेभान हो, तब उस के द्वारा विना किसी तरह का संकेत प्राप्त किए उस के अनुकूल सभी तरह की परिस्थिति उत्पन्न कर देना, सचमुच यह विशिष्टता जैन शास्त्रानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के जानकारी की निशानी है। और जैनेतर दार्शनिकों की भाषा मे "सेवा-धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" का उद्‌घोष है। उस समय मे पंडितजी को अत्यन्त निकटता से देखने का मौका मिला। लगभग सवा महीने का वह समागम रहा, जिस मे मै ने देखा कि उन मे कितनी निरभिमानता है। यह पण्डितोचित दुर्लभ विशिष्टता मुझे देखने को मिली। हृदय सहसा गद्गद हो उठता था कि आज स्थानकवासी समाज की महान् विभूति शुद्ध स्नेह से मुझे आप्लावित-परिप्लावित कर रही है। वेदना के वे कटु क्षण उस सहज सहानुभूति के द्वारा शान्ति के अणु-परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो रहे थे। जीवन के उन क्षणों की मधुरिमा कभी कम नहीं हो सकेगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। यह ठीक है कि उस समय श्रमण-सघ की व्यवस्था थी। परन्तु मैं मानता हूँ कि यदि यह व्यवस्था नहीं भी होती, तब भी पण्डितजी महाराज साधुता के साथ आत्मीयता रखने वाले थे। इस लिए ऐसे समय मे अवश्य आते। पण्डितजी महाराज, लोणावला संघ और बंबई सघ ने जो सेवाएँ उस समय समर्पित की

वे मेरे संयमी जीवन मे सहायक होने से सदैव के लिए संस्मरणीय बन चुकी हैं।

पण्डित जी महाराज में एक युग-प्रवर्तक सी प्रतिभा थी और वह उस समय की सम्मेलन सम्बंधी गति-विधियों में झलकती भी रही है। पिछले वर्षों मे श्रमण-संघ की पिछडी-सी अवस्था को सुधार सकने की कोई योजना उन के मस्तिष्क में थी और उसकी सफलता के लिए जवाहरलालजी मुणोत से ही उन की आशा थी। इस विषय मे कई बार उन्हो ने पत्रों द्वारा मुझे संकेत भी किया था। परन्तु वे कुछ कारणो से पण्डितजी महाराज से मिल नहीं सके, यह तो एक निमित्त मात्र माना जा सकता है, वास्तव मे तो स्थानकवासी समाज के वैसे उपादान ही नहीं थे। इस लिए वह वस्तु उन के दिमाग से बाहिर ही नहीं निकल सकी। विशेष सम्पर्क में आने के बाद पण्डितजी महाराज के सम्बन्ध में अनेक अनुभूतियाँ हुई, किन्तु यहाँ अभी इतने मे ही संतोष करना उचित समझता हूँ।

" भिन्नरुचिर्हि लोकः " के घोष के अनुसार यह सच है कि पण्डितजी महाराज के विषय मे अनेक भ्रान्त धारणाएँ भी जन-मानस मे फैलाई गई। कुछ प्रतिष्ठित एव सम्माननीय पद पर विराजमान व्यक्ति भी अपनी प्रतिष्ठा को बढाने का कारण दूसरों की निंदा को मान लेते हैं और दूसरो का स्थान लोकों के हृदय से हटा कर उस पर अपना सिक्का बैठा ने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी उन की यह ईर्ष्या वृत्ति नग्न नृत्य करती हुई भी देखी जाती है। प्रायः यह देखा जाता है कि निकट सम्बन्धित व्यक्तियों के द्वारा जब वैसी वृत्ति अपनाई जाती है, तब कम परिचय में आये हुए व्यक्तियों के मन पर उस का असर होता है, किन्तु अधिक सम्पर्क में आए हुए व्यक्तियों पर उस का कोई प्रभाव नहीं पडता। यहाँ एक बात विशेष ध्यान में लेने योग्य है कि जब अमुक ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने आत्मीय जन के बारे में भी अनुचित टीका करने से बाज नहीं आते, तो अन्य व्यक्तियों के लिए तो वे चूकनेवाले ही कब हैं? यद्यपि ऐसे व्यक्ति ही समाज की विषम अवस्था के जवाबदार हैं। कुछ भी हो मैं अपने पाठकों को मूल विषय को उपसंहृत करता हुआ एक बात बता देता हूँ कि चाहे कोई कुछ भी माने परन्तु पण्डित श्रीमलजी महाराज का वियोग स्थानकवासी समाज की एक अपूरणीय क्षति के रूप में लगभग सर्वत्र माना गया है। अन्त मे एक जैन साधु की मान्यता

के नाते उनकी आत्मा यथाशक्य शीघ्रतया मोक्ष सुखों की प्राप्ति करे ऐसा कह कर और उनके लिये " श्रेयः प्रेयः समो हि सः " यह उद्घोष समाज के सामने रख कर हृदय को सन्तुष्ट करता हूँ। क्यों कि वे स्वयं अपने में श्रेयः थे और अन्यान्य व्यक्तियों के लिये परम प्रेयः थें।

—मुनि लालचन्द्र, काव्य-तीर्थ

१९. श्रद्धा के कुछ सुमन

परम श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज का जीवन स्फटिक की तरह स्वच्छ, पवित्र एवं स्पष्ट था। उस मे न कहीं लुकाव था और न कहीं छिपाव था। जो कुछ था, सब के सामने था। वे जैसा सोचते थे, विचारते थे, वैसा ही बोलते थे और जो कुछ कहते तद्रूप ही उन का अपना कर्म होता था। उन के विचार, उच्चार और आचार–तीनों में एकरूपता थी। एक को कुछ कहना और दूसरे को कुछ और कहना, या कहना कुछ और करना कुछ यह आदत उन को बिल्कुल पसन्द नहीं थी। वे जैसे अन्दर थे, वैसे ही बाहर थे।

वे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी एवं गुजराती पर पूरा अधिकार रखते थे। उन्हों ने आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उन का दर्शन-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन था और उन का चिन्तन भी बहुत गहरा था।

पण्डितजी महाराज की वाणी मे जादू था। वे जब अपने विचारों को अभिव्यक्त करते, तब जनता का ध्यान आप की ओर केन्द्रित हो जाता था। आप के प्रवचनो मे सब से बडी विशेषता यह थी– उन मे स्पष्टता रहती थी, साम्प्रदायिक छींटाकशी नही रहती थी और प्रत्येक विषय को-भले ही वह पुरातन ही क्यों न हो– नूतन एवं अद्यतन शैली में ढाल कर लोगों के सामने रखने की कला थी। आप केवल प्रवक्ता ही नहीं, सिद्धहस्त लेखक, कवि एवं क्रान्तिकारी विचारक एवं प्रचारक भी रहे हैं।

ऐसे महान् व्यक्तित्व सम्पन्न सन्त का अभाव हमें खटक रहा है। पर क्या करें ? अपने हृदय की श्रद्धा अभिव्यक्त कर के ही सन्तोष करना पड रहा है।

—चन्दन मुनि

२०. सेवा के साकार रूप : पण्डितजी

परम श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज का जीवन एक आदर्श जीवन था। उस महापुरुष ने अपने जीवन मे समाज एवं संघ की बहुत सेवा की है। उन के जीवन की सब से बडी विशेषता यह थी कि वे प्रत्येक व्यक्ति के साथ स्नेहमय व्यवहार करते थे और उन के जीवन के किसी भी कोने में अभिमान खोजने पर भी नहीं मिलता था।

वे सेवा की साक्षात् मूर्ति थे। सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर वे छोटे-बडे का भेद नहीं करते थे। अहमदनगर मे मैं एक बार अस्वस्थ हो गया था। जब उन्हें पता लगा तो वे अपना लेखन कार्य छोड कर मुझे डाक्टर के दवाखाने ले गए। यह नहीं सोचा कि एक छोटे साधु के साथ मैं कैसे जाऊँ।

पूना मे श्री जीवराजजी महाराज के गले का आपरेशन कराया, तब आप स्वयं हास्पिटल में रहे थे और सारी देखमाल आप ही करते थे। मुनि जीवराजजी की अस्वस्थता के कारण मुझे आप की सेवा में रहने का पूना मे प्रथम अवसर मिला। परन्तु मेरे पर आप की इतनी कृपा रही कि अलग होने को मन ही नहीं करता था।

आप के जीवन में स्पष्टता एव निर्भयता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती थी। आप निष्प्राण रूढियों को तोडने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। आप की भूतपूर्व संप्रदाय की परम्परा में ध्वनिवर्धक यन्त्र निषिद्ध था, फिर भी उस की उपयोगिता समझ कर उस का उपयोग करने में संकोच नहीं किया।

ऐसे महापुरुष को हार्दिक श्रद्धानलि एवं हार्दिक वन्दन-अभिवन्दन।

—शान्ति ऋषि

२१. विमल विभूति पण्डितजी

पण्डित श्रीमलजी महाराज इस 'विश्व-उद्यान में विविध प्रकार के और विचित्र रग के फूल चारों ओर खिले हुए हैं। अपने सौरभ और अपने सौंदर्य को संसार को समर्पित कर के मुरझा जाते हैं। युग-पुरुष भी इस धरणीतल पर जन्म ले कर अपने ज्ञान का सौरभ और अपने चारित्र्य का सौंदर्य संसार में फैला कर चले जाते हैं।

सत्य के प्रचारक, उदार विचारक, सच्चे सुधारक, समाज के उद्धारक पण्डित-जी महाराज इस प्रिय उपनाम से सम्बोधित होने वाले सभी को अति वल्लभ थे। श्रेय के साधक पण्डित मुनि श्री श्रीमलजी महाराज भी इस विश्व-वाटिका के एक सुरभित सुमन थे। वे अपने मधुर जीवन की सुरभि समाज में फैला कर हमारे मध्य में से विलुप्त हो गए हैं। फिर भी उनकी मधुर स्मृतियाँ हमारे जीवन को आज भी सुवासित कर रही हैं।

आपने देखा होगा कि मोमबत्ती और अगरबत्ती अपनी देह के कण-कण को जला कर हमारे घर के अन्धकार को और हमारे घर की दुर्गंध को दूर हटा कर आलोकमय एवं सुरभिमय वातावरण तैयार कर देती हैं। पण्डित श्रीमलजी महाराज भी अपने जीवन का प्रत्येक क्षण समाज को समर्पित कर के समाज में ज्ञान का आलोक और प्रेम का सौरभ बिखरा कर चले गए हैं। उन के चले जाने के बाद भी हमारे हृदय में यही अनुभूति हो रही है कि वे आज भी हमारे समीप हैं। श्रीमलजी महाराज के जीवन के दो विशिष्ट गुण थे– प्रेम और विनय। प्रेम और विनय के इन दो पाखों के आधार पर ही वे जन-जीवन के गगन में ऊँची से-ऊँची उडान भरते रहे थे। मैं समझती हूँ, प्रेम और विनय हमारी संस्कृति के मूलभूत आधार-तत्त्व हैं। एक अंग्रेज कवि ने बहुत सुंदर कहा था–

" Humility and love are the essence of true religion."

पण्डितजी महाराज का जीवन प्रेम और विनय से परिपूर्ण था। पूज्य-गुरुदेव आत्मार्थी श्री मोहन ऋषिजी महाराज के द्वारा कहा हुआ उन के जीवन का एक प्रसंग मुझे आज भी याद है– पूज्य-गुरुदेव अहमदनगर में विराजित थे।

संयोगवश विहार करते हुए पण्डितजी महाराज भी वहाँ पधारे। जिस समय पण्डितजी महाराज ने स्थानक में प्रवेश किया था, उस समय पूज्य-गुरुदेव किसी अस्वस्थ व्यक्ति को दर्शन देने गए हुए थे। जब वे वापिस लौट रहे थे, तब पण्डितजी महाराज ने देखा कि उन के पैर कीचड से भरे हुए हैं। बडी तत्परता के साथ जल का पात्र ले कर पण्डितजी महाराज स्वयं अपने कर-कमलों से पूज्य-गुरुदेव के चरण-कमलों का प्रक्षालन करने लगे।

कर-कमलों द्वारा चरण-कमलों के प्रक्षालन की यह मधुर कहानी आज भी हमारे मन एवं मस्तिष्क पर अंकित है। इतना ही नहीं, जिस पैर को पण्डितजी धोते थे, साथ ही वस्त्र से पोंछ भी डालते जा रहे थे, उन के मन में सेवा करने का भी कितना विवेक था। इस दृष्टि को देख कर मैं अपने में सोच रही थी कि एक दिन विद्याधाम काशी में हिन्दू-विश्वविद्यालय को स्थापित करनेवाले महान् विद्वान् मदनमोहन मालवीयजी ने स्वामी रामतीर्थ के चरण स्वयं अपने हाथों से प्रक्षालित किए थे और उन्हें पोंछ कर वे उन्हें धरती पर रखते थे।

पण्डित श्रीमलजी महाराज के जीवन की स्मृति का मेरे मस्तिष्क में दूसर चित्र सन् १९३३ में अजमेर साधु-सम्मेलन के समय का उभर-उभर कर बाहर प्रकट होना चाहता है। मेरी अवस्था उस समय चतुर्दश वर्ष की होगी। लघु-सिद्धान्त-कौमुदी और रघुवंश आदि काव्यों का मैं अध्ययन कर चुकी थी। मेरा परिचय गुरुदेव ने पण्डितजी से कराया और पण्डितजी ने मेरा परिचय उस युग के ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज से कराया। इन परिचय के क्षणों में मुझे यह अनुभव हो रहा था कि आज मुझे कुछ अमूल्य वस्तु मिल रही है। गुरु और शिष्य की इस युगल-जोडी ने उस समय मुझ-जैसी बालिका पर जो अपने उदात्त और मधुर प्रेम की वर्षा की थी, ३५ वर्ष जैसा दीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर भी उस मधुर-स्मृति को मैं आज तक भूल नहीं सकी हूँ। पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने– जो उस समय सम्मेलन के कार्यक्रम में अत्यंत व्यस्त थे– शान्त और मधुर स्वर में मुझ से इतना ही कहा था– "खूब अध्ययन करो और जो कुछ प्राप्त करो, उसे फिर जन-जन के जीवन में वितीर्ण कर देना।" उसी ज्योतिर्धर आचार्य की प्रेरणा का यह शुभ

परिणाम है कि मैं ने अपने जीवन में व्याकरण, साहित्य, न्याय और दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया।

मेरी स्मृति-पटल पर तीसरा संस्मरण एक साल के बाद ही सन् १९३४ में मेरी दीक्षा के शुभ अवसर से पूर्व मैं ने जलगाँव में पण्डित मुनि श्रीमलजी महाराज के दर्शन किए थे। पण्डितजी महाराज के इस मधुर प्रेम के क्षणों को मैं कैसे भूल सकती हूँ? उन के पास जा कर प्रत्येक व्यक्ति यही अनुभूति ले कर लौटता था कि पण्डितजी मेरे हैं। पर वास्तव में पण्डितजी किसी एक के न हो कर सभी के थे, और सब के साथ मिल कर रहने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता और सफलता समझते थे। फिर तो जीवन में कितनी ही बार पण्डितजी से मिलना हुआ। जितनी बार भी मैं उन से मिली कुछ-न-कुछ नया देखा और कुछ न कुछ नया सुना। यह सत्य है कि उन का जीवन प्रारम्भ से अंत तक विवेक के साथ प्रगति के पथ पर आगे बढता रहा था।

पण्डितजी महाराज के जीवन में मैं ने दो बातों को विशेष रूप से अनुभव किया था– सेवा और त्याग। सब की सेवा कर के भी वे उस सेवा के प्रशंसा रूप फल की कभी आकाक्षा नहीं करते थे। अपने जीवन में उन्हों ने यह संकल्प कर लिया था कि मैं कहीं पर भी और किसी भी स्थिति में न किसी संस्था को खडी करूँगा, न अपना शिष्य बनाऊँगा और न किसी प्रकार की पदवी ही ग्रहण करूँगा। मैं समझती हूँ, इतने उच्च पद पर आसीन होने पर भी पण्डितजी महाराज ने पद, शिष्य और सस्था के लिए कभी प्रयत्न भी नहीं किया।

पण्डितजी महाराज अपने युग में एक तेजस्वी, क्रातिकारी, सिद्धहस्त लेखक, कल्पना-सपन्न कवि और साथमें प्रखर वक्ता भी थे। आप की वाणी मे हीरे-सी चमक, खंजर-सी तीक्ष्णता, मोती-सी दमक, और स्फटिक रत्न जैसी पारदर्शकता थी। आप की वाणी के जादु से मुग्ध हो कर आप के प्रवचनों को सुनने के लिए लोग सदा उत्सुक रहते थे।

मैं समझती हूँ, पण्डितजी महाराज के जीवन में जो कुछ माधुर्य और उन की पवित्र भावनाओं का सौंदर्य देखा था, वह अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो सके।

काल अनन्त है, उस अनन्त के जीवन में किसी की किसी के साथ तुलना करना यह तो मुझे उचित नहीं लगता। परन्तु मेरा मन और मस्तिष्क इस सत्य को भुलाने पर भी भूल नहीं सकता कि पण्डितजी महाराज अपने जैसे आप थे। उन की शान, उन की बान और उन की आन निराली और अनोखी थी। उन के मधुर जीवन के मधुर क्षणों की जब-जब मेरे मस्तिष्क मे स्मृति ताजा होती है, तब-तब उन के पवित्र जीवन के सुन्दर चित्र उभर-उभर कर आने लगते हैं। पण्डितजी का जीवन उदार, पवित्र और विशाल था।

—साध्वी महासती उज्ज्वलकुमारी

२२. ज्ञान-योग के साधक : पण्डितजी

पण्डित श्रीमलजी महाराज स्थानकवासी समाज के महान् सतों में से एक थे। उन्हों ने अपने जीवन में ज्ञान-योग की ऊँची से ऊँची साधना की थी। जो कुछ जाना था और समझा था, उसे जीवन में उतारने का पूर्ण प्रयत्न किया था। यही कारण था कि वे ज्ञान-योगी के साथ-साथ कर्म-योगी भी थे। पण्डितजी महाराज से एक बार नहीं अनेकों बार मिलने के प्रसग मेरे जीवन में आए हैं। जब-जब उन से मिली हूँ, कुछ-न कुछ नया ज्ञान, और कुछ न कुछ नया चिन्तन उन से प्राप्त हुआ है। आज उन के स्वर्गस्थ हो जाने पर स्थानकवासी समाज की एक वडी क्षति तो हुई है, परन्तु महाराष्ट्र की जैन तथा अजैन जनता पर उन का जो अद्भुत प्रभाव था, उस की पूर्ति निकट भविष्य में की जा सके, यह सभव नहीं दिखता।

किसी की मृत्यु के बाद उस के परिजनों को संसार की अनित्यता, आत्मा की अमरता, सयोग एव वियोग का चक्र समझा कर मैं ने सात्वना दी है। पर जिस दिन मुझे ज्ञात हुआ कि पण्डितजी महाराज का स्वर्गवास हो गया है, उस दिन मैं स्वयं अपने मन को स्वस्थ नहीं रख सकी थी। समाज के बहुमूल्य रत्न, मेरे सन्माननीय भाई महाराज के खो जाने का विषाद मेरे अन्तःकरण पर छा गया था।

विगत-कालीन अनेक संस्मरण एक के बाद एक मानस-पटल पर आते गए। मैं ने अनुभव किया कि सहज, सरल और सौम्य व्यक्तित्व की छाया मुझ पर अंकित है, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकती। जो भी उनके निकट-परिचय में आया है, उसे यही अनुभव हुआ है। पण्डितजी महाराज के उदात्त एव उदार विचार हमारी समाज में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। उन के क्रातिकारी रूप से भी आज के समाज का कोई व्यक्ति अपरिचित नहीं होगा। उन के व्यक्तिगत विचार कुछ भी रहे हों, परन्तु श्रमण-सघ के संगठन और एकीकरण में उन्हों ने श्रमण सघ क वर्तमान अधिनायक आचार्य सम्राट् पूज्य-गुरुदेव परम श्रद्धेय आनन्दऋषिजी महाराज को पूरा-पूरा सहयोग दिया था। जब कभी भी आचार्यश्री ने उन से किसी भी विषय में विचार जानने का संदेश दिया, तब उन्हों ने अपने सभी दूसरे काम छोडकर सर्व-प्रथम आचार्य श्री के चरणों मे अपने स्पष्ट विचार रखे। पण्डितजी महाराज अपने विचार एवं व्यवहार में अत्यन्त स्पष्टवादी थे। उनके जीवन में कहीं पर भी, कुछ भी छुपाने जैसा नहीं था। यह उनके जीवन की सब से बडी विशेषता थी। यही कारण है कि पण्डितजी महाराज दूसरों के कार्यों को स्वयं अपना ही समझ कर करते थे।

भूतपूर्व उपाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज जब श्रमण-संघ से पृथक् हो गए थे, तब समाज के सामने एक विकट समस्या उपस्थित हो गई थी। समाज की सामान्य जन-चेतना और समाज के सभी वरिष्ठ नेता इस विचार में थे कि अब क्या किया जाए? और इस कार्य को कैसे आगे बढाया जाए? समाज की यह विषम-समस्या सुलझाने मे सब से बडा योगदान उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज तथा पण्डित श्रीमलजी महाराज का रहा था। इन दोनों ने उस समय समाज के सामने अपने स्पष्ट विचार रखे थे कि श्रमण-संघ को व्यवस्थित बनाने के लिए एवं सुदृढ बनाने के लिए इस समय उपाध्याय श्री आनन्दऋषिजी महाराज के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति उपयुक्त नहीं हो सकता। आचार्यश्री आनन्दऋषिजी महाराज में ज्ञान की गरिमा और अनुभव की महिमा– दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। धर्म-शासन करने के उन के पास दीर्घकालीन अनुभवों की पूँजी है। और फिर हमारे श्रमण-संघ मे ये सब से अधिक लोकप्रिय भी हैं। मैं समझती हूँ, इन दोनों के इस विचार का ही

परिणाम है कि आज आचार्य श्री श्रमण-संघ का सफल नेतृत्व कर रहे हैं। उन के तेजस्वी नेतृत्व में हम अपने ज्ञान-दर्शन की अभिवृद्धि करें, यही हमारे जीवन का लक्ष्य है।

आज पण्डितजी महाराज नहीं रहे। परन्तु उन के जीवन के सद्गुण और उन के जीवन की मधुर-स्मृति आज भी हमारे पास है और भविष्य में भी रहेगी।

— आर्या सुमतीकुँवर

२३. महामानव पण्डितजी

परम श्रद्धेय पण्डितजी महाराज का जीवन एक खुली पुस्तक था। मैं ने स्वयं देखा है– वे छिपाना जानते ही नहीं थे। जो कुछ था, वह सब के सामने था। मैं उन्हे एक दिन पूछ ही बैठी– आप सब के सामने इतने स्पष्ट क्यों हो जाते हैं? पता नहीं किस का मन कैसा हो? उन्हों ने मुस्कराते हुए कहा– तुम ही बताओ क्या छिपाऊँ? छिपाने जैसा है ही क्या? जीवन सत्य है। हम जो कुछ करते हैं, सत्य को सामने रख कर करते हैं। फिर उस पर पर्दा डालने का क्या अर्थ है? पर्दा सत्य पर नहीं, झूठ पर डाला जाता है। सत्य तो सब के सामने एक-सा रहता है, चाहे वह अपना हो या पराया। अपने और पराए की परिभाषा मे उलझनेवाला व्यक्ति एवं स्व-पर के भेदों में चक्कर काटनेवाला व्यक्ति, न कभी सत्य को समझ पाया है और न कभी समझ पाएगा।

पण्डितजी महाराज के जीवन की एक विशेषता यह थी कि वे जो कुछ कहते थे, वही करते थे। वे भेद-भाव की रेखा को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। और मैं ने देखा है कि उन के जीवन में अपने-पराए के प्रति किसी भी तरह का भेद नहीं था। जो उन के पास आते, उन सब से आत्म-बन्धुता का व्यवहार करते। परिजनों की दृष्टि से भी मैं ने उन्हें देखा है– माताजी महाराज के प्रति उन के मन में जो आदर था, उसे शब्दों में अभिव्यक्त करने की शक्ति मेरे मे नहीं है। परन्तु मैं और अन्य साध्वियों, जो उन के परिवार से

का यह सिद्धान्त था—'शरीर आत्मा का घर है, उस को सम्भाल कर रखना चाहिए। परन्तु इस की सम्भाल में आत्मा को भूलना मानव का घोर पतन है। अतः शरीर को भी स्वस्थ रखो, पर उस से अधिक आत्मा को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करो।'

वे अपने आप में सुलझे हुए थे। और जो भी उन के समीप आता उस की गुत्थियाँ भी सुलझाने का प्रयत्न करते थे। मेरे लिए तो वे सब कुछ थे। जब भी कोई उलझन आती, दौडी हुई उन की सेवा में जा पहुँचती। पहुँचने की देर थी, उलझनों को सुलझने में देर नहीं लगती।

उन के मन में सब के प्रति सहज-स्नेह था। अपने और पराए का भेद उन के जीवन को छू नहीं पाया था। भले आज वे हमारे सामने नहीं है। परन्तु उन की जीवन-ज्योति प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है और युग-युग तक करती रहेगी।

अन्त में अन्तर्मन की भावना को, श्रद्धा को अभिव्यक्त करते हुए इतना ही कहूँगी—

'शत-शत वन्दन, हे ज्योतिर्मय।'

—साध्वी इन्द्रकुँवर

२५. जीवन का कलाकार

जीवन के रहस्यों को समझने का जितनी तीव्रता के साथ प्रयत्न किया जाता है, वह उतना ही अधिक गहन और गम्भीर बनता है। देखती हूँ, गुलाब की डाली पर बैठकर गुलाब का फूल मुस्करा रहा है। मन्द-मन्द पवन के हर झकोरे के साथ अपनी सुरभि, अपनी सुंदरता को, वह जीवन और जगत के कण-कण में बिखेर कर भी कभी रिक्त नहीं हो पाता है। जग का नियम है, जो उन्मुक्त भाव से प्रदान करता है, वह कभी रिक्त नहीं हो पाता। अपनी सपत्ति को समेट-समेट कर

अपने तक ही सीमित रखने वाले लोग इस संसार से खाली हाथ ही विदा होते हुए देखे गए हैं।

मैं समझती हूँ, जो कुछ पाया जाता है, वह सब प्रदान करने के लिए ही होता है। कुछ दे कर हम सब कुछ पा जाते हैं। और कुछ भी न देकर हम सब कुछ खो बैठते हैं। जो नियम जगत् के कण-कण में बिखरा हुआ, मैं पाती हूँ, उसी के गुप्त एवं गहन रहस्य को अपने जीवन में खोजना चाहती हूँ। पर मेरी अनुभूति है कि जितना खोजा जाता है, उतना ही अधिक खोया जाता है। अपने में उलझते हुए व्यक्ति को सुलझाने की शक्ति मैं किसी में नहीं पाती हूँ। हम अपने में ही उलझते हैं और अपने में ही सुलझनेका प्रयत्न युग-युग की दीर्घ यात्रा मे करते चले आ रहे हैं। जीवन का उपक्रम और जीवन का उपसंहार जिसे सामान्य भाषा मे जन्म और मृत्यु कहा जाता है, इस उपक्रम और उपसंहार के मध्य मे जीवन के जो प्रवाहित क्षण है, उन्हीं को मैं जीवन का रहस्य समझती हूँ, उन्ही का अर्थ-बोध कर के सफल बनाने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। जन्म हमारे हाथ की वस्तु नहीं है। और मृत्यु भी हमारे हाथ की वस्तु नही है। जन्म और मृत्यु के दो किनारों के मध्य में प्रवाहित होनेवाली सरिता पर ही हमारा एक मात्र अधिकार है, इसी को मैं जीवन कहती हूँ।

जीवन सभी को मिलता है, पर जीवन जीने की कला सभी को उपलब्ध नहीं हो पाती। पर देखती हूँ, पण्डितजी महाराज के पास अन्य सब कुछ भले ही रहा हो, उस के सम्बन्ध में मैं अपना अभिमत व्यक्त करने में असमर्थ हूँ, पर उन के पास एक वस्तु मैं ने अवश्य देखी थी, वह थी—जीवन जीने की कला। यदि यह कला किसी के पास नहीं है और ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ है, तो इस कला के अभाव में सभी कुछ अर्थ-हीन बन जाता है। व्यक्ति स्वय अपने अन्दर पहुँच कर, जब अपने ही गुप्त रहस्यों को दूसरों के जीवन में नहीं, स्वयं अपने ही जीवन में खोजने का प्रयत्न करता है, तब मैं समझती हूँ, उसके जीवन में बाहर का सभी कुछ व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

पण्डितजी महाराज ने अपने जीवन में क्या उपलब्धि की, इस विवाद में उलझना अर्थहीन ही जँचता है। क्या था, यह सोचना बन्द कर दो? क्या होगा यह सोचना भी जडता से शून्य नहीं है? अतीत और अनागत के झमेले में

न पड कर, हम वर्तमान में जो कुछ हैं, उसी के लिए हमें सोचना है, उसी को हमें खोजना है, और उसी को हमें पाना है। वर्तमान की खोज और प्राप्ती में ही पण्डित श्रीमल्जी महाराज का अडिग विश्वास था। वर्तमान के मधुर क्षणों को अतीत के विषादमय और भविष्य के चिंतामय क्षणों में झोंके देने में उन्हें जरा भी विश्वास नहीं था। जो कुछ चला गया, और जो कुछ आनेवाला है, उसकी चिंता और कल्पना मे अपने वर्तमान प्रवाह को भूलना जीवन की सब से बडी क्षति है। इस क्षति से जो क्षत नहीं हो पाता है, मैं उसी को जीवन का कलाकार कहती हूँ। जीवन की यह कला, मै ने पण्डितजी के जीवन में साकार होते देखी थी– आज जीवन के रहस्य को समझने वाला वह कलाकार नहीं रहा, तब भी उन के प्रेमी जनों के मन और मस्तिष्क में उनकी मधुर-स्मृति ताजा रहेगी।

— साध्वी चन्दना

२६. पूना-संघ के प्राण : पण्डितजी

श्रद्धेय पण्डितजी महाराज की माताजी महासती सूरजकुँवरजी महाराज– जिन्हें हम माताजी महाराज के नाम से ही सम्बोधित करते थे– शारीरिक अस्वस्थता के कारण पूना में स्थानापन्न थीं। और आप की अस्वस्थता के कारण श्रद्धेय पण्डितजी महाराज सन् १९५७ में राजस्थान से पूना पधारे और तब से पूना एवं पूना के आसपास के क्षेत्रों में विचरते रहे। माताजी महाराज की कृपा से हमें एक महान् सन्त का मार्गदर्शन एवं कार्य करने की प्रेरणा मिली और पूना संघ ने जो कुछ किया, उस में प्राणशक्ति पण्डितजी महाराज की ही रही है।

इन दस वर्षों में पण्डितजी को निकट से, अति-निकट से देखा है, उन के अन्तरंग जीवन में उतर कर परखा-निरखा है और उन्हों ने हमारे जीवन को टटोला है। हमारे पर पण्डितजी महाराज का अपरिमित स्नेह था और हार्दिक प्रेम था; और हमारा भी उन के साथ हृदय इतना खुल गया था कि अपनी एवं

सामाजिक कठिनाइयों को उन के सामने रखने में सकोच नहीं होता था, और वे भी हमारी समस्याओं को सुलझाने में न तो आनाकानी करते थे और न विलम्ब करते थे। उन के आने के पूर्व सघ के सदस्यों में कुछ मन-मुटाव था। एक वरिष्ठ सन्त के वर्षावास में उस ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि तीव्र संघर्ष का प्रसग होने की सम्भावना निर्माण हुई। इस तनाव की स्थिति के समाचार पण्डितजी महाराज को मिले, तब उन्हें बहुत वेदना हुई और वर्षावास के बाद पूना आते ही वे संघ में एकता लाने का प्रयत्न करने में लग गए और अपने तर्कशील मस्तिष्क से उन्हों ने सभी समस्याओं को सुलझा कर तनाव के वातावरण को शान्त-प्रशान्त बना दिया। हम ने देखा है कि वे जिस कार्य में लग जाते, वह सफल होता ही। जब तक काम समाप्त नहीं होता, तब तक उन्हें चैन नहीं पडता। जब लोगों का मनो-मालिन्य मिट गया, सब के स्वर में मिल कर काम करने की ध्वनि प्रस्फुटित होने लगी, तब पण्डितजी महाराज से प्रेरणा पा कर हम ने स्थानक का काम हाथ में लिया। जमीन तो पहले ही खरीद चुके थे, परन्तु आपसी संघर्षों के कारण स्थानक बन नहीं पाया था। अपनी प्रेरणात्मक शक्ति के बल पर हम ने काम उठाया और उसी का फल है कि जैन साधना सदन में साधना का अजस्र स्रोत बह रहा है। यह सत्य-तथ्य है कि कार्य करते समय अनेक कठिणाइयाँ आई और कुछ बाधाएँ भी आई। परन्तु जब भी कोई समस्या आती कि हम दौडते हुए पण्डितजी की सेवा में पहुँचते। वहाँ पहुचने में देर लगती, परन्तु उन की प्रखर बुद्धि से उसे सुलझाने में देर नहीं लगती। उन के द्वारा भरित उत्साह के कारण ही हम लगभग चार लाख के इस भव्य भवन को बना सके, जिस में पूना संघ के सभी व्यक्तियों का हमें सहयोग रहा।

पण्डितजी महाराज एक सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, परन्तु वे अपने आप को स्थानकवासी से पूर्व मानव कहना अधिक पसन्द करते थे। और सच्चे अर्थ में थे भी वे मानव– मानव ही नहीं, महामानव। वे मनुष्यमात्र का हित चाहते थे, उदय चाहते थे और इस के लिए रात-दिन प्रयत्नशील रहते थे। हम ने देखा है– जिस वर्ष पूना में बाढ आई थी, उस समय उन की मानवता साकार हो उठी और उन्हों ने पूना के स्थानकवासी समाज को मानव सेवा करने की अनुपम प्रेरणा दी।

पण्डितजी महाराज प्रबुद्ध-विचारक, गम्भीर चिन्तक, महान् दार्शनिक, सुलझे हुए साहित्यकार, प्रौढ लेखक और प्रतिभा-सम्पन्न सन्त थे। इस से भी बढ़कर वे सेवा-निष्ठ साधक थे। उन्हों ने अपने जीवन में स्व और पर सम्प्रदाय के सन्तों की बिना किसी भेद-भाव के सेवा की है। माताजी महाराज, सूरजमलजी महाराज एवं चुनीलालजी महाराज की सेवा आप ने अपने पूज्य-गुरुदेव की तरह तन-मन लगा कर की। उन का सम्पूर्ण जीवन सेवामय एवं त्याग-निष्ठ था।

पूना उन का साधना-क्षेत्र रहा है और कार्य-क्षेत्र भी। पूना के जन-जन का मानस उन के स्नेह, त्याग, वैराग्य से आप्लावित रहा है। इस महान् विभूति ने पूना के संघ को संघटित करने, विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों को चालू करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, पूना संघ उन के असीम उपकार को कदापि भूला नहीं सकता। पण्डितजी महाराज के जीवन के साथ पूना संघ सम्बद्ध था और पूना संघ के साथ पण्डितजी महाराज एकाकार हो चुके थे। हमने उन के जीवन में देखा है कि वे सम्पूर्ण भारत के होते हुए भी, पूना के भी थे।

वे अपने आप में इतने निःस्पृह थे कि हमारे ऊपर उन्हों ने कभी भी किसी तरह का बोझ नहीं डाला। उन के १० वर्ष के सम्पर्क में हम ने एवं हमारे साथियों ने यह अनुभव किया कि उन का वर्षावास एवं शेषकाल सब तरह के खर्चों से मुक्त रहा है। न उन्हें आडम्बर प्रिय था और न किसी तरह का दिखावा। इसलिए पैसे के खर्च का सवाल ही नहीं उठता। इतने सीधे-सादे और बोझ से रहित चातुर्मास बहुत ही कम सन्तों के हुए हैं।

'सद्धर्म-मण्डन' के सम्पादन के समय हम ने पण्डितजी महाराज से निवेदन किया कि 'मुनि श्री समदर्शीजी महाराज, जो सम्पादन कर रहे हैं, उस ग्रन्थ की प्रतिलिपी करने के लिए एक पण्डित रख दें, तो अच्छा हो रहेगा।' उन्हों ने सुना, सोचा और सहज भाव से मुस्कराते हुए कहा—'मेरे पास काम क्या है? मैं ही प्रतिलिपी कर लूँगा। व्यर्थ में पण्डित का खर्च संघ पर क्यों डाला जाए।' यह था उन का आदर्श जीवन, जिस की अमिट छाप आज भी जन-जन के मन पर अंकित है।

उन के जीवन के सन्ध्याकाल की बात है, अन्तिम साँस छोडने के करीब डेढ-दो महीने पहले हमने उनकी अस्वस्थता को देख कर बहुत आग्रह किया—'आप के

मस्तिष्क का एक्स-रे करा लें और हार्ट का कार्डियोग्राम ले लें, जिस से बिमारी का निदान करने में मैं डॉक्टरों को सहूलियत रहे।' आप ने गम्भीर मुद्रा में निःस्पृह भाव से कहा– 'शरीर घिसता जा रहा है, इसे अब नष्ट होना ही है, इस की चिन्ता में अब अधिक क्यों उलझूं और व्यर्थ में खर्च का बोझ और प्रवृत्ति की झंझट अपने सिर पर क्यों लूं। आप निश्चिन्त रहें, मैं अपने आप में मस्त हूँ।' ये थे उन के सरल हृदय से निकले हुए मार्मिक शब्द।

अन्त में जब उन का स्वास्थ्य बहुत गिर गया, तब फिर उन से नर्सिंग होम चलने के लिए कहा, परन्तु उन्हों ने सहज भाव से इन्कार कर दिया। तब डाक्टर को बुलाया गया और संघ एव डाक्टरों के परामर्श से उन की अन्तरग इच्छा न होते हुए भी हम उन्हें नर्सिंग होम ले गए। हम ने उन्हें स्वस्थ करने के लिए जितना प्रयत्न कर सकते थे सब कुछ किया। पूना के डाक्टरों ने और बम्बईसे आए हुए डाक्टरों ने भी प्रयास करने मे कमी नहीं रखी, परन्तु दुख है कि हमारा प्रयास सफल नहीं हो सका और जब रोग असाध्य स्थिति मे पहुँच गया, तब हम उन्हे जैन साधना सदन में लाए और उन्हे सथारा करा दिया।

इस सम्बन्ध में हम अपनी बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं– नर्सिंग होम ले जाते समय हमारे मन में एक ही भावना थी कि उपचार से स्वास्थ्य लाभ कर के वे अपनी साधना में सलग्न रहे, उन की सयम की धारा अजस्र रूप से बहती रहे। इस के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं थी। उस के लिए पूना में एवं पूना के बाहर हमारी कुछ लोगों ने जो आलोचनाएँ की, उस का हमें जरा भी दुख नहीं है। क्यों कि कुछ लोगों का आलोचना करना स्वभाव बन जाता है। वे गधे के साथ पैदल चलो तब भी अंगुली उठाते हैं, गधे पर चढ कर चलो तब भी ताना कसते हैं और गधे को सिर पर रख कर चलो, तब भी आलोचना करते हैं। अस्तु, हम ने जो कुछ किया, वह नहीं करते तब भी आलोचना के तीर सहने ही पडते– 'इन लोगों ने एक महान् सन्त के उपचार के लिए कुछ नहीं किया।' यह तो संसार है, यहाँ सब कुछ चलता है, चिन्ता किस-किस की करें। इतना ही कहना चाहते हैं कि हम ने जो कुछ किया, श्रद्धा के साथ, सयम की धारा अविच्छिन्न रूप से गतिशील रखने की भावना से किया।

जब उन्हों ने अपनी आँखें सदा के लिए बन्द कर लीं, साँस की गति रुक गई, तो समस्त संघ के मन में गंभीर उदासी छा गई, चारों ओर विचित्र शान्ति परिलक्षित होने लगी। जन-जन की आँखों से श्रावण भादो की बूँदें बरसने लगीं और अवरुद्ध कण्ठ से अन्तिम श्रद्धा व्यक्त करते हुए उस महामानव, ज्योति-स्तभ, प्रबुद्ध विचारक और तेजस्वी साधक को अन्तिम विदाई दी।

जाओ-जाओ ज्योतिर्मय,
ज्ञानालोक बिखरा कर के।
युग-युग तक पथ दिखलाएगा,
मन में श्रद्धा-भाव जगा कर के॥

झुंवरलाल कर्नावट
अध्यक्ष

दगडूराम संचेती
उपाध्यक्ष

मोतीलाल कोठारी
उपाध्यक्ष

मोतीलाल कांकरिया
कोषाध्यक्ष

नेनसुख नवलखा
मानद मन्त्री

हरकचंद चोरडिया
मानद मन्त्री

श्रीवर्धमान श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, पूना

२७. सरल-हृदय : पण्डितजी

पण्डितजी महाराज आज हमारे मध्य में नहीं हैं, परन्तु उन की आध्यात्मिकता की सत्ता आज भी है और युग-युग तक रहेगी। पण्डितजी महाराज के साथ मेरा लगभग चालीस वर्ष तक सम्बन्ध रहा है। स्थानकवासी समाज के ज्योतिर्धर आचार्य पूज्य जवाहरलालजी महाराज अपनी अस्वस्थता के कारण भीनासर मे लम्बे समय तक विराजित रहे थे। उसी समय मैं पण्डितजी महाराज

क अन्तरग सम्पर्क में आया। मैं ने स्पष्ट रूप में देखा था और आज भी मेरा यह विश्वास है कि पण्डितजी महाराज योगतम गुरु के योग्यतम शिष्य थे। उस ज्योतिर्धर महान् आचार्य की विचार-परम्परा और आचार-परम्परा को पण्टितजी ने अपने जीवन में साकार रूप दिया था। उन की परम्परा मे उस ज्योतिर्धर आचार्य के क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिनिधित्व एक मात्र पण्डितजी महाराज मे देखने को मिला। गुरु और शिष्य की वह अमर जोडी आज हमारे समाज मे नही रही, यह जान कर हृदय को आघात पहुँचे बिना नहीं रह सकता।

मे ने पण्डितजी महाराज के जीवन के क्षणों मे उन्हें निकट से देखा है। स्पष्टवादिता उन के जीवन का सब से बडा महान् गुण था। कभी भी, किसी भी समय उन से किसी विषय पर जब विचार पूछा जाता था, तब उस का उत्तर वे अत्यन्त स्पष्ट रूप में दिया करते थे। वे उन साधुओं के समान नहीं थे, जो स्वयं मे उलझे रहते हैं और इसी कारण उन के उत्तर भी उलझे हुए प्राप्त होते हैं। जब स्वयं मे स्पष्टता नहीं, तब बाहर में स्पष्टता कैसे आ सकती है? आज तक साधु समाज की इसी दुर्बलता ने ही अच्छा सगठन स्थापित करने मे बाधा पहुँचाई है।

पण्डितजी महाराज का दूसरा गुण उन के स्वभाव की मिलनसारिता है। मधुर-स्वभाव, मधुर-वाणी और मृदु- व्यवहार— ये उन के जीवन की एक अनुपम विशेषता थी। गृहस्थ हो अथवा सन्त, वे सब के साथ प्रेम से बात करते थे और प्रेमपूर्ण व्यवहार ही किया करते थे। उन के जीवन के इस मिलनसारिता गुण ने ही उन के सामान्य जीवन को एक विशिष्ट कोटि का जीवन बना दिया था। पर यह निश्चित है कि पण्डितजी महाराज असाधारण हो कर भी सदा साधारण ही रहे। उन को साधारणता से प्रेम था और असाधारणता को वे एक प्रकार का बन्धन ही समझते रहे। राजस्थान, मालवा, मेवाड, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र और गुजरात जैसे सुदूर क्षेत्रों मे अपने गुरुदेव के साथ तथा स्वतन्त्र हो कर भी उन्हों ने जो लम्बी-लम्बी यात्राएँ की थीं, उस से उन को व्यक्तिगत लाभ भी था और सामाजिक दृष्टि से उन के अनुभवों में पर्याप्त अभिवृद्धि होती रही। इस लिए प्रत्येक प्रान्त का साधु-वर्ग और गृहस्थ-वर्ग उन से अत्यन्त प्रसन्न था।

पण्डितजी महाराज के जीवन में जो तीसरा गुण मैं ने प्रत्यक्ष में देखा था,

वह था उन का गुणिजनों के प्रति प्रेम। गुणिजन व्यक्ति भले ही किसी भी परम्परा का हो, किसी भी पन्थ का हो, और किसी भी सम्प्रदाय का हो, फिर भले ही चाहे वह अपना विरोधी क्यों न हो, उस के गुणों को पहचानने में और ग्रहण करने में पण्डितजी महाराज अत्यन्त चतुर तथा कुशाग्र थे। जहाँ पर अच्छाई हो, वहाँ पर से उसे अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए, यह उन के जीवन का प्रधान सिद्धान्त था। इस प्रकार गुण-ग्राहकता के कारण से और उन के जीवन की इस विशेषता के कारण से वे सभी को प्रेमभरी दृष्टि से देखते थे। गुणिजनों के प्रति पण्डितजी महाराज सदा से ही विनम्र तथा विनीत रहे थे। जिस व्यक्ति को गुणिजनों के गुणों में अनुरक्ति एवं प्रीति हो, उस के सामने अपनेपन की और परायेपन की भेद की दीवार कैसे खडी रह सकती थी!

मैं ने देखा था कि अपने इन्ही गुणों के आधार पर पण्डित श्रीमलजी महाराज ने स्थानकवासी समाज के सर्वतोमहान्, विद्वान्, परम दार्शनिक, विराट् विचारक, उपाध्याय श्री अमर मुनिजी के साथ प्रगाढतम प्रेम सम्बन्ध स्थापित किए थे। उपाध्याय श्री जी को पण्डितजी महाराज सदा गुरु-दृष्टि से ही देखते रहे। परन्तु उदारचेता, उपाध्यायश्री अमर मुनिजी ने पण्डितजी महाराज को कभी भी अपने शिष्य रूप में नहीं देखा, वल्कि उन्हें अपने जीवन का सब से वडा साथी ही मानते रहे। पण्डितजी महाराज पर उपाध्याय श्री का अत्यन्त अनुराग एवं प्रेम था। इस लिए पण्डितजी महाराज की किसी भी बात को टालने की शक्ति कविश्रीजी महाराज मे नहीं थी। मैं ने स्वय देखा है कि भीनासर सम्मेलन के अवसर पर कविश्रीजी का स्वास्थ्य भीनासर आने जैसा नहीं था। परन्तु पण्डितजी महाराज के अत्यन्त आग्रह से और व्यक्तिगत रूप मे मेरी प्रार्थना से कष्ट उठा कर भी उन्हों ने भीनासर-सम्मेलन मे उपस्थित होने का हम दोनों का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया था। यह उन की गुण-ग्राहकता का ही परिणाम था। इस को मैं उन के जीवन की सब से वडी विशेषता मानता हूँ।

पण्डितजी महाराज का चौथा गुण था सरलता। जब तक जीवन में सरलता नहीं आती है, तब तक जीवन स्वच्छ और पवित्र नहीं बनता। सन्त जीवन की सब से बडी विशेषता सरलता ही है। यह सरलता मन मे, वाणी मे और

व्यवहार मे सर्वत्र रहनी चाहिए। म ने स्वय देखा है और अनेक बार अनुभव किया है कि पण्डित श्रीमलजी महाराज चतुर एव समयज्ञ होते हुए भी प्रकृति से अत्यन्त सरल थे। सरलता का यह गुण सन्त के जीवन की कसौटी है।

गुरु भक्ति उन के जीवन की एक विशिष्ट साधना थी। आचार्य जवाहरलालजी महाराज जब भीनासर मे अस्वस्थ थे, उस समय पण्डितजी महाराज ने उन की जो सेवा की थी, वह वास्तव मे बडी अद्भुत थी। वे कहा करते थे–'मेरे पास जो कुछ है, और जो कुछ मैं प्राप्त कर सका हूँ, वह सब गुरु की कृपा का फल है।' आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज भी अपने सब शिष्यों मे से अधिक प्रेम पण्डितजी से ही करते थे।

पण्डित श्रीमलजी महाराज एक प्रखर बुद्धि के सन्त थे। कठिन से कठिन समस्याओ को और बडी से बडी समस्याओ को उन की बुद्धि तत्काल हल कर देती थी। भीनासर-सम्मेलन के अवसर पर मेरे सामने आनेवाली समस्याओं को उन्हों ने बडी आसानी से सुलझा दिया था। पण्डितजी महाराज के बौद्धिक योगदान से ही भीनासर का सम्मेलन सफल हो सका था। जीवन में इस प्रकार के अन्य भी कई प्रसंग आए हैं, जहाँ पण्डितजी महाराज ने अपनी प्रखर बुद्धि से समाज का और विशेषतः श्रमण-सघ के कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया था।

— चम्पालाल बांठिया

२८. दीर्घद्रष्टा श्रमणरत्न : पण्डितजी

स्थानकवासी जैन समाज के अमूल्य भूषणभूत सद्गत ज्योतिर्धर जवाहराचार्य अपने युग के एक महान क्रान्तिकारी युग-पुरुष थे। उन्हीं के पट्टधर दिव्य-रत्न स्व. पण्डित श्रीमलजी महाराज अत्यन्त सरल स्वभावी, मिलनसार, आडम्बर रहित आदर्श सन्त थे। किसी भी बाह्याडम्बर से दूर, शुद्ध साधु-जीवन, निखालसता तथा छोटे-बडे साधुओं के वैय्यावृत्य का आदर्श उन के जीवन मे

ओतप्रोत था। उन के समागम में आनेवाले हर व्यक्ति के हृदय में उन का उच्च स्थान था। सद्गत पण्डितजी के निरासक्तभाव, निर्लेपता एवं विनम्र स्वभाव के कारण देहत्याग करने पर भी उन के अनेक भक्तों के हृदय में वे आज भी जीवित हैं, और रहेंगे।

भारतभर के स्थानकवासी जैनों के सम्प्रदायों में प्रमुख स्थान रखनेवाले पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय में छट्टे पाट पर विराजित स्व. जवाहराचार्य से उन के इस शिष्य-रत्न ने अमूल्य ज्ञान प्राप्त किया। और एक अद्वितीय विद्वान की हैसियत से कीर्ति सम्पादित की।

स्व जवाहराचार्य उन्हें 'शिरू' इस संक्षिप्त नाम से सम्बोधित करते थे। उन के साथ पण्डितजी महाराज ने भारत के बहुत बडे हिस्से की यात्रा की, जिस के कारण पण्डितजी महाराज अनेकों उच्च कोटि के विद्वान् सन्तों एव प्रमुख श्रावकों से परिचय प्राप्त कर सके।

पूज्य जवाहराचार्य ने अपने अनुगामी की पसन्दगी करते समय इन्हीं से सलाह ली थी। पण्डितजी किसी भी पद को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। साथ ही किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाने का उन का दृढ संकल्प था। इन दोनों सिद्धान्तों पर वे जीवनान्त तक दृढ रहे। ऐसे विशिष्ट गुणों के कारण ही उन के प्रति अनेकों का आकर्षण रहा।

साधु सस्था को सुदृढ बनाने के उद्देश्य से आयोजित सभी सम्मेलनों की कार्यवाहियों में उन्हों ने सक्रिय भाग लिया था। श्रमण-सघ के सगठन में स्व. पण्डितजी ने बहुमूल्य भाग लिया था।

प्रातःस्मरणीय स्व. उपाचार्यजी ने जब श्रमण सघ से अलिप्त हो कर सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, तब पण्डितजी का अभिमत उन्हों ने पूछा था। उस समय पण्डितजी ने उन से प्रार्थना की,–'आप पुनर्विचार करें और श्रमण-सघ से अलिप्त न हों।' इस पत्र में श्रमण-सघ को बल देने तथा वह तितर-बितर न हो, ऐसी अपेक्षा स्पष्ट रीति से व्यक्त की थी। स्व. उपाचार्यश्री ने श्रमण-सघ से सम्बन्ध-विच्छेद किया, फिर भी स्व. पण्डितजी महाराज ने उन का अनुसरण न कर श्रमण-सघ में ही रहे। इस परिस्थिति के बावजूद श्री पण्डितजी

महाराज ने उपाचार्यश्री के साथ अपना सम्बन्ध वैसा ही अन्त तक जारी रखा। इस से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे कितने बडे थे। उन के विनीत भाव का साक्षात् दर्शन इस में होता है। उपाचार्य श्री के स्वर्गवास के अनन्तर आचार्य नानालालजी महाराज के साथ भी पण्डितजी का सम्बन्ध वैसा ही सुखद एवं मधुर था।

पण्डितजी महाराज का जीवन ममत्व भाव से रहित एव अनासक्त था। वे संघवाद या संप्रदायवाद से जकडे हुए नहीं थे। सदेह होते हुए भी वे विदेही वन कर सफल जीवन जिए और धन्य हो गए।

उन के जीवन की सन्ध्या में अनेक व्याधियों से ग्रस्त होते हुए भी इस देह के वारे मे वे ममत्वहीन एव निर्मोही भाव रखे हुए थे। वे कहते थे- 'मेरा शरीर सयम यात्रा में साथ नहीं दे रहा है। ऐसा शरीर क्या काम का, इस की चिन्ता भी तो क्यों करूँ ?'

पण्डितजी महाराज कवि भी थे। 'श्रेयस्कर' इस नाम से उन के भजन उपलब्ध हैं। स्थानकवासी समाज के इस अनमोल रत्न के समागम का सद्भाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन की सेवा में जाने के मुझे वहुत वर्षों से प्रसंग प्राप्त हुए थे, जिस से मैं उन के निकट परिचय मे आया था। ऐसे सन्त इस जमाने में विरले ही हुआ करते हैं।

इस आत्मार्थी महापुरुष का जीवन-दीप इतनी शीघ्र गति से बुझा कि उन की अन्तिम सेवा एवं दर्शन लाभ से मुझे वंचित रहना पडा, जिस का मुझे भारी दुख है। श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी महाराज उस समय दुर्ग में विराजते थे, जिन के दर्शनार्थ मै वहाँ गया था। उस समय वहाँ साधुमार्गी जैन संघ के अधिवेशन की कार्यवाही चल रही थी। अचानक पण्डितजी महाराज की गम्भीर विमारी एवं सन्थारा लिए जाने का तार आया। श्री जुगराजजी सेठिया के द्वारा ये समाचार प्रस्तुत करते ही वातावरण में शोक की छाया फैल गई। पूज्य आचार्य श्री को जब ये समाचार सुनाए गए, तो उन को बडा भारी दुख हुआ। हम पूना जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि टेलिफोन से उन के कालधर्म पाने की खबर मिली। दूसरे दिन पूज्य नानालालजी महाराज ने व्याख्यान बन्द रखा और सद्गत के जीवन पर प्रकाश डाला एवं अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

उस महान् आत्मा को कोटिशः वन्दन हो । उन की आत्मा को अखण्ड शान्ति प्राप्त हो यही शासन देव से प्रार्थना है।

—गिरधरलाल के. जव्हेरी

२९. मेरे आराध्य गुरुदेव

स्वर्गीय पूज्य-गुरुदेव पण्डित श्रीमलजी महाराज– जिन को मैं ने अपने जीवन मे गुरु के रूप में स्वीकार किया था, के साथ मेरा संपर्क २० वर्ष से भी अधिक समय का रहा है। जब कभी मैं उन की सेवा में गया हूँ, उन के जीवन मे मुझे कुछ न कुछ नवीनता का ही दर्शन होता रहा था। उन की प्रेममयी दृष्टि और पवित्र भावना का प्रभाव मुझ पर ही नहीं; प्रत्येक व्यक्तिपर पडता था। उन के विचारों मे जो उदारता एवं व्यापकता थी, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती है। उन के जीवन की जो विशेषता थी, वह सभी की स्मृति में बार-बार आ कर उन का स्मरण दिला देती है।

मेरे अपने जीवन पर उन का जो प्रभाव था, उस का वर्णन मैं नहीं कर सकता। आज भी जब कभी उन की मधुर-स्मृति से मन भर जाता है, तब उन का मुस्कराहट भरा मुख मेरी कल्पना दृष्टि के सामने स्पष्ट उभर आता है। अपने जीवन की अनेक उलझनों को मैं ने उन के सामने रखा था और उन्हों ने मेरा समाधान ही नहीं किया, बल्कि अनेक अवसरों पर मेरे जीवन का मार्गदर्शन भी किया था।

मेरे गुरुदेव श्रीमलजी महाराज एक मानवतावादी सन्त थे। प्रत्येक मानव से उन्हें प्रेम था, और प्रत्येक मानव को उन्हों ने अपने जैसा ही समझा था। उन के जीवन का आदर्श और उन के जीवन की प्रेरणा ने अनेक व्यक्तियों के जीवन का कल्याण किया था।

प्रत्येक गुरु मे यह भावना रहती है कि मेरे जीवन मे अधिक से अधिक

शिष्य बने। परन्तु पूज्य-गुरुदेव ने अपना एक भी शिष्य नहीं बनाया। उन के जीवन की यह निःस्पृहता और अनासक्ति आज के शिष्य-लोलुप साधु-समाज के सामने एक महान् आदर्श प्रस्तुत करती है। बालदीक्षा के तो वे तीव्र विरोधी थे, पर प्रौढ दीक्षा का भी— जिस में योग्यता की परीक्षा न की गई हो— वे सदा विरोध करते रहे थे। मैं भी स्वयं उन के पास दीक्षित होना चाहता था। परन्तु उन्हों ने मुझे यही कहा कि दीक्षा लेने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को उस विषय में खूब गहराई से विचार कर लेना चाहिए। अन्तरात्मा की आवाज़ पर ही तथा सयम की तीव्र प्यास जगने पर ही मनुष्य को उस दिशा में आगे बढना चाहिए। मैं देखता हूँ कि उन्हों ने अपने जीवन के जो आदर्श बनाए थे, उन पर वे अन्त तक चलते रहे।

मै ने अपने जीवन में पूज्य-गुरुदेव के प्रथम दर्शन— जब मै बी ए. का छात्र था, तब किए थे। मेरी वेशभूषा अप-टु-डेट रहती थी। मैं धर्म को ढोंग समझता था, और देव— गुरु में भी मेरी किसी प्रकार की आस्था नहीं थी। स्थानक में जाना तो मै ने कभी सीखा ही नहीं था। मेरे जीवन का आदर्श धर्म-संस्कारों से सर्वथा विपरीत था। किसी भी साधु के पास जाना मै अच्छा नहीं समझता था। परन्तु जिस समय ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज भीनासर में विराजमान थे, तब उन के विचारों से मैं प्रभावित हुआ और उसी समय श्रद्धेय पण्डितजी महाराज से मेरा खूब परिचय हुआ था। विचारचर्चा में पण्डितजी महाराज ने मेरे मन की अनेक उलझनों को सुलझा दिया था। धीरे-धीरे उन की ओर मेरा आकर्षण बढने लगा।

मैं ने उन की क्रान्तिकारी युवकों के हृदय पर छाप डालने की अजीब खूबी देखी थी। और यही कारण था कि वे सदा शिक्षित युवकों से घिरे रहते थे। मेरे गुरुदेव मनोवैज्ञानिक ढंग से और नूतन पद्धति से धर्म के रहस्यों को समझा कर नास्तिक व्यक्ति को भी आस्तिक बना देते थे। उन के विचारों का प्रभाव, उन की वाणी का असर इस प्रकार का होता था कि उन के सान्निध्य में जा कर कोई भी उन से प्रभावित हुए बगैरे नहीं रह सकता था। महाराष्ट्र के पूना जैसे महानगर के शिक्षित वर्ग पर भी उन्हों ने पर्याप्त प्रभाव डाला था। पूना का 'जैन साधना सदन' आज उन की कार्यशक्ति के प्रतीक रूप में

हमारे सामने अवशेष है। उन की प्रेरणा से समय-समय पर अनेक कार्य होते रहे हैं। कार्य कर के भी उस के फल से वे सदा अलिप्त रहा करते थे। यही कारण है कि उन में अनेक संस्थाओं का संचालन करने की शक्ति होते हुए भी उन्हों ने अपने नाम पर कोई संस्था खडी नहीं की। दूसरों के लिए सब कुछ कर के भी उस मे यश का भागी न होना, उन के जीवन का सब से बडा त्याग था। आज के साधु समाज को मेरे पूज्य-गुरुदेव के जीवन के इस उज्ज्वल आदर्श को अपनाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

श्रमण-संघ के वरिष्ठ नेता और श्रमण-संघ के जन्मदाता उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज पर पण्डित श्रीमलजी महाराज की अनन्य आस्था और अत्यन्त श्रद्धा थी। पण्डितजी महाराज अनेक बार अनेक प्रसंगों पर उपाध्याय श्रीजी के जीवन के मधुर प्रसगों को बडे ही प्रभावशाली ढंग से सुनाया करते थे। एक बार मुझे उन्हों ने कहा था– ' समस्त स्थानकवासी समाज में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिन्हों ने समाज को एक सही दिशा का मार्गदर्शन किया है। एक थे– मेरे पूज्य आचार्य जवाहरलालजी महाराज, और दूसरे आज वर्तमान में हैं, उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज। इन दोनों ने समाज को नया दृष्टिकोण दिया। वह आज तक दूसरा कोई नहीं दे सका। ' जब कभी मैं पण्डितजी महाराज के दर्शनार्थ जाता था, तब वे मुझे अमर-साहित्य पढने की सलाह दिया करते थे। उन के स्वर्गवास के तीन सप्ताह पूर्व, जब मैं उन की सेवा मे गया था, तब उन्हों ने मुझे ' सूक्ति त्रिवेणी ' पुस्तक दी थी। और उस मे से कुछ प्राकृत गाथाओं का और संस्कृत श्लोकों का मधुर स्वर में उच्चारण कर के भी बतलाया था। मैं ने सुना था कि उपाध्यायजी महाराज का प्रेम पण्डितजी महाराज पर उन के अपने शिष्यों से भी अधिक था। परन्तु उपाध्याय श्री मेरे गुरुदेव को सदा अपना साथी तथा मित्र ही मानते रहे थे। भीनासर-सम्मेलन में उपाध्यायजी ने मेरे गुरुदेव को अपने स्थान पर उपाध्याय बनाने का प्रस्ताव भी रखा था। पर गुरुदेव ने बडी विनम्रता के साथ किसी भी पद को लेने से स्पष्ट इन्कार कर दिया था। किसी भी पद अथवा पदवी को लेना उन्हे अभीष्ट नहीं था। यदि पद लेने की उन की भावना होती तो वे कभी के अपनी भूतपूर्व सम्प्रदाय के आचार्य बन गए होते। परन्तु उन के जीवन में यह प्रतिज्ञा थी– ' मै अपने जीवन मे न किसी प्रकार का पद स्वीकार करूंगा, न अपने नाम पर कोई संस्था

खडी करूंगा, और न अपना कोई शिष्य बनाऊंगा।' अन्त में मैं पूना श्री संघ को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिस ने पूज्य गुरुदेव की अस्वस्थ अवस्था में सेवा की थी। जो कुछ सघ कर सकता था, उस से अधिक ही संघ ने सेवा की। और अब पूज्य-गुरुदेव की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए 'पण्डित मुनि श्रीमल प्रकाशन' की योजना बनाई है, और उसे चालू भी कर दिया है। इस संस्था के सस्थापक एवं संचालक श्री कनकमलजी मुनोत हैं। मुनोतजी की योग्यता में किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। पण्डितजी महाराज के वे अन्तरग साथी रहे हैं। गुरुदेव के प्रति उन के मन में अत्यन्त प्रेम भी है। मैं उन के इस प्रयत्न में उन की पूर्णतया सफलता चाहता हूँ। आशा करता हूँ कि निकट भविष्य में ही यह संस्था पूज्य-गुरुदेव की स्मृति का सच्चा स्मारक होगी।

— मोहनलाल कोटेचा

३०. प्रेरणा-प्रदीप : पण्डितजी

श्रद्धेय पण्डित श्रीमलजी महाराज के महान् व्यक्तित्व का दर्शन करने का और उन के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे दो तपों– दो युगों (चौवीस वर्ष) पहले मिला था। तब से मुझे उन की सेवा का लाभ मिलता रहा है। और यह लाभ अधिक तर पूना में ही मिला है। माताजी महाराज की अस्वस्थता के कारण पूना-संघ को इस ज्योतिर्मय जीवन का विचार आलोक सहज ही मिल गया। और पूना-सघ ने इसका लाभ भी उठाया।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के प्रति आप का अपरिमित आदर भाव था। उन की सुविधा का वे पूरा ख्याल रखते थे। जब आचार्य श्री राजस्थान में पधारे, तब पण्डितजी महाराज ने मुझे संकेत किया कि आचार्यश्री को इस समय आप की सेवा की आवश्यकता है। आचार्यश्री ने मुझे कुछ भी सूचित नहीं किया। परन्तु पण्डितजी महाराज ने

समाज में उनके सन्मान को बनाए रखने का पूरा प्रयत्न करते थे। इसी का फल है कि मुझे अजमेर-सम्मेलन मे आचार्यश्री एवं समाज की सेवा करने का सुअवसर मिला।

उन का मेरे प्रति बहुत स्नेह था। विहार में कभी रास्ते में मिलते, तो कई मीलों तक वे समाज, धर्म एवं जीवन के सम्बन्ध में अपने विचार सुनाते चलते थे।

विद्यार्थियों एवं असहाय व्यक्तियों के प्रति पण्डितजी महाराज का विशेष ध्यान रहता था। उन के जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते थे।

महाराष्ट्र एवं विशेष कर पूना पर उन का सब से बडा उपकार यह है- उन्हों ने समाज को सघटित करने का प्रयत्न किया, और मिल-जुलकर काम करने की प्रेरणा दी। मुझे भी उन से बहुत कुछ प्रेरणा मिली है, सोचने-समझने की नई दृष्टि मिली है। उन की प्रेरणा का प्रदीप आज भी जीवन में जल रहा है और सदा जलता रहेगा।

--चन्द्रभान रूपचन्द डाकलिया

३१. पण्डितजी महाराज का सुखद सम्पर्क

'धर्मत्वाची जेथ प्रचीति। तेथें कर माझे जुळती॥'

सब लोग एकचित्त हो कर सुन रहे थे। न जाने कौनसी मोहिनी से हाम इतने प्रभावित हो उठे थे! उस व्यक्ति के मुख से अमृतधारा बह रही थी। वह तेजस्वी व्यक्ति, पण्डितरत्न मुनिश्री श्रीमलजी महाराज थे।

हम मन्त्रमुग्ध हो कर ही घर आए और पिताजी के पीछे पडे कि हमार भी इन से परिचय करा दो। उस समय हम चाकण मे रहते थे। पण्डितजी

महाराज वहाँ पधारे थे। हम ने प्रभावित हो कर उन से संपर्क बढाना शुरू किया। उसी समय हमारे पूजनीयों ने उन्हें अपना गुरू बना लिया था।

हम सभी बच्चों ने उन से परिचय कर लेने का निश्चय किया और महाराजश्री को हमारे घर पधारने की विनती की। पण्डितजी महाराज ने बडे आनन्द के साथ हमारा निमंत्रण स्वीकृत किया और हमारा घर पवित्र किया। हमारा उत्साह द्विगुणित हुआ, जैसे

'साधु-सन्त येती घरा। तोचि दिवाळी-दसरा ॥'

हमारा परिचय इस तरह बढता गया। हम उन्हें अपने कुटुम्ब का एक घटक ही मानते थे। वे अपने से बहुत बडे हैं, यह हमें नहीं लगता था। जब कभी उन्हें शान्ति की जरूरत होती– लिखने या चर्चा करने के लिए– तो वे प्रायः हमारे बगले का ही चुनाव करते।

एक बार ऐसे ही श्री साधकजी को साथ लिये चर्चा करने एवं पुस्तक का लेखन करने हमारे यहाँ पधारे थे। करीब एक मास वे हमारे यहाँ ठहरे। इस अवधि मे उन के विचारों से हम समधिक परिचित हुए।

नेहरू चाचा की तरह ही वे बच्चों मे बहुत प्यार करते थे। वे सदा कहते रहते थे—

'बच्चे मन के सच्चे।'

उन के सभी आचार-विचार आधुनिक पद्धति के थे। इसी लिए हम उन्हें अधिक चाहते थे। उन्हीं के कारण हमारे ऊपर धार्मिकता का कुछ प्रभाव पडा और हम ने भी कुछ सीखना शुरू किया।

पण्डितजी महाराज ने ही पूना में सब से पहले लाउड-स्पीकर पर व्याख्यान देना शुरू किया, उस से पूर्व कोई भी साधु-सन्त लाउड-स्पीकर पर बोलते नहीं थे। इस कारण सब लोग व्याख्यान नहीं सुन सकते थे। यह असुविधा ध्यान में ले कर पण्डितजी महाराज ने एक अच्छी परम्परा और सुन्दर प्रथा शुरू की।

हमें उन का यह विचार सब से अच्छा लगता था कि वे दीक्षा के विरोधी

नहीं रहा, तब उन्हें घर लाया गया। जब पण्डितजी महाराज ने यह सुना, तो तुरन्त ही घर आए। दादाजी बेहोश थे। लेकिन न जाने, अचानक क्या हुआ। दादाजी होश में आ गए और महाराज को सामने देख हाथ जोड दिए। हम सब आश्चर्य से यह देख ही रहे थे कि उन्हों ने कुछ इशारा किया। किसी के कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आखिर पण्डितजी महाराज ने पूछा, 'क्या आप सन्थारा लेना पसन्द करेंगे?' दादाजी ने हाथ जोड कर अपनी सम्मति दे दी। सभी की सम्मति से सन्थारा लेकर उन्हों ने पवित्र-मरण को स्वीकार किया।

हमारे घर के प्रत्येक व्यक्ति के साथ उन का निकट का सम्बन्ध था। उन्हीं के कारण से हम आज इतनी प्रगति कर सके हैं। आज भी कोई कठिनाई पैदा होती है, तो हमें उन की बहुत याद आती है। लगता है, अभी जा कर पण्डितजी महाराज से पूछें। लेकिन जाएँ, तो जाएँ, कहाँ? आज भी उन की आकृति के साथ उन की दी हुई शिक्षाएँ भी हमारे सामने आ जाती हैं और हमारा आधा काम तो हो जाता है। हम लोग जब भी स्थानक में जाते हैं, तो उन की ही छाया वहाँ हमें दिखाई देती है, और लगता है, पण्डितजी महाराज ही वहाँ बैठे हैं। जब कभी पूज्य पण्डितजी महाराज की स्मृति आती है, तो उन की दी हुई शिक्षाओं को याद करते हुए, नीचे की पंक्तियाँ जबान पर आ जाती है—

'जरी आलें अघारुन;
होतें तुझे पाघरुण।
वादळल्या दिशा तरी
नेलें बोटासि धरुन॥

आता लोपता सावली,
आम्ही झालों हीन दीन।
गुलाबाच्या कळींतला,
गेला सुगंध उडून ॥'

कुसुम लुंकड
सेक्रेटरी, गृह-सौख्य-मंडळ

३२. जिन्हों ने संभाला–बिछुडे हुए बंधुओं को

" गणधर गौतम ने भगवान महावीर के सामने वही प्रश्न प्रस्तुत किया, जो आज के नोजवानों के दिल को झकझोरा करता है कि आखिर सेवा करने से मिलता क्या है ? "

' तीर्थंकर पद ' – भगवान ने एक शब्द में जो उत्तर दिया, उस में सभी कुछ समा गया। वे बोले– ' जे गिलाणं पडिसेवइ से ममं नाणेणं दंसणेणं चारित्तेण पडिवज्जइ।' ' जो विशुद्ध भाव से बच्चों की, बीमारों की, वृद्धों की, और जरूरत-मन्दों की सेवा में अपने आपको समर्पित कर देता है, वह ज्ञान–दर्शन–चरित्र के द्वारा मुझे प्राप्त करता है, तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है और अन्त में सिद्धि प्राप्त करता है।'

आज से लगभग १६ वर्ष पूर्व अजमेर में जब मैं पंडित मुनि श्रीमलजी के दर्शनार्थ पहुँचा, तो वे कुछ युवकों के बीच बोल रहे थे। उन्हों ने उस समय अपना अन्तःकरण शब्दों में उँडेलते हुए बडी ही वेदना के साथ कहा था– " एक ओर भगवान महावीर ने सेवा का इतना महत्त्व बताया और दूसरी ओर हमारा जीवन सेवा-भाव से सर्वथा शून्य है। हर व्यक्ति अपने अपने– स्वार्थ के लिए परेशान है। हमारा कोई सामाजिक कर्तव्य भी है, ऐसा किसी की समझ में नहीं आता। आज चारों ओर आशिक्षा, विषमता, भूख और गरीबी का बोलबाला है, लाखों-करोडों लोग असहाय हैं, विवश हैं। ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि वैयावृत्ति तप करने वालों को मिशनरियों की भाँति सेवा के क्षेत्र में आगे आना चाहिए। "

ऐसे क्रान्तिकारी विचार सुन कर मेरा परेशान मन अपार उत्साह से भर उठा। मैं उन दिनों साम्प्रदायिक जीवन की दास्यता छोड कर सेवा के क्षेत्र में कदम ही रख रहा था। मुझ पर सम्प्रदायवादियों के आक्रमण पर आक्रमण हो रहे थे। उस समय पण्डितजी (उन्हें प्यार से पण्डितजी ही कहा जाता था) ने जिस ममत्व, स्नेह एवं सौजन्य से आगे बढने की प्रेरणा की, क्या वह कभी भुलाई

जा सकती है? उन्हों ने मेरे विश्वास को बल देते हुए 'प्रसाद' की पंक्तियाँ दुहराई थी—

'औरों को हसते देखो मनु,
हंसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
जग को सुखी बनाओ॥'

मुझे इस प्रकार सम्मान देते देख कर भला किसी सम्प्रदायवाले को कैसे सह्य होता? भाति-भाति की टीका-टिप्पणी हुई, तो मैं ने समझा– पण्डितजी मुझे चले जाने का आदेश देंगे, पर वहाँ तो उल्टा ही हुआ। उन्हो ने श्रद्धालु समुदाय को ही समझाया —

"हम साधारणतः घर-गृहस्थी से मुक्त, अमुक क्रिया–काण्डों से युक्त और संसार से विरक्त लोगों को साधु मानते हैं। ऐसे साधु भले ही अब तक आदरणीय रहे हों, लेकिन अब समय बदल रहा है। इन दिनों साधुओ और प्रगतिशील लोगों के बीच धीरे-धीरे एक रिक्तता पैदा हो रही है, इसलिए सेवाकाक्षी लोगों को आगे लाकर ही हम इस रिक्तता को पा सकेंगे।"

निश्छल जीवन, उदात्त दृष्टिकोण और उज्ज्वल कृतित्व से पण्डितजी ने जैन समाज की जो सेवा की, वह सर्वविदित है, लेकिन मेरी दृष्टि में जो सब से बडी सेवा उन से हुई, वह है बिछुडे बंधुओं को सभालना।

आदिकाल से साधु-समाज अपने से अलग हो जानेवालों को भूल जाया करता था। उन्हें याद भी करता, तो घृणा के तौर पर। इसी लिए अलग होनेवालो की योग्यता, प्रतिभा, क्षमता आदि का जैन समाज के लिए कोई उपयोग न था। उल्टा, निर्माण किए हुए व्यक्तियों से स्वयं इस समाज का अहित होता था। इस अहित को बचाने और बिछुडे बन्धुओ को निकटता में रखने का प्रयास किसी ने नहीं किया। गोशालक महावीर से दूर पड़े। उस के बाद तो यह दूर होनेवालो की एक अलग परम्परा ही हो गई। पर प्रश्न चिन्ह बनी इस परपरा को समझाना किसी ने आवश्यक नहीं माना। इस से कई भले-बुरे परिणाम समाए आए।

अतीत को छोड भी दें, तो विगत दो दशकों में भी इस प्रकार साधु-समुदाय छोडने वालों की कमी नहीं रही है। कई शिक्षित सन्त हमारे देखते–देखते

जैन समाज के विभिन्न संप्रदायों से हटे हैं। उन का उपयोग सेवा क्षेत्र में किया जाता तो वह कम निर्माण का काम नहीं होता। पर इस ओर किसी का ध्यान जाय तब न! मैं समझता हूँ कि पूरे जैन इतिहास में केवल पंडितजी ही पहले व्यक्ति थे, जिन्हों ने अनादृतों को आदर देने की सूझबूझ से काम लिया। वे उन लोगों को अपने परिवार का सदस्य कहने में कभी नही हिचकिचाये, जिन्हें स्वयं उन के परिवार वालों ने परित्यक्त कर रखा था। उन के विश्वस्त साथियों में केन्द्र बिन्दु वे रहे, जिन्हें साथी बनाने वालों को सामाजिक अप्रतिष्ठा का शिकार होना पडता था। विद्रोह की आग भडकाने वालों को विनोद के साथ विश्वास में लाने की कला पण्डितजी को सध गई थी। लगभग दो दर्जन बहिर्भूत साधुओंको विनाश के बजाय विकास में लगाने की उन की योजना का मैं स्वय साक्षी रहा हूँ। नष्ट करने वालों से निर्माण का काम लेने की अद्‌भुत क्षमता पाने के लिए मुझे लगाता है कि आनेवाले युग में पंडितजी के जीवन-चारित्र का पारायण करना अनिवार्य हो जायगा।

बिछडे साथियों का उपयोग करने एवं युवा पीढी का सही-सही मार्गदर्शन करने के हेतु आखिर में एक ऐसा केन्द्र खडा करने की पंडितजी की अभिलाषा थी जहॉं सामाजिक समाधान की दिशा प्रशस्त होती। इसी लिए अपना भौतिक शरीर छोडने के कुछही समय पूर्व उन्हों ने मुझे अपने अतिम पत्र मे लिखा था—

" आज ब्रह्म मुहूर्त में ही अन्तःकरण में वह सरस प्रेरणा हुई है कि मैं आप को पूना बुलाऊ और तदनुसार श्री...से भी बात कर ली है। हम सब एक मत हुए हैं। वर्षों से मेरा जो अभीप्सित है, जो बीज अन्दर ही अन्दर बोये हुए हैं, संभव है वे अब वृक्ष का रूप धारण कर फले फुलें।

" मेरी ऑंख में मोतिया आ रहा है। लिखना पढना प्रायः बन्द है। कठिनता से पत्र लिख सकता हूं। फिर भी मन की प्रसन्नता के कारण कष्ट भी कष्ट रूप में मालूम नहीं होता।"

कष्ट को कष्ट न समझ भी कर्तव्य पालन में जुटे रहने वाले पण्डितजी हमारे लिए बहुत कुछ करणीय छोड गये हैं। पूरे जैन समाज को, और खास कर उन के निकटवर्ती मित्रों, सहयोगियों, अनुयायियों और भक्तों को चाहिए कि श्रद्धाजलि अर्पित करते समय हम सोचें कि क्या हम पण्डितजी की आकाक्षाएँ

पूरी कर सकते हैं ? साथियों का जिसने सदा साथ दिया, पर जिसका साथ साथी नहीं दे पाये, उस के बारे में अपना कर्तव्य निर्धारित करते समय हम यह न भूलें कि—

'शाद' गो हम में नहीं वह रहनुमाए नामदार।
रहनुमाई को मगर मौजूद हैं उस के विचार ॥

— शरद कुमार (साधक)

३३. श्रद्धाभाजन आत्मीय बंधु के सम्पर्क में चन्द क्षण

नियति का अखण्ड चक्र चल रहा है। आना और जाना। परन्तु धरा पर आने वाले में, प्रकृति और विकृति के रूप मे दो प्रकार के वीज बो दिए हैं। आने-वाली व्यक्ति जब मानव प्रकृति में प्रकट होती है, तब उसी नियति द्वारा प्राप्त हुई शक्ति व बुद्धि के कारण प्रकृति व विकृतिमय कृति कर के अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देता है। उस का मूल्यमापन समस्त मानवसृष्टि करती रहती है। नियति का यह अखण्ड क्रम चल रहा है। इस धरा पर ऐसे अनेकों आते हैं और प्राप्त जीवन सफर पूरा होने पर चले जाते हैं। मेरे आत्मीय बन्धु दिवगत महापण्डित मुनिश्री श्रीमलजी महाराज भी इस धरा पर अवतरित हुए एक सामान्य मानव के रूप में और जीवन-सफर समाप्त होने पर उसी नियति के रजःकण में अस्तमान हो गये हैं। इस घटना को करीबन नवमास हो गये हैं, नव साल भी वीत जाएँगे। कालचक्र अखण्ड रूप से अग्रसर होता ही रहता है। यद्यपि शेष रहे हम मानव दुनियादारी की परम्परा से उन की दिवंगत महान् आत्मा का प्रकृति व विकृति के रूप में विश्लेषण करते हुए उन के प्रति अन्तःस्तल में रही हुई भावना संस्मरण के रूप में प्रकट करते रहेंगे। उन का उज्ज्वल एव व्यक्तित्वसंपन्न जीवन-चरित्र छप रहा है. उस के कुछ पन्ने आन्तरिक भावपुष्पों से सुरभित करने का उन के चाहने वाले समाजधुरधरो ने बीडा उठाया है। तदनुसार मुझे भी उस मधुर सुरभि में कुछ मिलाने का आदेश हुआ है। कलम से मेरा कम सरोकार रहने से इस काम मे कहाँ तक मैं कामयाब हो पाऊँगी यह

तो नहीं मालुम, परतु आदरणीय व्यक्ति के आदेश को टालना अखरता है। आखिर विवश हो कर कलम हाथ में ले कर यह भाव-संस्मरण सादर अर्पित कर रही हूँ।

लगभग एक तप से भाई महाराज का और मेरा निकट संपर्क रहा है। वैसे तो बचपन से ही उन के प्रति मेरी आत्मीयता थी। उन के साधुजीवन का प्रारंभ हमारे गाँव—से सतारे से ही शुरू हुआ है। हो सकता है...मानो तब से ही हम अधिकाधिक निकट आ रहे थे। वे कहा करते थे कि, यद्यपि हम ने एक माँ के उदर से जन्म नहीं लिया तो क्या हुआ, फिर भी जीवनारंभ तुम्हारे गाँव से ही शुरू हुआ है। दिन-ब-दिन आन्तरिक लगन बढती ही रही। तब से ले कर इन के अन्तिम जीवन तक उन के शरीर में विचरती हुई आत्मा को विचारों के विविध रूप में देखा है, फिर शरीर के अन्तर में जो आत्मारूपी मन है वह पूर्णरूपेण एक मानव प्रकृति के रूप में विलसता था। इस चलित दुनिया में उन्हों ने सीमित साधुजीवन का व्रत ले कर अपने गुरुदेव के पास दीक्षा ग्रहण कर के नियमबद्ध साधना यात्रा व्यतीत की। परन्तु उन की आतर प्रकृति एक मानव मात्र के रूप में स्पष्टतया व्यक्त होती थी। सर्वप्रथम वे अपने आप को नियति की चतुर कला से बना हुआ मानव समझते थे। तदनुसार शरीर की जो भी नित्यावश्यकताएँ हैं उस का उन्हों ने अपने नियमबद्ध जीवन में पूर्णतया संयमित उपयोग किया। क्यों कि वे मानते थे कि इस अमर्याद लोक दुनिया में घुल-मिल कर समभाव से काम करना है। अतः अपना इष्ट साध्य सिद्ध करने के लिए इस मानव रूपी शरीर के स्वस्थ (विकृति याने दूषित विकार) और निरोग रखना विकृतियों—दूषित विकारों से बचा कर रखना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि हर मानव की मूल प्रकृति विकृतिमय नहीं बन पाएगी। वह सदा प्रसन्न ही रहेगा और उस के अन्तस्तल से प्रसन्न एवं स्वच्छ निर्झर की तरह गंगा का धवल स्रोत आमोद—प्रमोद के साथ मानव—स्वभाव के रूप में अवतरित होगा और उस से समस्त मानव जाति तथा मानव जीवन स्वयं भी आनदित होगा और अपने संपर्क में आने वाले सभी आत्मीय-अनात्मीयों को सदा प्रमुदित करता रहेगा। मनुष्य जीवन की सफलता का यह प्रमुख सूत्र है— ‘ मनुष्य सदा प्रसन्न रहे ’। गुरु बन्धु सदा विकसित पुष्प की तरह सदैव प्रसन्न ही नजर आते थे। अपना प्रभावशाली एवं तेजस्वी व्यक्तित्व अगर निर्माण करना है तो उस के लिए अपने स्वयं के विचार होने चाहिए।

क्यों कि अपना जीवन अपनही बनाते हैं। उन के खुद के विचार काफी ज्वलन्त थे। उस वजह से अनेक जटिल समस्याएँ सामने तैयार रहती थी उनको सुलझाने का ढेर-सा काम हमेश रहता था। कभी भी देखो, कोई न कोई बाल-वृद्ध दुःखित-पीडितों का जमघट किसी न किसी रूप में उन के सन्मुख लगा रहता था। अपनी अपनी जीवन रामायण की गाथा माड कर सुनाते थे। विविध प्रकार के चित्रविचित्र व्यक्तियों की समस्याएँ एवं अन्य कठिनाइयाँ शान्त चित्त से सुनना, फिर अपनी सुदूर चतुर दृष्टिक्षेप से उस व्यक्ति के अंतस्तल को टटोलना और फिर मधुर वाणी द्वारा उस आने वाले को शक्ति, साहस एवं उचित मार्ग बतला कर सभी प्रकार के विविध व्यक्तियों को हर प्रकार की सहायता देना, इस बात को मानो उन्हों ने अपना जीवन-लक्ष्य ही बना लिया था। इसे इष्ट देव के मंदिर की सुगम सीढी मान ली थी। इसी उद्देश्यमय पगडण्डी पर जीवनान्त तक शेर-सी गर्जना करते करते वे सदा शान से व बान से व शाति के साथ गति करते रहे। वे समूचे जीवन में व इष्ट-मन्दिर में 'पहुँचने तक जैसे के तैसे अविचलित-अडिग रहे। कभी भी मैं ने उन को दोलायमान होते नहीं देखा। धन्य धन्य हैं हमारे समस्त जैन-अजैन मानव मात्र के सच्चे प्रेमी। एक सामान्य माता की कोंख से जन्म ले कर स्वयंचलित अपना जीवन बना कर जीवन-पथ पर अविचल मार्गक्रमण करते-करते इस नश्वर जीवन की यात्रा बडे शान से समाप्त कर दी और शेष रहे हम मानवों के लिए यही अपना अमर सन्देश शेष रखा है कि, सदा चलते रहो, रुकना तेरा काम नहीं है, चलना ही मानव मात्र की शान व बान है। जो आगे बढता है वही जीवन-मधु प्राप्त करता है।

आज वही प्रकृति इस धरा पर आने वाली नियति के उसी रज कण में चिरशान्ति में विलीन हो चुकी है। शीतल चन्द्रमा अपनी आल्हादमयी चाँदनी मधुर स्मृतियों के रूप में चतुर्दिक छिटका कर नील-गगन की लालिमा में सदा के लिए अंतर्धान हो गया है। आज हम सभी उन के दिवंगत शरीर से वंचित हैं किन्तु, उन की अमर-स्मृति महीनो नहीं, वर्षों नहीं, युग-युग तक हमारे लघु-मानस में सदा वास करती रहेगी और चेतावनी देती रहेगी, आगे बढे चलो।

आज उन के पवित्र संस्मरण में मेरी नम्र भावाञ्जलि अर्पित है।

—सौ. गुलाब मुनोत

३४. वे क्षण ....

'आप का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, व्याख्यान का श्रम न करें तो अच्छा ..." मैं ने दबी आवाज में कहा।

मन्द मुस्कराहट के साथ वे बोले – "अगर धंदा न करेंगे तो खाएँगे क्या? तुम लोगों के यहाँ से आहार जो लाना पडता है और व्याख्यान के सिवा हमारे पास है ही क्या देने को? रही प्रकृति की बात, तो यह तो ऐसी ही चलती रहेगी। हमें भी उसी के साथ चलना है। वर्तमान के क्षणों को ही हाथों में पकड लेना है, स्थितप्रज्ञ की तरह! यही तो साधना है।"

"हाँ, यह तो ठीक, पर उपचार भी तो करना पडेगा न? आँखों का इलाज, पेट की चिकित्सा। पूज्य माताजी महाराज जाने के बाद कुछ निराश से दिख रहे हैं।"

"...वही तो.....साधना में बहुत कमी है। आसक्ति के जाल तोडने पर भी नही टूटते। आखिर मनुष्य हूँ। साधु का वेष दिया तो क्या? वेष मात्र ही से कुछ समय में ही गुणस्थान की श्रेणियाँ तो लाँघ नही सकते।... दोषमय तो हूँ ही। पर उन्हें दूर करने के लिए मनन पूर्वक यथाशक्ति साधना कर ही रहा हूँ। दुनिया के लिए नहीं, अपने ही लिए। रही आँखों के इलाज वगैरह की बात, तो वह तो चल ही रही है। अपने डॉ. लुणावत के हाथ शरीर को सौंप दिया है। आखिर शरीर भी तो आत्मा का घर जो ठहरा। साफ सुथरा एवं स्वस्थ तो रखना ही पडेगा। ......"

ये और ऐसे ही बहुत से क्षण अंतःकरण में अस्तित्वमय हो गये हैं, सदा के लिए और वे पामर जीवन को सत्त्वमय, सेवामय बनाने की स्फूर्ति दे रहे हैं।

यूँ तो उन की 'जैनदीक्षा और वर्तमान अवस्था' पुस्तक में उन के क्रान्ति-दर्शन हुए ही थे। सम विचार के कारण आत्मीयता जागी। और पूना के उनके

दीर्घकाल के वास्तव्य में परिचय वृद्धिगत होता गया। मन में जब अध्यात्म की प्यास जागती तो झट उन के निकट चल पडते पग। ज्ञान की गहराई, अकृत्रिम सहज साधना, विचारों की दृढता– उन की वाणी में प्रगट हो जाती। कभी–कभी वाणी आवेशमय हो जाती। आडंबरयुक्त धार्मिक जीवन, अंधश्रद्धा से भरा समाज आदि उसी चली आ रही पुरानी रफ्तार से उन का जी ऊब जाता, तब उन के विरोध में जोशमय सात्त्विक वृत्ति उभर आती। आख्यानो में भी यह आवेश प्रगट होता रहता था। वे कहते कि– जो मैं हूँ, वह यह–इसतरह हूँ...।"

यूँ इस प्रकार के अनेक क्षण मेरे जीवन में स्मृतिरूप में अमर हुए, जो मुझे सम'भावना में ले जाते हैं और सेवामय जीवन का पाठ दे जाते हैं।

वे सदा निर्भय हो कर रहे, जो सत्य है उसे कहने में जरा भी न हिचकिचाएँ। ऐसे साधु आज के जमाने मे विरले ही दिखाई देते हैं। उन्हीं के जरिये समाज आगे जाता है। उन की पुण्यस्मृति हमें हमारे जीवन को साधनामय बनाने में सहाय-भूत हो यही सद्भावना।

—'परिचिता'

३५. हा, हन्त!!

जिन पुष्पों में गंध नहीं होती, वे भले ही अपने सौंदर्य से आकर्षित कर लें, लेकिन उन की कोई उपयोगिता नहीं होती। फूल कमरे में खिलते हैं, बगीचों में मुस्कराते हैं और जंगलो में फूलते हैं। फूल को खिलना ही पड़ता है। वह गंध बिखेर सका तो सब के लिए आकर्षण का कारण बनता है। कमरे का फूल केवल आकर्षण में पल कर कमरे की शोभा बढाता है। बगीचे के फूल की रक्षा माली करता है। जंगल का फूल खिलने से लेकर टूट कर बिखर जाने तक अपने पॉव पर खडा मुस्कराता रहता है। जंगल के फूल पर लोगों की नजर कम पडती है। बगीचे का फूल सभी देखते हैं, कमरे का केवल कुछ लोग। बगीचे के फूल की गंध सामान्य होती है, कमरे की गंधहीन। जगल के फूल सुरभि दिगदिगंत में व्याप्त हो जाती है। पण्डित श्रीमलजी महाराज जंगल के फूल थे।

स्थानकवासी जैन समाज के कानन में चारों ओर सुगध बिखेरने वाले पुष्प पण्डित श्रीमलजी के रूप में प्रत्येक की आत्मा में अपनी गंध बिखर रहे थे। अभी समाज को उन की अत्यंत आवश्यकता थी कि असमय, अकस्मात उन का पार्थिव शरीर हम से छीन लिया गया। यह अवसाद की वेला है। कुछ भी कहना उन की महानता को झुठलाना है। वे इतने सरल हृदय थे कि उन के सपर्क में आने वाला व्यक्ति कभी परायापन अनुभव ही न कर सकता था। वे चले गए। उन की स्मृतियों को स्मरण करते रहें, उन के गुणगानो का जयघोष भले ही कर लें परतु उन की दृढता और क्षमता का अभाव हमें बराबर खटकता रहेगा। पण्डित श्रीमलजी महाराज को श्रद्धाजलि देने के लिए लेखनी में शक्ति चाहिए। लेखनी की शक्ति इतिहासकार एवं साहित्यकार के पास होती है। भविष्य में समाज के धुरंधर उन के कार्यों का मूल्याङ्कन करेंगे।

मैं तो यही चाहती हूँ कि उन की स्मृति का प्रकाश मेरे पथ को प्रकाशित करता रहे। क्यों कि पता नहीं कब जिन्दगी की शाम हो जाए, ठीक मालूम नहीं। ५ अक्टूबर १९६७ का दिन हमारे लिए दुख और विषाद का दिन आया था। सुननेवाले हरेक व्यक्ति के मन में विधाता के क्षणिकवाद के नियम पर झुंझलाहट आती थी। परिवर्तित समाज के साथ अपने विचारों को ढालने वाले पण्डितजी के प्रति श्रद्धा की अटूट भावना का होना अत्यंत स्वाभाविक है। सच है जिन व्यक्तियों की समाज या राष्ट्र को आवश्यकता होती है अथवा जो प्रिय होती है शायद भगवान को भी उन के प्रति स्नेह रहता है, तभी तो हमारे बीच से उन्हीं को उठा लिया जाता है।

पण्डितजी महाराज के व्यक्तित्व का प्रभाव जन-मानस पर अत्यन्त गहरा पड़ा था। मैं उन की छत्र-छाया में बिताये दिनों की याद करती हूँ, तो मेरे सामने एक नक्शा खींच जाता है। वे स्पष्टवक्ता ही नहीं, बडे ही हितैषी, सुयोग्य मार्ग-दर्शक भी थे। किसी भी प्रकार की समस्या को सुलझाने में सहायता करनेवाले पण्डितजी महाराज वास्तव में समाज के कर्णधार थे।

समाज मे सगठन रहे, एकता रहे, साम्प्रदायिकता की बू जरा भी न आए, जाति-भेद, आर्थिक– विषमता नष्ट हो जाए, स्त्रियों को विकास का मार्ग मिले इत्यादि सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में पण्डितजी महाराज प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष

प्रयत्नशील रहते थे। और वे कहने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं रखते थे। पण्डितजी महाराज के प्रोत्साहन से, शाब्दिक प्रेरणा से समाज में अनेक निराश, उत्साहहीन, आत्महीनता अनुभव करनेवाले व्यक्तियों ने समाज के साथ रहना सीखा। आप की अनुप्रेरणा प्रेरित हो कर अनेक मुर्झाते हुए जीवन-पुष्प मुर्झाते बच कर समाज रूपी बगीचे में सुरक्षित हो रहे हैं। क्या यह अहिंसा का प्रचार और प्रसार नहीं? क्या धर्म की इस से अलग कोई व्याख्या हो सकती है? क्या यह धार्मिक कार्य नहीं? क्या यह कर्तव्य-परायणता नहीं है? सजीव प्राणियों को मानसिक आत्महत्या से बचा कर उन को संजीवनी शक्ति देने वाले पण्डितजी महाराज को हम कैसे भूल सकते हैं? नहीं,-नहीं!— भूलने की कल्पना भी नहीं कर सकते।

पण्डितजी महाराज के जीवन का आदर्श था 'मानवता'। इसी को उन्हों ने धर्म माना था। 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में हुआ है, पण्डितजी महाराज उसी शब्द को, नवपीढी की 'मानवता' कह कर समझाते थे। यही कारण है, सुशिक्षित वर्ग उन के विचारों से शीघ्र सहमत हो जाता था। क्या डॉक्टर, क्या वकील, क्या व्यापारी- वर्ग-सभ्यता के नए युग में विकसित होने वाले और पलने वाले हरेक व्यक्ति को उन के विचार और धार्मिक मान्यताओं के प्रति गहरी आस्था तथा श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी। हमारे शास्त्रों को, हमारे तत्त्वों को स्पष्ट भाषा में समझाने की पद्धति ने ही उन्हें सर्वप्रिय बना दिया था। हमारे प्राचीन परंपरा से आए धर्म को, तत्त्वों को नए ढग से जनता के समक्ष रख कर, धर्म के प्रति हटती हुई श्रद्धा को बनाए रखने का एक दृष्टि से महान् कार्य उन्हों ने किया था। उस समय नही, तो आज तो हमें उसे मानना ही पडेगा। आज उन का पार्थिव शरीर हमारे सामने नही है, पर उन के विचारों की जीती-जागती मूर्ति, उन के द्वारा लिखित साहित्य तथा उन को माननेवाले व्यक्तियों के जीवन में साकार रूप लिए हुए उन के हमारे सामने मौजूद है। पण्डितजी महाराज आज भी हमारे में हैं और भविष्य में उन के विचारों का अनुसरण करने वाले जब तक रहेंगे तब तक पण्डितजी महाराज का व्यक्तित्व अमर रहेगा। एक सन्त ने ठीक ही कहा है—

"जब तुम आए जगत में, जग हँसा तुम रोए।
ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसो जग रोए॥"

और आज समाज में सचमुच मे पण्डितजी महाराज की स्मृति बार-बार उभर आती है। उन के निकटस्थ मित्रगण तो अपनी आँखों को रोक ही नही पाते।

समाज की माँग के, मान्यताओं के साथ अपने मे परिवर्तन लाने वाले तथा समाज के साथ चलने वाले ऐसे क्रान्तदर्शी सन्त को यदि कोई संकुचित बुद्धि वाला 'विद्रोही' कहे तो भले ही कहे, पर अब तो उन के विचारों पर हमें गौर करना चाहिए। समाज जो चाहता है, वही उन्हों ने कहा था। अब भी हम उन के विचारों पर चलेंगे तो हमारे समाज में सगठन, एकता की शक्ति अवश्य बढेगी। और पण्डितजी महाराज को चाहने वाले हम उन के सच्चे भक्त तभी कहलाएँगे। क्यों कि महान् आत्माएँ कभी मरती नही, कभी नष्ट नहीं होती। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है –

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

पण्डितजी महाराज चले गए, पर उनकी स्मृति तब तक समाज को प्रेरणा देती रहेगी जब तक गंगा और यमुना में जल है। अपनी अन्जलि में आँसु भर कर अपने समाज संरक्षक के चरणों मे चढाने के अतिरिक्त करूँ, तो और क्या करूँ? पण्डितजी महाराज अमर रहें – उन की जय हो!

– पद्मा जैन, साहित्यरत्न

३६. मेरे अभिन्न साथी

यूं तो पण्डितजी महाराज के बारे में ४० साल पहले से सुनते आया हूँ कि वे सुधारक विचारों के हैं और अपने विचारों का प्रचार प्रसार वे अपने व्याख्यानों द्वारा खुल कर करते हैं। सामाजिक सुधार यह मेरे जीवन का लक्ष्य होने के कारण मैं उनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश में रहा। उधर पण्डितजी महाराज को भी मेरे प्रति आकर्षण लग रहा था। उन का दिल भी मेरा परिचय प्राप्त करना चाहता था। सामाजिक क्षेत्र में होने के

कारण मेरे यहाँ कार्यकर्ताओं का आवागमन सदा ही रहा करता था। एक बार श्री. सूरजचन्द्रजी डाँगी (अब 'सत्यप्रेमी') मेरे यहाँ आये थे और वे पूना में विराजित पंडितजी महाराज के दर्शनार्थ जा रहे थे। मैं भी उन के साथ हो लिया। हम सिर्फ १० ही मिनट वहाँ ठहरे। निकलते समय पंडितजी ने कहा- 'यह परिचय थोडे ही है, सच्चा परिचय तो तब होगा, जब कि हम दोनों एकान्त मे बैठ कर बातें करें और विचारों का परस्पर आदान-प्रदान हो। किसी रात को फुर्सत निकाल कर चले आना।' दूसरे ही दिन रात के आठ बजे मैं स्थानक गया। बातों में हम इतने व्यग्र हो गये कि समय का दोनों को भी भान नहीं रहा। मैं घर वापिस पहुँचा तब देखा कि रात के तीन बजे हैं। यह थी हमारी पहली मुलाकात। पहली हि मुलाकात में हम दोनों एक रूप हो गये। विचारों की एकता एवं उन के अमल के लिये चाहे सो करने की तैयारी ने हमें एक दूसरे के निकट पहुँचा दिया। फिर तो क्या था हम हर रोज मिलते गये और अपने विचारों को पोषक चर्चायें करते रहें। पचीस साल पहले का यह प्रसग आज भी मेरे दिल में तरोताजा है। पंडितजी महाराज के विचार अति उग्र थे किन्तु नियम, वेप-साधुत्व आदि से बद्ध होने के कारण सार्वजनिक तौर पर बोलते समय वे अपनी सीमाओं का ख्याल कर, के ही बोला करते थे। फिर भी जब खानगी में बातें होती थी, तब पंडितजी अपने सच्चे विचार खुल कर सुना देते थे। एक दिन की बात है। पंडितजी महाराज ने एक छोटासा लेख लिखा था 'बालकों पर अत्याचार' और वह उन्हों ने मुझे दे दिया पढने के लिये। मैं घर आया, लेख पढा। मुझे बहुत पसन्द आया। बाल्दीक्षा के दुष्परिणामों का नग्न चित्र उस लेख में खींचा गया था। मैं ने उस लेख की कुछ प्रतियाँ टाइप करवा ली और भेज दी अन्यान्य जैन पत्रों की ओर प्रकाशनार्थ। दो तीन पत्रों ने उसे प्रकाशित कर दिया। जब पंडितजी ने वह देखा तो थक हो गये। मुझे सिर्फ इतना ही बोले, 'अरे यह तुमने क्या कर दिया? भेजने के पहले मुझे पूछ तो लेते। चलो, हुआ सो हुआ। अब साधु समाज मे से मुझ पर बौछार होगी। उस का सामना करने की तैयारी में मुझे रहना चाहिये।' और हुआ भी यही। पण्डितजी के नाम पत्रों का ढेर हो गया। ओलाहने, गालियाँ, निषेध, आदि की बौछार हो गई। पण्डितजी महाराज बडे संयम के साथ हरएक का उत्तर लिखते रहे। दूसरे की भूल पर भी वे नाराज नहीं होते। योग्य कार्य के लिए की गई भूल को

वे कार्य की ओर बढाया गया कदम मानते थे और यही कारण है कि मेरे इस दुःसाहस पर उन्हों ने नाराजगी नहीं प्रदर्शित की।

दीक्षा के बारे में पंडितजी का अपना दृष्टिकोण था। जो दीक्षा का प्रचलित स्वरूप था वह उन्हें फतई पसन्द नही था। उस बारे मे वे कई बार अपनी नाराजगी प्रकट करते थे। सामाजिक धार्मिक सुधार और साहित्यिक प्रवृत्तिओं में मेरी पहले से हि रुचि है। मैंने अध्यापकीय पेशा छोडकर प्रेस कर लिया था। उस का उपयोग मेरे कार्यों के आगे चलाने में कैसे किया जाय इस बारे में मैं सोच ही रहा था। मैं ने देखा, यदि समाजसेवा की तौरपर प्रकाशन शुरू कर दिया जाय और जिस में व्यावसायिक दृष्टि न रखी जाय तो काम बन सकता है। मैं ने पडितजी के आगे अपने विचार रखे और उन्हे छोटी छोटी पुस्तिका में लिखने की प्रार्थना की। पडितजी ने झट स्वीकृति दे दी। और आठ ही दिनों में लिख दिया निबन्ध –' जैन दीक्षा और वर्तमान अवस्था '। पुस्तक प्रकाशित हुई तो समाज ने उस का अच्छा स्वागत किया। लागत मूल्य रखने के कारण और कुछ पुस्तके साधु–मुनिराजों की सेवा में भेजने के कारण दो सौ रुपये का घाटा जरूर हुआ। किन्तु हमारा यह कदम यशस्वी सिद्ध हुआ।

पण्डितजी महाराज को अपने विचारों की टिप्पणियाँ, पत्रों में प्रकाशित होने-वाले अच्छे अच्छे लेख, दूसरों के अच्छे विचारो से भरी डायरियाँ, आदि रखने का उन का स्वभाव था। उनके इस भण्डार में ' जैन प्रकाश ' के कुछ नत्थी किये हुए अंक थे। मै ने देखा वह एक लेख माला थी, जिसे एक विचारक, अध्ययन-शील, समभाव रखनेवाले साधु ने लिखा था। मुझे वह लेख माला बहुत पसन्द आई। पण्डितजी से स्वीकृति ले कर उस गुजराती लेखमाला का हिन्दी अनुवाद करवा के मैं ने पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी ' समय के प्रवाह ' में इस नाम से। सादडी में सम्मेलन होने जा रहा था। मेरे श्वशुर सम्मेलन को जा रहे थे। उन के साथ मैं ने इन पुस्तकों का एक बंडल पण्डितजी महाराज को देने के लिये भेज दिया। इस बंडल में क्या है यह बात यदि मेरे श्रद्धाशील श्वशुर जान जाते तो शायद ही वे यह काम करते। वहाँ पहुँचते ही पण्डितजी महाराज ने बडल उन से माँग लिया और एक एक कर के वह पुस्तक साधुओं में प्रसृत कर दी। पुस्तक पढते ही साधु वर्ग काफी नाराज हुआ। साधु वर्ग में

जो अनाचार, गैर बर्ताव आदि देखे जाते थे, उन्हीं का स्पष्ट वर्णन इस पुस्तिका मे था। यह हमला कैसे सहा जा सकता था। धीरजभाई तुरखिया ने तो एक लंबा चौडा पत्र ओलाहनों से भरा हुआ मेरे नाम भेज भी दिया। किन्तु जब 'जैन प्रकाश' में प्रकाशित इन लेखों की तारीखों का हवाला मैं ने उत्तर में भेजा और लिख दिया कि इस पुस्तक की बातें गढी हुई नहीं है, कान्फरन्स के मुख पत्र में प्रकाशित लेखों के अनुवाद का पुनर्मुद्रण मात्र है, तब कही वे चुप बैठे।

साहस के साथ अपने विचारो को ले कर आगे बढने के पण्डितजी के स्वभाव उपरोक्त प्रसंग में अच्छा प्रमाण मिलता है।

होवे जहाँ तक आपस में क्लेश के प्रसंग न आने देना इस बार में पण्डितजी सदा सजग रहा करते थे। पू. गणेशीलालजी म. ने पण्डितजी महाराज को सलाहकार के नाते अपने साथ रहने के लिये कई बार पत्रद्वारा एवं दूतद्वारा बुलाने की बहुत कोशिश की। किन्तु पण्डितजी इस बात को टालते रहे। एक ना एक कारण बताते रहे। परन्तु मत भिन्नता यही सच्चा कारण था। मतभिन्नता के कारण ही दूर से सलाह देने का काम पण्डितजी करते रहे। श्रमण-सघ छोडने के बारे में तो स्पष्ट रूप से लिख ही दिया था कि श्रणम-संघ छोडना आप के लिये ठीक न होगा। अन्त मे पू गणेशीलालजी म. ने श्रमण-संघ छोडने की घोषणा कर दी, फिर भी पण्डितजी महाराज अपने विचारों में दृढ रहे और वे श्रमण-सघ में ही रहे।

प्रलोभन का कोई असर पण्डितजी पर नहीं होता था। साधु सम्मेलन के आयोजन, सगठन, सचालन मे भरसक कष्ट लेने पर भी जब उन्हें अधिकार देने का प्रश्न आया तब उन्हों ने स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। पू. गणेशीलालजी महाराज ने अपने सप्रदाय का उपाचार्यपद पण्डितजी म. को देना चाहा। उस कामपर अपने प्रमुख श्रावकों को पण्डितजी म. को मनाने के लिये पूना भेजा। परन्तु पण्डितजी महाराज टस से मस न हुए। उस वक्त यदि पण्डितजी महाराज स्वीकृति दे देते तो वे आज उन के संप्रदाय के आचार्य होते। किन्तु वे अपनी जिन्दगी में किंग मेकर (King-maker) ही रहे।

सामाजिक सुधारों के बारे में पण्डितजी सदा आगे कदम रहा करते थे। जैन विधवा विवाह मंडल की स्थापना मैं ने की। कई विधवा विवाह संपन्न किए। उस मेरे कार्य को ले कर अहमदनगर के पंचों ने मेरा बहिष्कार (पंचायती नोहरे-

वाडे में भोजन बन्दी से) किया। हमारे दिल पर इस बात का कोई असर नही हुआ। पण्डितजी महाराज का उस वक्त हमारा परिचय भी नहीं था। फिर भी यह बनाव पण्डितजी को बहुत अखरा। और आगे चल कर पूना में अहमदनगर जिले के दो सम्पन्न घरों के युवान-युवती का विधवा विवाह हमने सम्पन्न किया तब नगर के युवकों को तैयार कर के अहमदनगर में ही हमारा सम्मान समारोह आयोजित करा के पण्डितजी ने अहमदनगर के पंचों के बहिष्कार का जवाब दिया।

पण्डितजी स्वय दीक्षा के विरोधी तो थे ही। कई बार शिष्य बनाने की अनेकों ने उन की प्रार्थना करने पर भी पण्डितजी अडिग रहे और जीवनान्त तक किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाया। पण्डितजी तो इस से भी आगे बढे। वे जानते थे कि कोई साधु या साध्वी यदि दीक्षा छोड दे तो उस के लिये समाज में कोई स्थान नही रहता। इस लिये कोई दीक्षा छोड देता तो वे उसे अपने पास बुला लेते, उस के साथ प्रेम का व्यवहार करते, उस का मार्गदर्शन करते, जरूरत पडने पर उस की आर्थिक सहायता का प्रबन्ध भी करवाते और उस का जीवन स्थिर बनाने के लिये प्रयत्नशील ही रहते।

सहायता पहुँचाने के बारे में पण्डितजी सदा सिद्धहस्त रहते। समाज की विषम परिस्थितियों के कारण कई गरीब, अपाहिज, अनाथ स्त्री–पुरुष पण्डितजी के पास अपना दुखडा रोते हुए आते। पण्डितजी सदा उन के आँसू पोछने के प्रयत्न करते और अपने स्नेही, भक्त, सम्बन्धी श्रावकों द्वारा उन्हें आवश्यक सहायता पहुँचाते रहे।

स्नेहभाव व सेवावृत्ति का तो पण्डितजी महाराज आदर्श थे। जिस को अपना कहा उस के लिये मर मिटने तक की उन की तैयारी होती थी। उन की जन्मदात्री माता पू. सूरजकुँवरजी की वृद्धावस्था एवं अस्वास्थ्य, स्थविर सन्त श्री. सूरज-मलजी महाराज, गुरु-बन्धु श्री चुनीलालजी महाराज आदि की स्थविरावस्था में पूर्णरूपेण सेवा करना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। और इसी सेवावृत्ति के कारण वे करीब १० साल पूना शहर के आसपास विचरते रहे। अपनी जिम्मे-वारी निभाना यह उन के जीवन का लक्ष्य था। उसे अपने जीवनान्त तक वे निभाते रहे।

साहित्य और ज्ञान की उन की भूख इतनी तीव्र थी कि जहाँ कहीं भी

ज्ञान के साधन दिखाई देते, पण्डितजी वहॉ दौडे दौडे जाते व उसे प्राप्त कर के ही रहते । कोई विचारक, कार्यकर्ता, लेखक, नेता पूना में आया तो उस से मुलाकात पाने के लिये वे आकाश–पाताल एक करते । ज्ञानोपासना उन्हों ने अन्तिम क्षण-तक की। रातदिन पठन–मनन–चिन्तन करते रहते थे। ऑखों में मोतिया आ गया । फिर भी किसी न किसी को ला कर अच्छी अच्छी पुस्तकें उन के द्वारा सुनते रहते। पत्रव्यवहार भी जीवन की अन्तिम घडी तक उन का जारी था । खुद लिखने में असमर्थ हुए तो औरों से पत्र लिखवाते रहे।

सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण एवं संचालन तो पाण्डतजी के बायें हाथ का खेल था। जहॉ कहीं भी जाते वहॉ समाज सेवा-धर्म सेवा की संस्थाओं का निर्माण वे कराते। और बाद में भी उनके संचालन की व्यवस्था के बारे में पूछताछ करते, कार्यकर्ताओं का उत्साह बढाने में प्रयत्नशील रहते। पूना में भी पण्डितजी महाराज ने संस्थाओं का निर्माण किया है । एक आदर्श ग्रन्थालय जहॉ विद्वानों, अभ्यासुओं, संशोधकों, छात्रों को सारी सुविधा सुलभता से प्राप्त हो सके, बनाने का पण्डितजी का स्वप्न था। उसका प्रथम कदम उन्हों ने साधना सदन मे जैन ज्ञानालय की स्थापना से उठाया। अपने जीवन के अन्तिम दो वर्ष उन्हो ने इस ज्ञानालय की वृद्धि के लिये सम्पूर्णतया व्यतीत किये। जैन साहित्य सर्व साधारण जनता को सरल एव सुलभ भाषा में प्राप्त हो इस लिये प्रकाशन संस्था का वे निर्माण करना चाहते थे। उस के लिये उन्हों ने खूब प्रयत्न भी किये। किन्तु उनकी वह आकाक्षा उनके जीवन काल में पूरी नहीं हो सकी। दीन-दुखियों के लिये सस्ते दामों में स्वास्थ्य का प्रबन्ध हो इस दृष्टि से वे एक जनरल अस्पताल करवाना चाहते थे। उस के लिये उनके यत्नों का फल भी दृष्टिपथ मे दिखाई दिया, किन्तु कारणवशात् वह ऑखो से ओझल भी हो गया।

उन के जीवन के अन्तिम दिन बडे ही कारुण्यपूर्ण रहे। उनका स्वास्थ्य अचानक बिगड जाने से जब उन्हें अस्पताल ले जाने का पूना संघ ने निर्णय किया, उस समय का दृश्य बडा ही दर्दीला था। सैकडों की सख्या में नरनारी स्थानक मे एकत्रित हुए । हरएक की ऑखों से गगाजमुना बह रही थी। उन के पितृतुल्य सूरजमलजी महाराज के मुँह से अक्षर तक निकल नहीं रहा था।

पण्डितजी महाराज ने शायद् अपना भवि जान लिया हो। जिस स्थानक मे उन्हो ने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण अग निताया, जहाँ रह कर उन्हों ने अनेकों की सहायता की, जहाँ से उन्हो ने श्रमण एव श्रावक संघों की बागडोर सँभाली, उसी स्थानक से बाहर निकलते समय उन का पैर भारी हो रहा था। जैसे तैसे वे नीचे आये। उन्हें भान हुआ अपने प्रेमी समाज का। और भरी आवाज में स्वयंप्रेरणा से उन्हों ने सभी को मगालिक सुना दी। किसी को कल्पना तक नही थी कि यही पण्डितजी महाराज द्वारा दी गई अन्तिम मगालिक होगी अपनों के प्रति मंगल कामना होगी। रविवार दि. १ अक्टूबर १९६७ का वह दिन और उस दिन का स्थानक छोडते समय का वह अति करुण दृश्य लाख प्रयत्न करने पर भी भुलाया नही जाता।

जैसे तैसे पडितजी महाराज को अस्पताल पहुँचाया। उसी दिन तज्ञ डॉक्टरो की ट्रीटमेंट एवं देखभाल शुरू हुई। दिमागी दर्द की आशका होने से एक्स रे टेबिल पर जब पडितजी को लिया गया तब उन को इधर से उधर करते समय असह्य वेदनाये हो रही थी, फिर भी पण्डितजी ने सभी शान्ति के साथ सह लिया। ब्रेन-स्पेशालिस्ट का अभिप्राय रहा कि यह केस Cerebro-Vascular Insufficiency due to diabetes & hypertension था और आगे चल कर उन्हो ने लिखा था -to rule out Brain abscess due to Ch. Otorrhoea दोही दिनों में स्वास्थ्य एकदम गिरता गया। बम्बई से तज्ञ डाक्टर बुलाए गए। किन्तु कोई उपयोग नहीं हुआ। पडितजी की बिमारी की सबंधियों को सूचना देने के लिये भी पूरा अवकाश नहीं मिला। आखिर मानवी प्रयत्नों की असमर्थता का भान होने पर उन्हें 'साधना सदन' (जो कि उन्ही की बुद्धी का, मार्गदर्शन का निर्माण था, उसी में) लाया गया दुपहर ११-१५ बजे। आधे घण्टे में संथारा दिया और शाम को ६-५ को पंडितजी ने देह का त्याग कर दिया। आसो सुदी २ गुरुवार दि. ५-१०-१९६७ का यह दिन पूना के इतिहास में अन्धकारमय सिद्ध हुआ। पंडितजी की गभीर हालत के समाचार जहाँ-जहाँ पहुँचे लोग हजारों की सख्या में विभिन्न वाहनों से उमड पडे। सौ माइल कीपरिधि में रहनेवाले दौडे हुये आये। वे पण्डितजी के जीवन काल अन्तिम दर्शन पा सके। वायुगति से समाचार चारो और फैल गये। जनसागर उमड पडा। पण्डितजी के अन्तिम दर्शन पाने के लिये सारी रात स्त्री-पुरुषों को ताँता लगा रहा। दूसरे दिन

दुपहर दो बजे अन्त्ययात्रा निकलने वाली थी। उस के पहले महाराष्ट्र राज्य के महसूलमंत्री ना बाळासाहब देसाई, पुणे नगर जिला कॉंग्रेस कमिटी के अध्यक्ष श्री रंगराव पाटील के साथ महाराज के अन्त्यदर्शन करने आए। एक अजैन व्यक्ति किन्तु महाराज की विठाई गई मृत मूर्ति के सामने करीब पन्द्रह मिनट तक टकटकी लगाय देख रहे थे। उन्हों ने पूछा, 'देहान्त कब हुआ?' हम ने कहा 'कल शाम के ६ बजे।' वे एकदम बोले, 'करीब २० घण्टे बाद भी मुँह पर इतना तेज विलस रहा है। सचमुच ही यह महान् व्यक्ति होना चाहिए'

शुक्रवार की दुपहर २-१५ बजे साधना सदन से पण्डितजी की अन्त्ययात्रा शुरू हुई। पूना के इतिहास में कभी भी नही उतनी जनता उमड पडी थी करीब ८ से १० हजार का समुदाय अन्त्ययात्रा के जुलूस में शामिल हुआ था नगर के विभिन्न रास्तों से होता हुआ जुलूस लकडीपुल दाहभूमि पर पहुँचा पानशेत बाढ के बाद काफी विस्तारित की हुइ इस स्मशानभूमि पर स्त्री-पुरुषं का सागर फैला हुआ था। महाराज की अर्थी को दहन स्थान पर ले जाना भी मुश्किल हो गया था। जैसे वैसे स्थान पर पहुँच कर चन्दन की चिता में महाराज का दाह संस्कार सपन्न हुआ। दाह भूमि के भाषण देते हुए कार्यकर्ताओं के कण्ठ अवरुद्ध हुए थे। अपनी अश्रू-भिनी भाव भरी श्रद्धाजलियाँ अर्पित कर के मानव-मेदिनी साश्रू नयनों से वापिस लौटी। तार, फोन, अखबार, आकाशवाणी आदि द्वारा देश के कोने कोने में समाचार फैले। और श्रद्धाजलियों का ढेर हो गया। तार और फोन से इस खबर की सत्यता के बारे में करीब आठ दिन पूछ ताछ होती रही।

पंडितजी महाराज तो चले गये। महान् व्यक्ति अपना कर्तव्य अदा कर के विदा हो जाते हैं। किन्तु अपने पिछे छोड जाते हैं, दुख दर्द की छाया। उन के कई निकटस्थ यह धक्का सह नही सके। कोई रोता रहा, कोई बिमार हुआ, तो कोई विचारशून्य हो कर पागल सा वर्ताव करता रहा। समाज का निरपेक्ष पथ-प्रदर्शक, ज्ञानदाता, हितकर्ता एवं रचनात्मक कार्यकर्ता इस दुनिया से कायम के लिये चला गया। उस दिवंगत आत्मा के पवित्र चरणों मे एक ही अर्घ्य है—
—यह भाव भरी अश्रुपूर्ण हृदय में रही हुई सुदीर्घ वेदनायुक्त श्रद्धाजली!

— कनकमल मुनोत

प्रकाशन योजना में दाताओं का
सहयोग एवं पुनर्भेट

दान	पुनर्भेट
५ से ११ रुपए —	प्रकाशित होनेवाली १ पुस्तक
५१ रुपए —	प्रकाशित होनेवाली २ पुस्तकें और प्रकाशित अन्य साहित्यपर १२½% कमिशन
१०१ रुपए —	प्रकाशित होनेवाली ५ पुस्तकें और प्रकाशित अन्य साहित्यपर २५% कमिशन
५०१ रुपए —	प्रकाशित होनेवाली २५ पुस्तकें और प्रकाशित अन्य साहित्यपर ५०% कमिशन
१००१ रुपए —	प्रकाशित होनेवाली ५१ पुस्तके और प्रकाशित अन्य साहित्य की १ प्रति विना मूल्य

* पुस्तकों की प्रभावना करने वालो को ३०% कमिशन

* पुस्तक का पूरा खर्च देने वालो का फोटो एव परिचय पुस्तक में दिया जाएगा और ५१ पुस्तकें विना मूल्य

* ग्रन्थ विक्रेताओं को २५% कमिशन

* बडे ऑर्डरो पर खास सहुलियतें

इस पुस्तक के प्रकाशन में प्राप्त सहायता

२४९० प. मुनिश्री श्रीमलजी महाराज, संथारा निधि
५०१ श्री. धनराजजी पन्नालालजी गुगलिया, मोघेगुडम्
२५१ श्री. हस्तीमलजी पन्नालालजी गुगलिया, अहमदनगर
१५१ श्री. हरकचंदजी किसनदासजी डाकलिया, पूना
१०१ श्री. कचनदेवी जैन, मुबई
१०१ कस्तूरबा महिला मंडल, पूना
५१ सौ. शांताबाई धनराजजी सांकला, पूना
५१ श्री. बाबूलाल हरगोवनदास शाह, पूना
५१ सौ. हीराबाई पुनमचदजी सोनी, पारनेर
५१ सौ. साखर बहन ठक्कर, पूना
५१ श्री. नवलबाई बाबूलालजी भंडारी, पूना
५१ सौ. हिराबाई धनराजजी काकरिया, पूना
५१ सौ. लीलाबाई शांतीलालजी मुथा, इचलकरजी
५१ श्री. लालचदजी खंडूलालजी फुलफगर, पूना
२५ सौ. पोपटबाई झुंबरलालजी रायसोनी, भिगवन
२५ सौ. क्ष, पूना
२५ श्री. समताबहन अमोलखचंद मणियार, पूना
२१ श्री. प्रवीणभाई कॉफीवाला, पूना
२१ सौ. इचरजबाई फूटरमलजी बलदोटा, पूना
२१ सौ. गुलाबबाई मोहनलालजी खिवसरा, पूना
११ सौ. प्यारीबाई फूलचदजी माल्हू, पूना

११ श्री. सीताबाई केशरचंदजी पुंगलिया, पूना
११ सौ. सरूबाई मूळचंदजी रुणवाल, विजापूर
११ सौ. सूरजबहन धीरजभाई रूपानी, पूना
११ सौ. झमकूबाई भगवानदासजी सांकला, पूना
११ सौ अजवाळीबहन वाबूभाई अदानी, पूना
११ सौ. नदूबाई लालचंदजी नवलाखा, पूना
११ सौ. लीलावहन रतीलाल बावीसी, पूना
११ सौ. फुलीबाई कन्हयालालजी डाकलिया, पूना
११ सौ. कचरबाई मिश्रीलालजी सोळंकी, पूना
११ सौ. विमलाबहन हसमुखलाल शाह, पूना
६ सौ. समरथबहन त्रिंबकभाई मेहता, पूना
५ सौ. चंपाबाई फूलचंदजी खिंवसरा, पूना
५ श्री बसंताबाई दगडूरामजी खिंवसरा, पूना
५ सौ. जीवनबाई मिश्रीलालजी रायसोनी, मिगवन
५ सौ. जडावबाई झुंबरलालजी पगारिया, पूना
५ श्री. सूरजमलजी नवलमलजी गुगलिया, आडगाव
५ श्री. त्रिंबकभाई विठ्ठलभाई मेहता, पूना
५ मे. जैन ब्रदर्स, मुंबई
५ सौ. कमलाबाई धनराजजी शिंगवी, पूना
५ सौ गेंदाबाई भिकमदासजी भटेवरा, पूना
५ सौ. सोनीबाई भागचंदजी लुंकड, पूना
५ सौ. राधाबाई देवीचंदजी संचेती, पूना
५ सौ. प्यारीबाई पीरचंदजी लुणावत, पूना
५ सौ. सदाबाई गिरधारीलालजी लुणावत, चऱ्होली

◎ ◎

हमारी प्रकाशन योजना

में दान दे कर

स्व. पण्डितजी महाराज के

प्रति अपनी श्रद्धा भावना

का परिचय दें।